हिन्दी काव्य की शास्त्रीय प्रवृत्तियाँ : भक्तिकाल के सन्दर्भ में

(सन् १३७५ – १७०० तक)

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि के लिए प्रस्तुत]

शोध-प्रबन्ध

✲

निर्देशकः

डॉ० योगेन्द्र प्रताप सिंह

निदेशक

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं सतत् शिक्षा संस्थान

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

✲

प्रस्तुतकर्त्री

विभा गुप्ता

✲

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१६८६

विषयानुक्रमणिका

विषय — पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन — (क - ग)

अध्याय - १ : — १ - ६०

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत निहित शास्त्रीयता
का स्वरूप और प्रवृत्ति -
पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शास्त्रीय चिन्तन का स्वरूप ।
हिन्दी के भक्त कवि और उनकी रचनाएँ (विषय
वस्तु की सीमा) ।
ज्ञानाश्रयी शाखा कवि और काव्य -
नामदेव, कबीरदास, रैदास, धरमदास, गुरुनानक,
दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, रज्जबदास ।
प्रेमाश्रयी शाखा - कवि और काव्य
कुतुबन, मंझन, जायसी, उसमान, शेखनबी,
कासिमशाह, नूर मुहम्मद ।
रामाश्रयी शाखा कवि और काव्य - तुलसीदास
कृष्णभक्ति शाखा कवि और काव्य -
सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास,
नन्ददास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी ।
छन्द विधान, शैली विधान, काव्य-रूपों के सन्दर्भ में
काव्यकृतियों के सन्दर्भ में ।
भक्तिकाव्य और शास्त्रीयता की प्रमुख समस्याएँ
(विषय की आवश्यकता) ।

विषय	पृष्ठ संख्या
अध्याय-२ :	६१- ११४
"हिन्दी के भक्त कवियों की शास्त्रीय मान्यताएँ"	
कबीरदास -- काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
दादूदयाल -- काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
सुन्दरदास -- काव्यप्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
मंझन -- काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
जायसी -- काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
तुलसीदास-- काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
सूरदास -- काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
नन्ददास -- काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा अन्य शास्त्रीय तत्त्व	
निष्कर्ष --	
अध्याय -३ :	११५- १८६
"अप्रस्तुत विधान"	
स्वरूप एवं अर्थ	
अप्रस्तुत विधान एवं काव्य भाषा	
भक्तिकाव्य के अप्रस्तुतों का वर्गीकरण --	

विषय | पृष्ठ संख्या

(१) मानव वर्ग (२) प्राकृतिक वर्ग,(३)पशुपक्षी एवं
जीव वर्ग(४) काल्पनिक वर्ग ।

"संत कवि"

कबीरदास, दादूदयाल, सुन्दरदास

अप्रस्तुत -- मानव वर्ग, प्राकृतिक वर्ग, पशु-पक्षी
एवं जीव वर्ग, काल्पनिक वर्ग ।

प्रस्तुत -- उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सांगरूपक,
अर्थान्तरन्यास, अन्योक्ति,विभावना,
उदाहरण, दृष्टान्त,उल्लेख,अलंकार ।

"सूफी कवि"

जायसी एवं मंझन

अप्रस्तुत - मानव वर्ग, प्राकृतिक वर्ग, पशु-पक्षी एवं
जीव वर्ग, काल्पनिक वर्ग ।

प्रस्तुत - उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा,अतिशयोक्ति,भ्रम,
श्लेष, यमक, अनुप्रास, अलंकार ।

"रामभक्त कवि"

गोस्वामी तुलसीदास -

अप्रस्तुत - मानव वर्ग, प्राकृतिक वर्ग,पशुपक्षी एवं जीव वर्ग,
काल्पनिक वर्ग ।

प्रस्तुत -- उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति,अनुप्रास,
तुल्योपमा, दृष्टान्त अलंकार ।

"कृष्ण काव्य-धारा के कवि"

सूरदास और नन्ददास

अप्रस्तुत -- मानव वर्ग, प्राकृतिक वर्ग, पशुपक्षी एवं जीव
वर्ग, काल्पनिक वर्ग ।

विषय | पृष्ठ संख्या

प्रस्तुत-- उपमा, उत्प्रेक्षा, सांगरूपक,सन्देह, निदर्शना, प्रतीप, दृष्टान्त अलंकार ।

निष्कर्ष -

अध्याय - ४ : १६०- २६६

'काव्यरूप वर्णन रूढ़ियां, कवि समय तथा वर्णक-परिपाटी'

(क)

काव्यरूप

काव्यरूप और उसके लक्षणों से सम्बद्ध परिपाटी

महाकाव्य

काव्य लक्षण एवं भक्तिकाव्य

खण्डकाव्य

तुलसीदास द्वारा रचित खण्ड काव्यों की व्याख्या

एकार्थ काव्य, गीतिकाव्य, मुक्तक काव्य, मंगल काव्य

(ख)

'भक्तिकाव्य एवं वर्णन रूढ़ियाँ'

परम्परा एवं व्याख्या--

(१) लोकप्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ ।

(२) देवी-देवता तथा अन्य अलौकिक प्राणियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ ।

(३) पशु-पक्षी से सम्बद्ध रूढ़ियाँ ।

(४) भूत-प्रेत, राक्षस तथा अन्य अमानवीय शक्तियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ ।

(५) कवि-कल्पित तथा लोकप्रिय कथानक रूढ़ियाँ ।

(६) स्फुट रूढ़ियाँ ।

(ग)

'कवि समय एवं भक्तिकाव्य'

अर्थ एवं परम्परा ।

कवि समय के प्रकार ।

(१) देवों से सम्बन्धित कवि समय ।

विषय | पृष्ठ संख्या

(२) दानवों से सम्बन्धित कवि समय ।

(३) मनुष्यों से सम्बन्धित कवि समय ।

(४) पदार्थ वर्ग से सम्बन्धित कवि समय ।

(५) वनस्पति वर्ग से सम्बन्धित कवि समय ।

(६) वर्ण-विषय कवि समय ।

(७) संख्या-विषयक कवि समय ।

(८) आकाश वर्ग से सम्बन्धित कविसमय ।

(९) रत्न वर्ग से सम्बन्धित कविसमय ।

(ग)

"वर्णक एवं भक्तिकाव्य"

वर्णनात्मक विवेचन ।

(१) व्यक्तिगत सम्बन्धित वर्णक ।

(२) वस्तु वर्णन सम्बन्धित वर्णक ।

(३) कार्य व्यापार सम्बन्धित वर्णक ।

(४) युद्ध सम्बन्धी वर्णक ।

(५) रूप वर्णन सम्बन्धित वर्णक ।

(६) विविध वर्णन सम्बन्धित वर्णक ।

अलंकार वर्णन की परिपाटी

रस वर्णन की परिपाटी

छन्द एवं काव्य-शैली वर्णन की परिपाटी

काव्य गुणों की परिपाटी

शब्द शक्ति की परिपाटी

निष्कर्ष ।

विषय	पृष्ठ संख्या
अध्याय - ५ :	३३७- ४१०
"रस सिद्धान्त"	
रस का शास्त्रीय स्वरूप ।	
भक्तिरस का शास्त्रीय स्वरूप ।	
रस संख्या ।	
भक्तिरस एवं काव्य रस ।	
भक्तिकाव्य में अभिव्यक्त - भक्तिरस एवं काव्यरस ।	
गोस्वामी तुलसीदास -- भक्तिरस एवं काव्यरस ।	
सूरदास एवं नन्ददास - भक्तिरस एवं काव्यरस ।	
कबीरदास -- भक्तिरस एवं काव्यरस ।	
पद्मावत - आध्यात्मिक भावव्यंजना (समासोक्ति पद्धति के कारण) एवं काव्यरस	
निष्कर्ष	
अध्याय- ६ :	
"काव्यभाषा"	४११- ४५८
काव्यार्थ का स्वरूप और सम्प्रेषित करने के माध्यम ।	
तुलसीदास-- सादृश्य विधान, कल्पना विधान, रूपक-विधान, प्रतीक विधान ।	
सूरदास एवं नन्ददास -- सादृश्य विधान, कल्पना विधान, रूपक विधान, प्रतीक विधान ।	

विषय	पृष्ठ संख्या
जायसी एवं मंझन -- सादृश्य विधान, कल्पना विधान, रूपक विधान, प्रतीक विधान।	
कबीरदास -- सादृश्य विधान, कल्पना विधान, रूपक विधान, प्रतीक विधान ।	
उपसंहार	४५५- ४६२
सहायक ग्रन्थ सूची	४६३- ४८०

-

प्राक्कथन

मध्यकालीन भक्त कवि मूलत: साधक और भक्त थे । कविता कर्म को उन्होंने केवल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था । भक्तिकालीन काव्य की समीक्षा सामान्यत: समाज, संस्कृति, मनोविज्ञान और अभिव्यंजना शिल्प के उपादानों के आधार पर होती है । प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी काव्य की शास्त्रीय समीक्षाओं का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया गया है । भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं में समाविष्ट काव्यविषयक मन्तव्यों का अपना एक विशिष्ट स्वरूप है । काव्य-रचना में प्रवृत्त होने के कारण इन कवियों की काव्य के सम्बन्ध में कुछ धारणाएं अवश्य थीं, जिन्हें अपनी रचनाओं में अनायास रूप से व्यक्त किया है ।

संत कवियों के विषय में अवश्य कुछ विद्वानों ने आपत्ति उठायी है और उन्हें कवि मानने तक से इन्कार कर दिया है क्योंकि इन कवियों की रचनाओं में उन्हें काव्य तत्वों के दर्शन नहीं होते हैं । परन्तु धारणाएँ सर्वथा भ्रान्त सिद्ध हुई हैं । सन्त भी कवि हैं और उनकी रचनाओं में काव्य तत्व के दर्शन भी हुए हैं । इन कवियों ने अपनी वाणी और भावों के माध्यम से अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है ।

मुख्यत: भक्तिकालीन प्रत्येक कवि सत्य और सौन्दर्य को एक साथ लेकर चले हैं । इन कवियों ने धर्म, दर्शन, नीति, समाज तथा साहित्य को नवीन दृष्टि प्रदान की है । सरलता, स्पष्टता, निर्भीकता तथा सहृदयता के कारण भक्तिकालीन कवि जनसाधारण में सदैव लोकप्रिय रहे । इनमें तुलसीदास का स्थान अग्रगण्य रहा है । शोध-प्रबन्ध में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि भक्त कवि संस्कृत की बँधी-बँधायी काव्यशास्त्रीय मनोवृत्तियों के समर्थक नहीं थे । संस्कृत के आरम्भिक आचार्यों ने इन रचनाओं को कलात्मक काव्य की संज्ञा न देकर इसे अकाव्य घोषित किया है । वैष्णव भक्ति काव्य के आरम्भ में भक्त आचार्यों ने

भक्ति काव्य के मानक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें श्री मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी, कवि कर्णपूर गोस्वामी, जीवगोस्वामी आदि का नाम आता है। जैसा कि विद्वानों ने स्वीकार किया है कि भक्ति धर्म की रसात्मक अभिव्यक्ति न होकर, ईश्वर की रसात्मक अनुभूति है। ईश्वर विषय इसी रसात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति एवं इसी अभिव्यक्ति को भक्ति काव्य की संज्ञा दी गई है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर इन आचार्यों ने भक्तिकाव्य के मानक ग्रन्थों के प्रति सचेष्टता दिखायी है। फलतः उनके सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन एवं भक्ति काव्य में निहित रस-विषयक मान्यताओं का परस्पर सम्बन्ध निरूपण इस शोध कार्य में विवेचित है। भक्तिरस से सम्बन्धित अध्याय में इस परम्परा पर तो विचार किया ही गया है साथ ही साथ भक्तिकाव्य में भक्तिकालीन कवियों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति को भी अभिव्यक्त किया गया है। भक्तिकाव्य से सम्बन्धित एक अध्याय काव्यरूपों एवं एक अप्रस्तुत विधान से सम्बद्ध है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में जिन सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है भक्ति काव्य में उनको ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। भक्तिकाव्य उन्हीं काव्यरूपों को स्वीकृत करता है जो उसे अपनी परम्परा में प्राप्त है। फलतः सिद्धान्त नियोजन में भक्तिकाव्य की प्रकृति एवं उसकी वास्तविक परम्परा को ही आधार माना जा सकता है। भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं का अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से अध्ययन में यह देखने का प्रयास किया गया है कि इन कवियों में अलंकार किस रूप में प्रयुक्त किए गए हैं और इनका स्वरूप क्या है।

भक्तिकालीन कवियों ने अपने काव्य को अप्रस्तुतों के माध्यम से और भी अधिक सरस, प्रभावपूर्ण एवं आकर्षक बना दिया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में छः अध्याय हैं।

इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने के पीछे पूरी की पूरी दृष्टि यह रही है कि शास्त्रीयता का आधार केवल पाश्चात्य सिद्धान्तों तक ही न केन्द्रित रहे। भारतीय परिस्थिति में संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत जिस शास्त्रीय प्रवृत्ति का विकास हुआ है उसने हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग तक रचना की प्रेरणा दी है। हिन्दी

साहित्य का भक्ति युग मूलतः अपने कलात्मक चेतन की दृष्टि से इसी विशाल शास्त्रीय चेतना से प्रभावित रहा है । यह सत्य है कि हिन्दी भक्तिकाव्य में लोकात्मक प्रवृत्ति हमें बहुलता के साथ दिखायी पड़ती है फिर भी इस काव्य खण्ड के कवियों की कलात्मक सजगता को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता । इस कलात्मक दृष्टि की व्याख्या के लिए संस्कृत काव्य-शास्त्र के शास्त्रीय चेतन को साक्ष्य के रूप में स्वीकार करना होगा । इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से इस स्थिति पर स्पष्टता पूर्वक विचार करने की चेष्टा की गई है ।

शोध प्रबन्ध का यह विषय मुझे डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह जी ने दिया था । मैं विभागीय गुरुजनों में डा० राजेन्द्र कुमार वर्मा के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ । उनसे प्राप्त सत् परामर्शों का प्रयोग मैंने यथास्थान अपने शोध-प्रबन्ध में किया है । अप्रस्तुत विधान विषय पर डा० बेनी बहादुर सिंह के शोध-प्रबन्ध से मुझे जो सहायता मिली है मैं उसके प्रति उपकृत हूँ ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से भी मैंने बहुत अधिक सहायता प्राप्त की है । साथ ही 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के संग्रहालय के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ । यहाँ मुझे अपने विषय से अनुकूल सामग्री प्राप्त करने तथा मूल ग्रन्थों के साथ ही साथ कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों की मूल प्रतियाँ को भी देखने का अवसर प्राप्त हुआ है । 'केन्द्रीय राज्य पुस्तकालय', 'पब्लिक लाइब्रेरी', के साथ-साथ मैं 'भारती भवन लाइब्रेरी' के प्रति भी आभारी हूँ । उन विद्वान लेखकों के प्रति भी कृतज्ञता-प्रकाशन आवश्यक है जिनकी पुस्तकों से मैं लाभान्वित हुई हूँ ।

मैं उन ज्ञात एवं अज्ञात शुभेच्छुओं के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने किसी भी रूप में मेरी सहायता करके मेरे कार्य की समाप्ति में सहयोग प्रदान किया है ।

विभा.

(विभा गुप्ता)

शोध कर्त्री

दिनाँक :
१२.१२.८६.

प्रथम अध्याय

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत निहित शास्त्रीयता का स्वरूप और प्रवृत्ति

संस्कृत काव्य-शास्त्रीय चिन्तन अत्यन्त प्राचीन है - इस विषय में विद्वानों में मतभेद नहीं है। भारतीय मनीषा के साथ उत्पन्न अनेक शास्त्रों के साथ काव्य के लिए जिस शास्त्र की व्यवस्था की गई है उसे ही काव्य-शास्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में इसका नाम साहित्य विद्या दिया है। अन्य विद्याओं एवं उपविद्याओं की अपेक्षा उन्होंने साहित्य विद्या को अत्यन्त व्यवस्थित रूप में स्पष्ट किया है।

राजशेखर ने शास्त्र को दो प्रकार का माना है —
अपौरुषेय और पौरुषेय -

"तच्च द्विधा - अपौरुषेयं पौरुषेयं च। अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणे विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दा विनियोगग्रन्थो ब्राह्मणम्।"[१]

अपौरुषेय शास्त्र को राजशेखर ने श्रुति या वेद कहा है जिसे हम परम्परा से सुनते आ रहे हैं। वेद के भी उन्होंने दो भाग बताएँ हैं — मन्त्र भाग और ब्राह्मण-भाग। यज्ञ सम्बन्धी क्रिया-कलाप को बताने वाले भाग को उन्होंने मन्त्र कहा है तथा इन मन्त्रों की स्तुति, निन्दा, निर्वचन, विधि निषेध एवं क्रिया में विनियोग आदि करने वाला भाग ब्राह्मण कहलाता है। इसके साथ ही साथ राजशेखर ने वेद के छः अंगों का भी वर्णन किया है —

(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त,
(५) छन्द, (६) ज्योतिष।

इसके साथ-साथ उन्होंने अलंकार शास्त्र को सातवां वेदांग माना है।

१- राजशेखर, काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृ० ६

अलंकार शास्त्र के बिना उन्होंने वेदार्थ के सम्यक् ज्ञान को असम्भव माना है, क्योंकि यह वेद के अर्थ ज्ञान का साधन है।

"शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचित:, ज्योतिषं च षडङ्गानि" इत्याचार्या:। "उपकारकत्वादलङ्कार: सप्तममङ्गम्" इति यायावरीय:। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगति:।[1]

इस प्रकार कालान्तर में अलंकार का महत्व अधिक बढ़ जाने के कारण वेद के सप्तम अंग के रूप में अलंकार की शास्त्र रूप में कल्पना की गई। उद्भव काल में अलंकार का विवेचन व्याकरण की सहायता से परन्तु निरुक्त के अन्तर्गत किया गया था। वैज्ञानिक अध्येताओं ने काव्य के प्रथम लक्षित प्रभाविक धर्म को अलंकार की संज्ञा दी क्योंकि धर्म का फल काव्य का अलंकरण था। आरम्भिक ग्रन्थों में "अलंकार पद" का प्रयोग इस बात का सूचक है कि समस्त काव्य-शास्त्र अलंकार नाम से प्रचलित रह चुका है। राजशेखर ने साहित्य को पाँचवी विद्या माना है जो चारों विद्याओं "आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति" का सार है। धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति इन विद्याओं का मुख्य फल है, राजशेखर ने इस विद्या की व्याख्या करते हुए कहा है —

"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। उपविद्यास्तु चतु: षष्टि:। ताश्च कला इति विदग्धवाद:। स आजीव: काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्याम:।"[2]

शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाली विद्या साहित्य विद्या कहलाती है। इस विद्या की चौसठ उपविद्याएँ हैं, जिन्हें विद्वानों ने कला नाम से अभिहित किया है तथा इन उपविद्याओं और कलाओं को काव्य का जीवन माना

१- राजशेखर, काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृ० ६

२- राजशेखर, काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृ० १२

है । आपके इन मतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय वाङ्मय में अपौरुषेय शास्त्रों एवं विद्याओं की प्रतिष्ठा हो जाने के पश्चात् क्रमशः अलंकार-शास्त्र, काव्यविद्या तथा साहित्य विद्या का विकास हुआ । सर्वप्रथम यह अलंकार शास्त्र के रूप में प्रचलित हुआ, पुनः प्रयोग के पश्चात् काव्यविद्या के रूप में जाना गया और अन्त में सम्पूर्ण विकास कर लेने के पश्चात् उसे 'साहित्य विद्या' की उपाधि मिली ।

भारतीय चिन्तन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है विषय से सम्बद्ध अन्तिम सत्य को पकड़ना तथा उसे प्रतिष्ठित करना । ऐसा हर क्षेत्र में देखने को मिला है । चाहे वह व्याकरण शास्त्र का क्षेत्र हो या निरुक्त, ज्योतिष शास्त्र का या छन्द शास्त्र के आचार्यों द्वारा निष्कर्षों के अन्तिम बिन्दु तक पहुंचने की चेष्टा की गई है । काव्य-शास्त्रीय चिन्तन में भी इसी प्रवृत्ति का अनुगमन किया गया है । काव्य-शास्त्रीय चिन्तन के विविध सम्प्रदायों में हम इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं :—

उदाहरण के लिए यदि हम भरत के नाट्य शास्त्र के इस सूत्र को लें - "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः" । इस सूत्र में कहीं भी हेर-फेर किए बिना इसको इसी रूप में आज भी प्रामाणिक माना जाता है । भरत ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है कि - "नाट्य-जगत् में विभावादि का यह संयोग रस का जनक उसी प्रकार है, जिस प्रकार लौकिक संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों, मिष्टान्नों और रासायनिक द्रव्यों का पारस्परिक संयोग रसोत्पादक षड्रसास्वाद को उत्पन्न कर देता है । स्थायिभावों में यह रस तभी सम्भव है जब 'नानाभावाभिनय' से प्रकट किए गए हों और वाचिक आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से संयुक्त हों । भरत के इस मन्तव्य का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत का रस विषयक दृष्टिकोण वस्तुपरक है, वे रस को आस्वाद्य-तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं । भरत के 'रस' स्वरूप में अलौकिकता की गन्ध नहीं है, वह लौकिक धरातल पर ही दृष्टव्य है । इस कथन में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का जो रूप भरत को अभीष्ट है, वही आगामी

आचार्यों को भी मान्य है। इस सूत्र की व्यवस्था में कहीं भी परिवर्तन इन आचार्यों ने नहीं किया है। भारतीय मनीषा के अन्तर्गत शास्त्र के सत्य का दर्शन करके उसे प्रतिष्ठित करने का भाव यहां भी तदवत् वर्तमान है।

रस के पश्चात् हम अलंकार सिद्धान्त को लेते हैं यहां भी आचार्यों द्वारा निष्कर्षों के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर है। चाहे वह आचार्य भामह हों या दण्डी, वामन हों या रुय्यक। अलंकारों को काव्य में आवश्यक मानने वाले आचार्यों का एक बड़ा समुदाय था, इस समुदाय में भी चिन्तन में निहित मूल तत्त्व को पकड़ने की इच्छा ही सर्वप्रथम थी। आचार्य भामह ने अलंकारों की परिभाषाएँ वक्रतानुक्रम में दी हैं, दण्डिन् ने स्वाभावोक्ति क्रम में अर्थात् सरलता को अलंकार का मूल तत्त्व माना है और वामन सादृश्य को अलंकार का मूल हेतु मानते हैं। यह सब चिन्तक इस तत्त्व को ही प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील रहे कि अन्तिम सत्य क्या है। इसके लिए उन्होंने अलंकारों की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं। आचार्य वामन ने अर्थालंकारों का मूल तत्त्व उपमालंकार को माना है। प्राचीनों के मतानुसार अलंकार ही काव्य के प्रधान तत्त्व हैं। भामह अभिधावादी आचार्य माने गए हैं। इनकी अभिधा में `लक्षणा` तक संकेत अवश्य मिलते हैं परन्तु इसके आगे वह नहीं बढ़े हैं अर्थात् व्यंजना की इन्होंने कोई व्याख्या नहीं की है। अभिधा-लक्षणा संपन्न `शब्दार्थ` ही इन अलंकारवादियों का काव्य-शरीर है। अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य में जिस शब्द और अर्थ का समावेश किया है वह अभिधा और लक्षणा से ही जुड़ा हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र की महत्तम उपलब्धि `शब्द` तथा `अर्थ` की बहुविध पकड़ और उसकी गम्भीरतम मीमांसा है। भामह के अनुसार अलंकार की रचना तभी सम्भव है जब शब्दार्थात्मक उक्ति वक्रतासंपन्न हो। शब्दार्थ की लोकोत्तर रूप से अवस्थिति ही वक्रता है। उन्होंने अर्थानुयायी शब्द सौन्दर्य को काव्य का आधार माना तथा परम्परा से चले आ रहे गुण, पाक, शैया, लक्षण, रीति को अस्वीकार कर दिया। वक्रता का अर्थ है ऐसी क्षमता जो काव्य में अर्थ चारुता तथा कलात्मक प्रकाश को उद्भूत करती है। दण्डी की धारणा है कि अलंकार काव्य के `शोभाकारक धर्म` हैं

अन्य कुछ भी नहीं । दण्डी ने अलंकारों को दो प्रकार का माना है-साधारण और असाधारण । इस प्रकार उन्होंने विषयगत सौन्दर्य को सामान्य अलंकार के अन्तर्गत माना है और शैलीगत सौन्दर्य को विशेष अलंकार के अन्तर्गत । काव्य के लिए अनिवार्य में आपने माधुर्य, दीप्ति, भाषा का लावण्य, चित्त का सौन्दर्य इत्यादि तत्वों पर बल दिया है । दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती आचार्य बताया गया है और भामह को परवर्ती । वामन ने भामह की भांति अलंकार शब्द का प्रयोग `सौन्दर्य` तथा `सौन्दर्यसाधन` दोनों के लिए किया है परन्तु अन्य विचारों में वह भामह से अलग भी है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का मूल प्रतिपादन काव्य के शब्दार्थ नियोजन से रहा है । यह इसकी एक महत्वपूर्ण दृष्टि है । इस शब्दार्थवाद की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि हम संस्कृत काव्यशास्त्रीय विचारधारा में शब्द और अर्थ पर केन्द्रित देखते हैं । संस्कृत काव्यशास्त्रीय विचारधारा अपने आरम्भिक रूप में शब्दार्थ से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित है । अलंकारवादी आचार्य भामह, वामन, रुद्रट आदि ने इस प्रवृत्ति का पूर्णत: समर्थन किया है । वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक भी इसके समर्थक हैं । भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकार का अपना महत्वपूर्ण स्थान है । काव्य को सुरक्षित करने वाले उपादान के रूप में अलंकारों का विवेचन तो अत्यन्त प्राचीनकाल से होता ही आ रहा है, परन्तु आगे चलकर कुछ आचार्यों ने इसे काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है । वामन ने `सौन्दर्यमलंकार` कहकर अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची माना है । भामह से पूर्व अलंकार शब्द काव्य के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों को अलंकृत करने वाले सभी उपादानों के लिए प्रयुक्त होता था । भामह की भांति वामन ने भी सुन्दर काव्य के लिए प्रीति उद्देश्य को अनिवार्य बताया है । इस प्रीतिजन्य आनन्द से युक्त काव्य के लिए सालंकारता, दोषभाव तथा निर्मल पदावली, उसके बाह्य रचना स्वरूप के समर्थक हैं । आरम्भिक आचार्यों के इस शब्दार्थ विवेचन ने यह स्पष्ट किया कि शब्दार्थ ही काव्य है । भामह की परिभाषा इस कथन को सार्थक करती है । भामह ने काव्य को शब्द और अर्थ सहित बताया है । दण्डी ने काव्यादर्श

के अनुसार अव्यवच्छिन्न पदावली गुण तथा अलंकार से युक्त होना काव्य का प्रमुख लक्षण बताया है। रुद्रट और कुन्तक ने भी शब्दार्थ की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। इस प्रकार यह वर्णित है कि काव्य शब्दार्थ से ही अलंकृत होता है और इस अलंकार का मूल कारण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है जैसे की वामन ने काव्यालंकार का अर्थ सौन्दर्य से ग्रहण किया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य की मूल व्यंजना अलंकार मूलक है क्योंकि काव्य और अलंकार दोनों ही शब्द और अर्थ हैं। काव्य का प्रतिपादन शब्दार्थ से सम्बन्धित है और यही शब्दार्थ अलंकार का मूल आधार है। इन दोनों दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन की प्रथम विशेषता है सिद्धान्त के मूल तक पहुंचने तथा उसके अन्तिम सत्य को पकड़ने की।

भारतीय काव्यशास्त्र के विवेचन का यही दृष्टि हम रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, और औचित्य आदि सम्प्रदाय में भी देखते हैं। सामान्यतः काव्यशास्त्री चिन्तन के विविध सम्प्रदायों ने इस प्रवृत्ति का कहीं भी उल्लंघन नहीं किया है। "हमारे ऋषियों ने सृष्टि की आदि से लेकर कल्पना की। उसका रूप पहचाना। आज सभी यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में केवल नाद था, ध्वनि थी। ध्वनि से शब्द बने जिसे पाणिनि ने अपने व्याकरण में "अ इ उ ण" आदि के रूप में पिरो दिया। इसी नाद को हमारे मुनियों ने सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक सर्वव्याप्त माना। पाणिनि के व्याकरणीय चिन्तन के बाद विद्वानों ने फिर उस पर नए ढंग से विचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत की।[१] उद्भव काल में अलंकार का विवेचन व्याकरण की सहायता से परन्तु निरुक्त के अन्तर्गत होता था। कालान्तर में अलंकार का महत्व बढ़ जाने से वेद के सप्तम अंग के रूप में अलंकार की शास्त्र रूप में कल्पना की गई। अलंकार-विवेचन की यह दृष्टि काव्य के सौन्दर्य-अन्वेषण से सम्बन्धित है। आगे चलकर वामन आदि आचार्यों ने सौन्दर्य को ही अलंकार मानने का तर्क रखा। मूलतः यह भी एक प्रकार की शास्त्रीय

१- परिपूर्णानन्द वर्मा, प्रतीक शास्त्र, पृ० १६

चेतना है, जो रचना के भाषिक तथा अर्थगत सौन्दर्य को सर्वोपरि मानकर चलती है। पाश्चात्य चिन्तकों की भाँति यहाँ भी यही दृष्टि मिलती है कि काव्य में सर्वोच्च एवं सर्वथा प्रमुख सम्पन्न की प्रतिष्ठा कराई जानी चाहिए। यह दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन की मूल चेतना से सम्बद्ध है। यही आभिजात्य चिन्तन का मूलाधार है। इन विद्वानों ने काव्य को लक्षित अलंकार की संज्ञा दी क्योंकि इनके अनुसार धर्म का फल काव्य का अलंकरण है। विद्वानों ने अलंकारों को शब्द एवं अर्थ के आधार पर शब्दालंकार एवं अर्थालंकार वर्गों में विभक्त किया। राजशेखर के अनुसार अलंकार कवि दो प्रकार के होते हैं -- शब्दालंकार कवि तथा अर्थालंकार कवि। एक ओर तो अलंकारों के भेद शब्द-अर्थ के आधार पर किए गए दूसरी ओर अलंकारों का वर्गीकरण भी शब्दालंकार एवं अर्थालंकार में किया जा रहा था। अत: काव्य सम्बन्धी समस्त विशेषताओं का वर्णन शब्द एवं अर्थ के शीर्षकों में करना उचित भी है। इस प्रकार इस अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य के क्षेत्रों में विभक्त काव्य चिन्तन मूलत: एक ही धुरी पर घूमता प्रतीत हुआ है और वह है अतिशय की धुरी, अलंकृतित्व की धुरी। यह अलंकृतित्व एक सामान्य और व्यापक तत्त्व है, काव्यात्मा का। वक्रोक्तिकार ने वक्रोक्ति को काव्य का अर्थात् शब्द और अर्थ का अलंकार कहा है। अलंकार रचना तभी सम्भव है जब शब्दार्थात्मक उक्ति वक्रतासम्पन्न हो। वक्रता की व्याख्या साहित्य में वैदग्ध्य अथवा कवि-कौशल की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित है। हिन्दी साहित्य में वक्रता सम्बन्धी चिन्तन यत्र-तत्र दृष्टव्य है तथा अपने व्यापक रूप में फैला हुआ है। भक्तियुग के निर्गुण कवियों में भी वक्रता का बल प्राप्त था। प्रतिभाजन्य विदग्धता के दर्शन कबीर में प्राप्त होते हैं। रहस्यवाद की सांकेतिक शैली तथा प्रतीक विधान में भी वक्रता के दर्शन होते हैं। प्रेममार्गीय कवि में जायसी तथा अन्य कवियों के काव्य में वस्तु विधान की समासोक्ति में बांधने वाली इनकी शैली प्रबन्ध-वक्रता का ही उदाहरण है। सगुण भक्ति काव्य यद्यपि पूर्णता

१- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - वामन - सौन्दर्यं अलंकार:

रसवादी काव्य रहा, भाव समृद्ध होते हुए भी कृष्ण की क्रीड़ाओं ने कवियों के लिए वक्रता-विलास का अपार क्षेत्र प्रस्तुत किया । सूर ने शब्द और अर्थ की असंख्य वक्रताओं के साथ आत्म-विभोर होकर इस लीला का वर्णन किया है । तुलसी की प्रवृत्ति मर्यादित थी फिर भी उन्होंने वक्रता की उपेक्षा नहीं की उसका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में वर्णन मिलता है ।

भारतीय काव्यशास्त्र की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है कि उसमें रचनाकार के वैयक्तिकता की उपेक्षा मिलती है । रचनाकार अपने व्यक्तित्व को नगण्य दर्शाते हुए अपनी रचना की प्रमाणिकता, विश्वसनीयता तथा उसके चिन्तन को उच्च ठहराते हुए उसे प्रतिष्ठित करता है । अपने काव्य को वह किसी उच्च कुलीन नायक या उसके दिव्य तत्व से जोड़ने का प्रयास करता है ।

भारतीय शास्त्रीयता की प्रमुख प्रवृत्ति आनन्द या रस को सर्वोच्च रूप में स्थापित करने की दृष्टि से जुड़ी है । आचार्य विश्वनाथ ने रस को अखण्ड, स्वप्रकाश-स्वरूप आनन्दरूप, चिन्मय, ब्रह्मास्वादसहोदर एवं लोकोत्तरचमत्कारप्राण बताया है । आचार्य विश्वनाथ की इस रस विषयक मान्यता में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता समाहार है । इस मान्यता में परिगणित रस की आनन्द-रूपता सर्वाधिक विवाद का विषय भी बनी । भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने रस को अनिवार्यत: आनन्दरूप नहीं माना । एक तरफ रसवादी आचार्य यह मानते हैं कि रस ब्रह्मास्वाद-सहोदर, अनिवार्यत: आनन्दरूप एवं अलौकिक है, वहां रस-विरोधियों का विचार है कि रस ब्रह्मास्वाद-सहोदर, अनिवार्यत: आनन्दरूप तथा अलौकिक नहीं है ।

रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है, ब्रह्मानंद नहीं । रस स्वप्न-प्रकाशस्वरूप है, इसका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक स्वयं की रसानुभूति करता है उसे अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं होती । रस पाठक के हृदय में स्वयं प्रकाशित हो जाता है अत: वह स्वप्रकाश स्वरूप है । 'रस अनिवार्यत: आनन्दरूप है, यह सिद्ध हो जाने पर इस पर विचार करना आवश्यक है कि इस आनन्द का

स्वरूप क्या है ? आनन्द के (भौतिक- ऐन्द्रिय, भावात्मक, बौद्धिक, आत्मिक आदि) अनेक स्तर हैं । वस्तुत: काव्यानन्द लोकबाह्य एवं अतीन्द्रिय अनुभूति नहीं है, यह निश्चित है । वह ऐन्द्रिय- मानसिक अनुभूति है । काव्यानन्द की स्थिति लौकिक आनन्द और आध्यात्मिक आनन्द की मध्यवर्तिनी है ।[1]

भक्तिकाव्य की परम्परा में रस का सम्बन्ध शुद्ध काव्य से ही न रह कर उसकी धार्मिक परम्परा से भी है । धार्मिक परम्परा से सम्बद्ध रसात्मक प्रवृत्ति को भक्तिरस के नाम से सम्बोधित किया जाता है । भक्त कवियों ने भी रस का अर्थ आनन्द से ही लिया है । उनके अनुसार लौकिक जगत से प्राप्त अनुभूति, रस के स्तर पर आध्यात्मिकता से पुष्ट होकर आनन्द की उपलब्धि करती है । इस प्रकार भक्तिकाव्य पूर्णरूपेण आनन्द का समर्थक है । इस आनन्द के मूलाधार श्रीकृष्ण एवं राम हैं - इस प्रकार भक्ति काव्य पूर्णरूपेण रस का समर्थन करता है । आचार्य दण्डी काव्य में माधुर्य के आस्वादन को रस कहते हैं इस रस का अर्थ उन्होंने यहां आनन्दित होने से ही लिया है । परन्तु आस्वादन को उन्होंने रस-प्रक्रिया से सम्बन्धित नहीं किया है । आस्वाद के सम्बन्ध में उन्होंने वामन एवं भामह को दुहराते हुए कहा है —

'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीति कीर्ति हेतुत्वात् ।'

यहाँ उन्होंने प्रीति (आनन्द) को काव्य का परिणाम बताया है । आचार्य भामह एवं वामन जिसे 'प्रीति' शब्द से स्पष्ट करना चाहते हैं उसके लिए आचार्य कुन्तक ने 'तद्विदाह्लादकारित्व' शब्द का प्रयोग किया है । अत: यह कहा जा सकता है कि रस मान्यता की व्याप्ति के पूर्व काव्य की निष्पत्ति के लिए काव्यशास्त्रियों की दृष्टि 'शब्दार्थ रचना' के कौतुकपूर्ण व्यंजनाओं तक ही सीमित थी । आगे चलकर अलंकारवादियों ने इसके लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया ।

१- डा० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० ११८

प्रारम्भिक आचार्यों ने रस चेतना के इन दोनों तत्वों पर विशेष बल दिया है, प्रथम सहृदय (पाठक) एवं द्वितीय अहेतुक फल निष्पत्ति । आचार्य भामह, दण्डी, वामन आदि जब लोक शब्दार्थ से काव्य-सम्मत शब्दार्थ की पृथकता की चर्चा करते हैं तब वह अप्रत्यक्ष रूप में उससे निष्पन्न होने वाले `अहेतुक निष्पन्न आनन्द` की ओर संकेत करते हैं । आचार्य भरत ने रसभोक्ता के लिए `सुमनस` शब्द का प्रयोग किया । इस प्रकार शब्दार्थ के आनन्द के लिए `आस्वाद` और उसको ग्रहण करने वाले पाठक के लिए `सहृदय` एवं उसके प्रभाव के लिए रंजक आदि शब्दों का प्रयोग किया गया । आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के अन्तर्गत सर्वप्रथम सहृदय शब्द का वर्णन किया । आगे चलकर अन्य आचार्यों ने भी इस सहृदय शब्द को मान्य ठहराया । इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्यों ने अपने पूर्ण विवेक के फलस्वरूप काव्य के मूल तत्व को पकड़ा और उसे प्रतिष्ठित किया ।

भारतीय काव्यशास्त्र ने मूलत: काव्य के वस्तुनिष्ठ विवेचन को प्रस्तुत किया है । शब्दार्थ और उसके परिणाम स्वरूप आनन्द या रस का गम्भीर विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र की उपलब्धि है । रस का विवेचन यहां शब्द और अर्थ रचना की गहनतम प्रवृत्तियों को उद्घाटित करने के प्रयास में हुआ है । इस शास्त्र की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानव मनोविज्ञान के आधार पर, विभाव, अनुभाव, संचारि एवं स्थायी भावों की सूक्ष्म दशाओं का शास्त्रबद्ध निरूपण है । काव्य-रचना मात्र कवि का वस्तुनिष्ठ प्रयास नहीं है वरन् वह शब्द रचना के माध्यम से कवि की रचनात्मक आत्मिकता की पहचान है । संक्षेप में भारतीय काव्यशास्त्र के आधार पर यदि शास्त्रीयता के बिन्दुओं को स्पष्ट किया जाए तो वे ये हैं :—

१- शब्दार्थ रचना को प्रारम्भिक उपादान के रूप में स्वीकृति ।

२- रचना के मूल तत्व को पकड़ने तथा विश्लेषित करने का दृष्टिकोण ।

३- प्रतिपादन का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण ।

४- रस को सर्वोपरि महत्व देकर स्थापित करने का दृष्टिकोण ।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शास्त्रीय चिन्तन का स्वरूप

पुरातन काल में यूनानियों में यह धारणा बहुत प्रचलित थी कि कवि देवाज्ञा से प्रेरित होता है और उसी के कारण उसमें एक (कवित्वपूर्ण विक्षेप) की भावना जन्म लेती है पर इस धारणा को सर्वप्रथम निश्चित शब्दावली में व्यक्त करने का श्रेय प्लेटो को है।[१]

सभी अच्छे कवि- महाकाव्यकार हों या गीतिकाव्यकार अपने श्रेष्ठ-काव्य की रचना कला के द्वारा नहीं करते बल्कि इसलिए करते हैं कि वे प्रेरित और आविष्ट होते हैं। वह (कवि) तब तक कोई उद्भावनाएं नहीं कर सकता जब तक वह आवेग प्रेरित और चेतना विहीन न हो। जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह सर्वथा अशक्त होता है, और उसकी वाणी प्रस्फुटित नहीं होती।"[२]

कवि के काव्य और पाठक की सहृदयता के सम्बन्ध में आरिस्टाटिल के टीकाकार बूचर ने भी लिखा है कि-- प्रत्येक सुकुमार कला एक ऐसे दृष्टा और श्रोता से आत्म-निवेदन करती है जो परिष्कृत रुचि-सम्पन्न और शिक्षित समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप है। वह उस कला का सर्वेसर्वा समझा जाता है। जैसे कि नैतिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति नीतिशास्त्र का अधिकारी होता है।

"To the Ideal spectator or listener, who is a man of educated taste and represents an instructed publics everg fine art itself, he may be called "the rule and standard" of that art a the man of moral insight is of morals."

१- डा० सावित्री सिन्हा, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, भूमिका, पृ० २।

२- डा० सावित्री सिन्हा, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, भूमिका, पृ० २।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि, काव्य और पाठक में घनिष्ट सम्बन्ध है किन्तु, इस सम्बन्ध को व्यापक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा। प्रत्येक मनुष्य जीवन में आनन्द की कामना करता है। आनन्द प्राप्ति की कामना के कारण ही जीवन में धर्म की महत्ता स्वीकार की गयी है। काव्य में अध्यात्मिकता के सहारे आनन्द की प्रतिष्ठा करके जीवन की पूर्णता को पूर्णता के दर्शन प्राप्त होते हैं और उसके आस्वादन से वह अपने विषाद को भूलकर किसी दिव्य लोक की कामना करने लगता है। हमारी लौकिक इच्छाएँ काव्य में भावना का रूप धारण कर परिष्कृत हो जाती हैं। अपरिष्कृत भावनाओं का परिष्कार ही कवि, काव्य और पाठक के सम्बन्ध की व्यापकता है पर परम सौन्दर्य का दर्शन तथा चिदानंद-रस की अनुभूति भगवान के अनुग्रह पर निर्भर है। परमतत्व -- हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार -- 'सत्-चित-आनन्द का आकार है। आनन्द से ही उसने सृष्टि रची है। वह स्वयं आनन्दरूप है, अमृतरूप है, आनन्दरूपममृत यद्विभाति, वह रस-रूप है -- रसो वै सः, और फिर भी रहस्य यह है कि वह रस पाकर ही आनन्दी होते हैं।[1] इस आनन्द में सौन्दर्य और रस दोनों संगुम्फित हैं। अभिव्यक्ति में, मूर्तरूप में वह सौन्दर्य की संज्ञा प्राप्त करता है। अनुभूति में तथा अमूर्त रूप में रस की। आनन्द के विषय में पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में ड्राइडेन का तात्पर्य क्षणिक इन्द्रिय सुख से न होकर हृदय के उल्लास से था। पाश्चात्य विचारक ड्राइडेन की दृष्टि में कला मूल की सुन्दर अनुकृति है। कल्पना ही काव्य और कला में जीवन का स्पन्दन भरती है। कवि को वह ब्रह्म के रूप में देखता है। जिस प्रकार माया ब्रह्म की शक्ति है, उसी प्रकार कल्पना कवि की। ड्राइडन पर लाबाइनस के विचारों की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार कुम्हार के हाथ में पड़कर मिट्टी नवीन और सुन्दर रूप धारण करती है उसी प्रकार प्रकृति और जीवन कवि के हाथ में पड़कर नूतन और सुन्दर रूप धारण करते हैं। इस प्रकार

१- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० ११२, लीला और भक्ति।

प्राय: सभी पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने अपनी-अपनी शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है । इस शास्त्रीयता को ही अंग्रेजी में "क्लैसिक" कहते हैं । वास्तव में काव्य-रचना के लिए आचार्यों द्वारा जो नियम निर्धारित किये जाते हैं उन्हीं के अनुसार काव्य की समीक्षा की जाती है । जब लोक द्वारा रचनाओं का विश्लेषण कर सिद्धान्त और नियम स्थापित हो जाते हैं तो यही शास्त्रीय शैली के नियम होते हैं क्योंकि ये शास्त्रीय शैली के नियम काव्य के आधार पर ही निर्मित किये जाते हैं । भारतीय काव्य-शास्त्रियों में भी यह शास्त्रीय पद्धति अत्यन्त प्राचीन है और इसी शास्त्रीयता के आधार पर आगामी कवियों ने अपनी रचनायें की ।

यौरोप में इस शास्त्रीय पद्धति का प्रचार या तो मानववाद अथवा प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य के अनुकरण की वृत्ति के रूप में हुआ या अरस्तू के प्रसिद्ध ग्रन्थ "पोयटिक्स" के प्रभाव के रूप में, या तर्क प्राधान्य के कारण हुआ । मानववाद प्राचीन ग्रीक और रोम की मानवता की खोज, प्राचीन साहित्य की खोज, प्राचीन साहित्य के अनुवाद और उसके अध्ययन के रूप में व्यक्त हुआ । फलत: प्राचीन रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर साहित्यिकों ने काव्य मीमांसा-सम्बन्धी ग्रन्थों[१] की रचना की और इस प्रकार शास्त्रीय अनुकरण की परम्परा का जन्म हुआ ।

इस "क्लासिक" शब्द की व्याख्या भी अनेक प्रकार से की गयी है, परन्तु उस शब्द के अर्थ में भी समय के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होता गया है । आधुनिककाल में यौरोप में (क्लासिक) शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रीक और रोम की महान् कृतियों के अर्थ में किया जाने लगा है । इस सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग (क्लासिक) मध्ययुग और पुनर्जागरण काल में ही होने लगा था । इसा पूर्व दूसरी शताब्दी में इसका अर्थ अभिजात्य कृति से समझा जाने लगा था ।

१- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पश्चिमी आलोचना शास्त्र, पृ० २४१

क्लासिक रचना सामान्य पाठक की पहुँच के बाहर की समझी जाती थी । ये बहुसंख्यक लोगों को आनन्द देने वाली न होकर अल्पसंख्यक लोगों तक ही सीमित थी । काफी समय बाद इस शब्द का यह अर्थ हो गया था कि वही कृति क्लासिक है जिसमें स्थायी गुण है वही रचनाकार क्लासिक कृति का रचनाकार कहा जा सकता है जो सभी युगों में सम्मान पाने योग्य हो और जिसकी कृति इस योग्य हो, पर सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते इसका अर्थ महानतम साहित्यिक कृति हो गया था । साधारणत: क्लासिक का अर्थ लिया जाने लगा था कि जो श्रेष्ठ है, और जिसमें एक वैशिष्ट्य है ।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों एवं आलोचकों में इलियट का स्थान प्रमुख है । इलियट का मत है कि कवि या कलाकार विचारों में स्वतंत्र होता है, वह अपनी स्वेच्छा से काव्य का निर्माण करता है । काव्य निर्माण में रचनाकार का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण होता है । इलियट ने अपने को शास्त्रवादी घोषित करते हुए क्लासिक को एक नया रूप देने का प्रयत्न किया है । अपने इस प्रयत्न में वह फ्रांस के प्रतीकवादियों से अत्याधिक प्रभावित है । इलियट ने लैटिन कवि वर्जिल को व्यापक अर्थ में क्लासिक माना है, क्योंकि उसके सम्मुख किसी एक युग या जाति का इतिहास नहीं था, वरन् एक सर्वव्यापक चेतना मौजूद थी । अभिजात शब्द का प्रयोग सबसे पहले रोमियों ने किया था । शुरू शुरू में अभिजात साहित्यकार प्राचीन कवियों को ही माना जाता था । एक सामान्य परिभाषा के अनुसार यह कहा जा सकता है कि अभिजात साहित्यकार वह प्राचीन कवि है जो प्रशंसा का पात्र होने के कारण सम्मान्य श्रेणी में प्रतिष्ठित हो चुका हो और जिसे अपनी विशिष्ट शैली के कारण प्रमाण-स्वरूप स्वीकार किया जाता है । औलस जेलियस ने "अभिजात शब्द का प्रयोग आलंकारिक अर्थों में लेखक के लिए, अथवा महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट लेखक के लिए, जिसमें सार हो, जिसमें यथार्थ गुण हो जो यथार्थ सम्पत्ति का स्वामी हो और जो जन-साधारण के मध्य अपनी विशिष्टता खो न बैठे, इस रूप में किया है।"[१] गेटे के अनुसार पुरातन

१- डा० सावित्री सिन्हा, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १८५

कृतियाँ अभिजात हैं -- इसलिए नहीं कि वे पुरातन हैं वरन् इसलिए कि वे प्राणवान्, चिरंजीव, आह्लाददायिनी एवं स्वस्थ होती हैं।' इसी के परिणामस्वरूप फ्रांस के लेखकों ने अभिजात साहित्य को स्वस्थ और स्वच्छन्द को रुग्ण माना है। अधिकांश आधुनिक रचनाएँ स्वच्छन्द होती हैं -- इसलिए नहीं कि वह नई होती हैं वरन् इसलिए क्योंकि वे दुर्बल, विकृत तथा रुग्ण होती हैं। गैटे ने 'निबेलुंगेनलीट' (१३ वीं शती की एक जर्मन कविता) को इतनी ही अभिजात कृति माना है जितनी इलियट, क्योंकि दोनों ही स्वस्थ एवं ओजपूर्ण हैं। अभिजात जगत का आदि पुरुष होमर को माना गया है। ब्युफ़ो ने कल्पना, अंग-विन्यास और प्रतिपादन की अन्विति को एक पूर्ण अभिजात कृति का गुण माना है।

आरम्भ में यूनान वाले अपने देश के साहित्यकारों को ही अभिजात्य साहित्यकार मानते थे और रोम वाले सिसरो और वर्जिल जैसे महान् लेखकों के बाद अपने यहां के साहित्यकारों को भी अभिजात्य मानने लगे थे। यह भावना मध्ययुग के लोगों में सन्तुलन और रुचि का अभाव होने के कारण श्रेष्ठतर अभिजात साहित्यकारों के मूल्यांकन में गलती के फलस्वरूप हुई। १५ वीं व १६ वीं शताब्दी में जब अराजकता का अन्त हुआ और उसके स्थान पर व्यवस्था आई तब इनको उचित स्थान मिला, तत्पश्चात् प्राचीनकाल के सच्चे ग्रीक और लेटिन अभिजात्य साहित्यकार अवतरित हुए।

१६ वीं शताब्दी में अभिजात सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन हुआ और फलस्वरूप अभिजात कृतिकार की जो परिभाषा हुई वह कुछ इस प्रकार थी --

" Who have become models in any language k whatever."

इसके बाद जो भी परिभाषाएँ आईं उनमें 'आदर्श', 'रचना' और शैली के निश्चित नियम, 'कला के वे कठोर नियम जिनका अनुसरण होना ही चाहिए' इस प्रकार की शब्दावली का निरन्तर प्रयोग होने लगा। इस प्रकार अभिजात की परिभाषा संकीर्ण हो गई और उसमें नियम पालन पर अत्यधिक बल दिया

जाने लगा ऐसे ही समय सेन्त ब्यव ने आभिजात्य साहित्यकार की परिभाषा दी -- 'वह एक ऐसा कृतिकार हो जिसने मानव-मन को समृद्ध किया हो, उसके ज्ञान-भंडार की अभिवृद्धि की हो और उसे एक पग अग्रसर किया हो ; जिसने किसी संदिग्ध सत्य का नहीं, नैतिक सत्य का अन्वेषण किया हो ; अथवा उस हृदय में, जहाँ सब-कुछ अभिज्ञात और अनावृत प्रतीत होता था, किसी शाश्वत-भावना का दिग्दर्शन कराया हो ; जिसने अपने विचार, पर्यवेक्षण या आविष्कार व्यक्त किए हों । यह अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हुई हो, पर वह अपने आप में उदार और महान्, परिष्कृत और युक्तियुक्त, स्वस्थ और सुन्दर होनी चाहिए ; जिसने अपनी विशिष्ट शैली में सब को सम्बोधित किया हो -- एक ऐसी शैली में, जो सम्पूर्ण विश्व की शैली प्रतीत होती हो, और जो नई शब्दावली के बिना भी हो ; जो नई भी हो पुरानी भी ; और जो किसी एक युग की शैली भी हो, और युग-युग की भी ।'[१] इस प्रकार उसने व्यवस्था और सौन्दर्य के सन्तुलन की पुन: स्थापना के मार्ग में जो बाधाएं थीं उन्हें हटा दिया । सेन्त ब्यव ने उक्त परिभाषा के अन्तर्गत अन्य बातों के साथ-साथ एकरूपता, मनीषा, संयम और विवेक इन गुणों का होना आवश्यक माना है क्योंकि इन गुणों में अन्य सभी गुण समाहित रहते हैं ।

सेन्त ब्यव के अनुसार अभिजात्य के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की धारणा बनाने से पूर्व संसार का भ्रमण करके विभिन्न साहित्यों का अध्ययन करके उनकी प्राणवत्ता और अनन्त विविधता को समझना चाहिए । किसी युग विशेष की धारणा के आधार पर अभिजात्य सम्बन्धी धारणा बनाना उचित नहीं होगा क्योंकि ये धारणाएँ समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं । उदाहरणार्थ -- शेक्सपियर को लिया जा सकता है । आज इंगलैण्ड और विश्व के लिए वह आभिजात्य साहित्यकार है परन्तु पोप के समय में उन्हें यह स्थान प्राप्त नहीं था, पोप और उनके मित्र स्वयं ही आभिजात्य साहित्यकार थे उनकी

---

१४ डा० सावित्री सिन्हा, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० १८६-१८७

मृत्यु के बाद कुछ समय के लिए ऐसा समझा जाता रहा कि शायद वह हमेशा आभिजात्य साहित्यकार बने रहेंगे, परन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ यह धारणा भी परिवर्तित हो गई । आज शेक्सपियर प्रथम श्रेणी के आभिजात्य साहित्यकार हैं, पोप भी अभिजात्य साहित्यकार हैं परन्तु द्वितीय श्रेणी के ।

आभिजात्य साहित्यकार बनने का कोई नुस्खा नहीं होता । यह धारणा बना लेना कि अगर कोई लेखक विदग्धता, संयम, अन्वर्थता और प्रांजलता आदि गुणों का अनुकरण करके और शैली तथा प्रेरणा से निरपेक्ष होकर आभिजात्य साहित्यकार बन जाएगा तो यह उसी प्रकार होगा जैसे - यह मान लेना कि रासीन के बाद उसका स्थान उसका पुत्र ले लेगा ।

इलियट ने आभिजात्य काव्य की परिभाषा देते हुए कहा कि अगर मैं आभिजात्य काव्य को एक शब्द में व्यक्त करना चाहूँ तो जो शब्द मेरे मन्तव्य की व्यंजना करता है वह है प्रौढ़ता — Maturity

"If there is one word on which we can fix, which will suggest the maximum of what I mean by the term ' a classic', it is the word maturity."[1]

इलियट के अनुसार क्लासिक कृति की सृष्टि तभी सम्भव है जब सभ्यता प्रौढ़ हो, जब भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो तभी उसमें अभिजात कृति की रचना हो सकती है और वह कृति प्रौढ़ मस्तिष्क की ही कृति होगी । इन तीनों उपादानों को उन्होंने मस्तिष्क की प्रौढ़ता (Maturity of mind) शील की प्रौढ़ता (Maturity of manners) तथा भाषा की प्रौढ़ता (Maturity of language) कहा है ।

१- T. S. Eliot, what is classic, Page -10.

"A classic can only occur when a civilisation is mature; when a language and a literature are matures and it must be the work of a mature mina."[1]

यदि हमारा मस्तिष्क प्रौढ़ है और हम शिक्षित हैं तो हमें सभ्यता और साहित्य का ज्ञान हो सकता है । साहित्य की प्रौढ़ता जिस समाज में उसका प्रतिबिम्ब होता है उसकी प्रौढ़ता का प्रतिबिम्ब होती है । भाषा के विकास के लिए भी कवि बहुत कुछ कर सकता है पर यह तभी सम्भव है जब उसके पूर्ववर्ती लेखकों ने उसकी भूमिका तैयार न की हो । अत: प्रौढ़ साहित्य के पीछे एक इतिहास होता है और यह इतिहास कोरा इतिहास नहीं होता और न ही यह भाँति-भाँति की रचनाओं एवं पांडुलिपियों का संचय भर ही होता है वरन् अपनी परिसीमाओं में अपनी क्षमताओं की सिद्धि के निमित्त एक भाषा की व्यवस्थित और अचेतन प्रगति है ।

भाषा की प्रौढ़ता के लिए यह आवश्यक है कि पूर्व युग में महान् कवि तो हो चुके हों, किन्तु उनकी कृतियों में भाषा पराकाष्ठा तक विकसित न हुई हो । भाषा का पराकाष्ठागत विकास तो क्लासिक कवि द्वारा ही होता है । इलियट के अनुसार महान कवि क्लासिक हो यह अवश्यंभावी नहीं है । महान् कवि केवल विधा में सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर सदा के लिए उसकी संभावना को समाप्त कर देता है जबकि क्लासिक कवि एक विधा को ही नहीं अपने समय की भाषा को भी सर्वोच्च शिखर पर पहुंचाकर उसके विकास की सम्भावना को समाप्त कर देता है ।

शील की प्रौढ़ता से उनका तात्पर्य आदर्श चरित्र के निर्माण से है । साहित्य और शील की प्रौढ़ता के साथ-साथ उन्होंने मस्तिष्क की प्रौढ़ता भी

१- T. S. Eliot, what is classic, Page -10.

भी बताई है। भाषा तभी प्रौढ़ता को प्राप्त कर सकती है जब उसमें अतीत के प्रति आलोचनात्मक भावना हो, वर्तमान में विश्वास हो और भविष्य के प्रति कोई चेतन सन्देह न हो। 'साहित्य में इसका अर्थ होता है कि कवि अपने पूर्ववर्तियों के प्रति सजग है और हम उसकी कृति की पृष्ठभूमि में जो पूर्ववर्ती हैं उनसे परिचित हैं। ये पूर्ववर्ती स्वयं महान एवं सम्मानित होने चाहिए परन्तु उनकी उपलब्धियाँ ऐसी होनी चाहिए जिनसे पता चले कि भाषा के सब साधन अभी पूरी तरह विकसित नहीं हुए हैं, उनकी उपलब्धियों से नए लेखकों में यह विकसित नहीं हुए हैं, उनकी उपलब्धियों से नए लेखकों में यह डर न बैठ जाए कि उनकी भाषा में जो कुछ भी कर पाना सम्भव था, किया जा चुका है। निश्चय ही प्रौढ़ युग में कवि ऐसा कुछ करने की आशा से प्रेरणा पा सकता है, जो उसके पूर्ववर्तियों ने न किया हो वह उनके प्रति विद्रोह भी कर सकता है।'

In literature, this means that he poet is aware of his predecessore, and that we are aware of the predecessors behind his work, as we may be awareof ancestoral traits in a person who is at the same time individual and unique. The predecessoer should be them selves great and honoured ; but their accomplishment must be such as to suggest still undeveloped p resources of the language, and not such as to oppress the younger writers with the fear that everything that can be done has been done, in their language. The post,certainly, in a ~~mukk~~ mature are, may still obtain stimulus farm the hope of doing something that his predecessors have not dome ; the may even be in revolt against them.

अतः किसी भी राष्ट्र में साहित्यिक सृजनशीलता का बना रहना इस बात पर निर्भर है कि व्यापक अर्थ में परम्परा अर्थात् अतीत की साहित्य में सिद्ध समष्टि-व्यक्तित्व तथा वर्तमान पीढ़ी की मौलिकता के बीच अनजाने ही

सन्तुलन बना रहे । क्लासिक के सम्बन्ध में इलियट ने यह भी लिखा है कि क्लासिक कृति वह है जिसमें किसी मानव समाज की सम्पूर्ण शक्ति निहित हो अत: उनके अनुसार क्लासिक के लिए व्यापक और विश्वजनीन होना भी आवश्यक है ।

क्लासिक शैली की ओर पहुँचने का एक लक्षण है वाक्य रचना की अधिकाधिक जटिलता है । "परन्तु जटिलता के लिए जटिलता का होना उचित लक्ष्य नहीं, उसका उद्देश्य सर्वप्रथम तो अनुभूति एवं विचार की बारीकियों की यथातथ्य अभिव्यंजना होना चाहिए और अत्याधिक परिष्कृति एवं संगीत-वैविध्य का समावेश । जब विस्तारपूर्ण रचना-विधान के मोह में लेखक कोई बात सहज सीधे ढंग से कहने की योग्यता खो बैठता है, जब प्रतिमान के प्रति उसकी आसक्ति इतनी हो जाती है कि जो बात सरल रीति से कहना उचित हो उसे भी वह विशदता से कहता है -- और इस प्रकार अपना अभिव्यंजना-क्षेत्र सीमित कर लेता है -- तब जटिलता की प्रक्रिया स्वस्थ नहीं रह जाती और लेखक बोलचाल की भाषा से सम्पर्क खोने लगता है ।"[1]

इस प्रकार इलियट ने मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शैली की प्रौढ़ता और भाषा की प्रौढ़ता के साथ आभिजात्य शैली की पूर्णता को भी क्लासिक शैली के लक्षण रूप में निर्धारित किया है ।[2] आभिजात्य काव्य के इन लक्षणों को इलियट ने वर्जिल पर उसकी भाषा, सभ्यता तथा उस युग-विशेष पर उनकी परीक्षा की । मस्तिष्क की प्रौढ़ता के लिए उसने यहाँ भी इतिहास और इतिहास की चेतना को आवश्यक बताया । प्रत्येक महान कवि ही नहीं, प्रत्येक सच्चा कवि भी भाषा की किसी न किसी सम्भावना की सिद्धि सदा-सर्वदा के लिए कर जाता है और अपने परवर्तियों के लिए सम्भावना कम छोड़ता है ।

१- डा० सावित्री सिन्हा, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० २७४

२- T. S. Eliot, what is classic, page 16.

इलियट के अनुसार, प्रत्येक महान् कवि का क्लासिक होना आवश्यक नहीं है। महान् कवि एक काव्य रूप की भावी सम्भावनाओं को ही नि:शेष करता है, सम्पूर्ण भाषा को नहीं। आभिजात्य कवि किसी काव्य-रूप को ही नहीं, युगीन भाषा की ही सम्भावनाएँ नि:शेष कर देता और यदि वह पूर्णत: आभिजात्य कृति है तो उसके युग की भाषा में उस युग की भाषा का चरमोत्कर्ष लक्षित होगा। अत: हमें कवि पर ही विचार करना नहीं होता है कि जिस भाषा में वह लिखा है उस पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। आभिजात्य कवि भाषा की सम्भावनाओं को नि:शेष कर देता है -- इतनी ही बात नहीं वरन् यह भी सत्य है कि जब भाषा की सम्भावनाएं नि:शेष प्राय हो जाती है[1] तभी वह आभिजात्य कवि का आविर्भाव करती है। इलियट ने क्लासिक का विस्तृत विवेचन करते हुए कवि के लिए जातीय परम्परा और ऐतिहासिक बोध को भी आवश्यक बताया है।

उपर्युक्त मन्तव्यों को ध्यान में रखकर क्लैसिक के निम्नलिखित तत्वों की ओर निर्देश किया जा सकता है -

सेन्ट ब्यव (Sainte-Beuve) का मत है कि अभिजात्य कृति में एकरूपता, मनीषा, संयम और विवेक भी होना चाहिए। इस प्रकार अभिजात्य साहित्यकार के लिए संयम, विवेक, शालीनता, प्रसादत्व, उदात्त भावना आदि गुण अपेक्षित है।

ब्यूफ ने अपने ग्रन्थ (Discourse of Stye) में कल्पना, अंग-विन्यास और प्रतिपादन की अन्विति पर बल दिया और उन्हें अभिजात्य कृति के गुण माना।

मेरी जोसेफ शेनिए ने अभिजात लेखक के लिए सद्बुद्धि अर्थात् विवेक को मूल गुण माना है जिससे अन्य सभी गुण-चातुर्य, प्रतिभा अन्त: शक्ति, मेधा और सुरुचि प्राप्त हो जाते हैं। ब्यव विवेक को अभिजात्य साहित्य के लिए अनिवार्य गुण नहीं मानते जैसा कि शेनिए मानता है।

टी० एस० इलियट के अनुसार क्लासिकवादी

---

1. T.S. Eliot, What is classic, Page 24.
२- डा० सावित्री सिन्हा, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २७८

से उनका तात्पर्य परिपक्वता या प्रौढ़ता (Maturity) से है, उन्हीं के शब्दों में `अभिजात कृति ` से मेरा तात्पर्य क्या है, यदि यह मैं एक शब्द में बतलाना चाहूँ तो मेरे मन्तव्य की सबसे अधिक व्यंजना जो शब्द करता है वह है `प्रौढ़ता` जब कोई सभ्यता प्रौढ़ हो, जब भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो तभी उसमें अभिजात कृति की रचना हो सकती है और वह प्रौढ़ मस्तिष्क का ही कृतित्व हो सकता है ।`

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य की प्रौढ़ता समाज की प्रौढ़ता का प्रतिबिम्ब होती है । इसके साथ-साथ इलियट कविता में कवि के व्यक्तित्व को भी स्वीकार करता है । उन्होंने कवि और कलाकृति दोनों का परस्पर प्रभावित होना स्वीकार किया है । `मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है ।` इस परस्पर प्रभाव डालने का फल यह होता है कि सम्पूर्ण कलाकृति कवि के व्यक्तित्व से निर्मित हो उठती है, कवि ही अपने काव्य जगत में व्याप्त हो जाता है । वर्जिल के प्रसंग में भी उन्होंने कहा है `जब मैं वर्जिल का संसार कहता हूँ तो मेरा आशय उस संसार से होता है जिसे उसने स्वयं निर्मित किया है ।` उन्होंने कवि को अपने संसार का निर्माता माना है ।

पुनरुत्थान कालीन युग में काव्य पर धर्म का बहुत प्रभाव था । धर्म के प्रभाव से जनसामान्य में कविता के प्रति एक अपमान की भावना विद्यमान थी । स्थिति यह थी सर फिलिप सिडनी ने एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखा और उसका नाम रखा (एन एपॉलोजी फार पोयट्री) काव्य नैतिक स्वास्थ्य का हनन करता है । इन भावनाओं का जनता के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव था कि सोलहवीं शती के समीक्षक खुलकर काव्य का स्वागत नहीं कर पाये थे । ऐसे समय में कविता का पक्ष दो प्रसिद्ध अंग्रेज विचारकों ने लिया था । वे सर फिलिप सिडनी तथा बेन जानसन थे । सिडनी ने अरस्तु के समान ही कविता को अनुकरणीय माना है,पर उसका अर्थ आदर्श अनुकरण अथवा सृजन से ही है । `सृजनात्मक कवि का अनन्य लक्षण है क्योंकि अपनी प्रतिभा के बल से वह नयी वस्तुओं का सृजन करता है ।`

---

१. डा० सावित्री सिन्हा, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २६१

सिडनी के अनुसार काव्य का साध्य शिक्षा है और आनन्द उसका साधन है `कवि अपने काव्य द्वारा सर्वश्रेष्ठ गुण सदाचार की शिक्षा देने के लिए बड़े गौरव के साथ प्रवृत्त होता है, इसलिए वह सबसे कुशल कारीगर है। कविता को प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने सजीवता और भावावेग को मुख्य माना है। कविता जीवन का श्रेष्ठतम मार्ग-दर्शन होती है और कविता का ध्येय आनन्दप्रद मार्ग से शिक्षा देना होता है।

सर फिलिप सिडनी के इन विचारों के साथ ही पाश्चात्य समीक्षा परम्परा का सूत्रपात होता है। इन्होंने अरस्तू तथा प्लेटो को सर्वत्र मान्य ठहराया है और प्रमाण स्वरूप उन्हें उद्धृत भी किया है। इसके पश्चात् बेन जानसन का नाम आता है। बेन जान्सन अपने विचारों एवं मान्यताओं में नव्य-शास्त्रवादियों के अधिक निकट है। इन्होंने जीवन में नैतिकता एवं भद्रता-अभद्रता के समान काव्य में सही और गलत को स्वीकार किया है। उन्होंने कविता को सर्जनात्मक कला भी माना और उसका सम्बन्ध तर्क, बुद्धि, अध्ययन, अभ्यास आदि तत्वों से भी जोड़ा है।

पुर्नजागरण काल के फलस्वरूप लगभग १६ वीं से १८ वीं शताब्दी तक का युग नव्य क्लेसीसिज़्म (Neo Classic Period) के नाम से जाना जाता है। नव्य क्लेसीकल युग ने पुनर्जागरण काल के अनियंत्रित रूप को नियंत्रित रूप दिया था। नव्य क्लासिक युग के फ्रान्स समीक्षकों में ब्वालो, कौर्नेल, रेसीन, बोसु, वाल्तेयर और बफ़ो का नाम लिया जाता है। इन सब में ब्वालो को ही नव्य क्लासिक का अग्रदूत माना जाता है। ब्वालो का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर और महान था। उसने काव्य-सम्बन्धी नियमों को अत्यन्त कसावट के साथ बनाया था। वह होरेस के चिन्तन का एक मुखर रूप था। उसने होरेस की ही भाँति प्रकृति को दृष्टिपथ में रखा। ब्वालो ने कवियों के लिए अध्ययन, अभ्यास, अति-वर्जना, भावना नियन्त्रत एवं अनुकरण को आवश्यक माना था। उसके अनुसार वास्तव में क्लेसीकल साहित्य को आदर्श रूप में ग्रहण कर ही संयम और नियंत्रण बनाए रखा जा सकता है।

ब्वालो के अनुसार कवियों और कलाकारों को प्राचीन नियमों और सिद्धान्तों के अनुशासन में बंधकर रहना चाहिए, ताकि उनकी अत्याधिक भावुकता,

अत्याधिक अलंकार, प्रियता इत्यादि से काव्य का संतुलन न बिगड़ने पाए । इस प्रकार उसने काव्य को कला से हटा कर 'कौशल' बना दिया । उस काल की कविता ब्वालों के नियमों में कसी जा कर भी नष्ट नहीं हो पायी थी । इसका कारण उस युग का हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण होना था । ब्वालो और उस समय के तर्क शास्त्रियों का सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि अरस्तू के अध्ययन के प्रति समग्र मानसिकता उन्मुख हो गई और उसका प्रभाव यह पड़ा कि अतिशय नियम के विरुद्ध विद्रोह हुआ और विद्रोह स्वच्छन्दतावाद के रूप में प्रकट हुआ ।

बेन जानसन ने अपने समय में फैली हुयी अव्यवस्था, अराजकता, और अनियंत्रित प्रवृत्तियों के बीच व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्राचीनों का अनुशासन आवश्यक माना था । उन्होंने शैली में नियम पालन को अत्याधिक महत्व दिया था। उन्होंने कवि को दैवीय प्रतिभा से सम्पन्न माना था । उनकी प्रतिभा नैसर्गिक होती है, अभ्यास द्वारा अर्जित नहीं होती है । दैवी प्रतिभा-सम्पन्न होने पर भी कवि बौद्धिक, मानसिक और बाह्य अनुशासन द्वारा ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है । निष्कर्ष यह है कि -- "बेन जानसन कवि को आलोचक के रूप में देखना चाहता था । स्वयं कवि के लिये दैवी प्रेरणा ही यथेष्ट नहीं; उसके साथ-साथ निरन्तर अभ्यास, अध्ययन, नीर-क्षीर-विवेक, औचित्यपूर्ण एवं संयमित कल्पना-शक्ति द्वारा जीवन-सत्य का प्रतिपादन करना, और परिष्कृत अभिव्यंजना द्वारा व्यक्तित्व-प्रकाशन भी अनिवार्य माना ।"[१]

एडीसन पोप इत्यादि ब्वालो के भक्त थे । एडीसन ने काव्यसर्जना में कल्पना का महत्व प्रतिपादित किया है । कल्पना का सम्बन्ध चक्षु-इन्द्रिय से है । हमारी चक्षु-इन्द्रियाँ ही हमारी कल्पना को विचारों से भर देती है कभी प्रत्यक्ष रूप में और कभी अप्रत्यक्ष रूप में । इसी आधार पर एडीसन ने कल्पना के दो भेद किये हैं । कल्पना आनन्द जन्य होती है अत: कल्पना-जन्य आनन्द दो प्रकार का होता है, एक प्राथमिक कला जन्य आनन्द जो वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न होता है और दूसरा माध्यमिक आनन्द जो कल्पना की परोक्ष अनुभूति से अर्थात् स्मरण, अनुमान आदि के द्वारा उत्पन्न होता है । कला और साहित्य

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पश्चिमी आलोचनाशास्त्र, पृ० ११६

का सम्बन्ध इसी माध्यमिक आनन्द के साथ माना गया है । निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि एडीसन ने शास्त्रवादिता से परे हट कर समीक्षा जगत् को कल्पना-सम्बन्धी अत्यन्त महत्वपूर्ण नियम दिया और कल्पना का सम्बन्ध एक ओर अवधारणा से दूसरी ओर इन्द्रिय-गृहीत वस्तु के मानसिक पुनर्निर्माण से जोड़ा ।

एलेक्जांडर पोप व्यंग्य काव्य के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं । उनकी व्यंग्य कविताएँ चुभती हुई और व्यक्तिगत वैमनस्य से पूर्ण हैं । परन्तु उनके साहित्यिक वर्ग की प्रमुख विशेषता वाग्विदग्धता (Wit) है । पोप ने "An Essay on criticism" नामक दीर्घ प्रबन्धकाव्य की रचना भी की जिसमें उसका समीक्षा सम्बन्धी मंतव्य भी शामिल है । उनके अधिकांश विचार होरेस के विचारों का प्रतिच्छाया जान पड़ते हैं । पोप का उचितवाद (Carret-ness) अत्यन्त प्रचलित है । उसका प्रमुख कथन है कि "Trace ease in writting comes from art not chance."

शैली के विषय में पोप ने लगभग होरेस जैसे विचारों का ही प्रतिपादन किया, उसने भी प्राचीनता को अनुकरणीय आदर्श माना । शब्दों के बारे में उसने कहा कि उन्हें ऐसे नया किया जाय कि वे जीवित लगें, पोप ने अपने ये विचार अपने लम्बे प्रबन्धकाव्य An Essay on criticism के माध्यम से प्रकट किया ।[1]

इन सब आलोचकों के साथ-साथ सत्रहवीं शताब्दी का सबसे उल्लेखनीय आलोचक जान ड्राइडेन को माना जाता है । ड्राइडेन ने प्लाटो और उसके समर्थकों के विरुद्ध आवाज उठायी थी । उसने प्राचीनों के अन्धानुकरण का विरोध किया था तथा काव्य को कवि, समाज और आलोचक के सन्दर्भ में देखा था । केवल नियमों में बँधकर चलना वह हेय समझता था । कवि की स्वतन्त्रता में ड्राइडन का बहुत विश्वास था । उस स्वतन्त्रता को कोई शासन, कोई नियम बाँध नहीं सकता था । उसने यहाँ तक कहा कि हमारे युग के नाटककारों के लिए अरस्तू द्वारा बनाए गए नियमों का पालन अनिवार्य नहीं है । क्योंकि अरस्तू ने अपने समय में उपलब्ध

१, डा० विजय बहादुर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ० ६४

त्रासदियों को देखकर जो नियम बनाये थे यदि अरस्तू ने हमारे युग के नाटकों को देखा होता तो उसका मत अवश्य बदल जाता । उसने अरस्तू के सिद्धान्तों को अपने देश की उस समय की प्रतिभानुकूल ढालने का प्रयत्न किया था । ड्राइडेन काव्य द्वारा नैतिक शिक्षा दिये जाने के पक्ष में नहीं था । उसने काव्य की आनन्द प्रदायिनी शक्ति को सबसे अधिक उन्मुखता दी थी । आनन्द से ड्राइडेन का तात्पर्य क्षणिक इन्द्रिय सुख से न होकर हृदय के उल्लास से था । ड्राइडेन की दृष्टि में कला मूल की सुन्दर अनुकृति है, और कवि को उसने स्रष्टा के रूप में देखा है । ड्राइडेन की दृष्टि में काव्य का कार्य आनन्दित करना था । वह स्वयं कवि भी था अत: उसने कहा --

" My chief endeavours are to delight the age in which I live."

ड्राइडेन ने समीक्षा जगत में इस बिन्दु को पहली दफा स्पर्श किया कि कोई भी कवि अपने युग के वातावरण एवं परिस्थितियों के अनुसार लिखता है । दो भिन्न युग के कवियों में केवल भाषागत वैषम्य ही नहीं होता, प्रत्युत उन युग के लोगों के स्वभाव, उनकी रुचियाँ बदल जाती हैं जो कवि अपने युग की हवा के अनुसार लिखता है वही सफल होता है । काव्य में जीवन का स्पर्श कवि की कल्पना ही करती है । और उस कल्पना को नियंत्रित करने का कार्य विवेक द्वारा ही सम्पन्न होता है । इसी कल्पना को उन्होंने प्रतिभा से सम्बन्धित माना है जो प्रत्येक कवि में अलग-अलग होती है । प्राचीनों की प्रेरणा और ड्राइडन की ललित कल्पना में पर्याप्त साम्य है । इसी ललित कल्पना के द्वारा कवि-सौन्दर्य की सृष्टि करता है । वह सौन्दर्य जो आनन्दित करता है । इस प्रकार ड्राइडेन के अनुसार कविता का उद्देश्य है,युग को आनन्दित करना क्योंकि युग सर्वदा बदलता है और उसके अनुसार रुचियों में परिवर्तन होता रहता है । काव्य का स्वरूप भी निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, उसे रूढ़ नियमों से नहीं बाँधा जा सकता । इस प्रकार क्लासिकवाद के नियमों के विरुद्ध ड्राइडन ने अपने नियमों को प्रस्तुत किया था । अत: हम देखते हैं कि नवशास्त्रवादियों का लक्ष्य स्वस्थ और सही था । उसने साहित्यिक सृजन, साहित्यिक कलाकृति के गठन और पाठक की प्रतिक्रिया के सिद्धान्तों, विचारों या नियमों का अनुसंधान करने का प्रयास किया । जिसमें उसके कर्तव्य,कर्म सृजन प्रक्रिया के स्वरूप और साहित्य-निर्माण की विधि आदि की व्याख्या की है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विचारों के अनुरूप काव्य की आत्मा को दर्शाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने कल्पना तथा नीर-क्षीर-विवेक काव्य के ये दो मूल स्त्रोत माने थे, पर अपने अनुरूप काव्य की आत्मा की व्याख्या करते हुए भी वे किसी न किसी रूप में अरस्तू के काव्य सिद्धान्तों से चिपके हुए दिखायी दिए हैं। वे शब्द-चातुर्य, अलंकार प्रयोग आदि को तुच्छ समझते थे। उन्होंने कल्पना द्वारा भाषा सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य दोनों की सृष्टि करना चाहा है। कल्पना कवि में दैवी प्रतिभा उत्पन्न करती है, और काव्योपयुक्त सामग्री से उसको अक्षय बनाती है।

जान ड्राइडन ने तो काव्य की आत्मा आनन्द को ही माना है। इस आनन्द का तात्पर्य उन्होंने आत्मिक आनन्द से ही लिया है। इस आत्मिक आनन्द शक्ति के मूल में इन्होंने जीवन और प्रकृति का अनुकरण करना माना है, किन्तु यह अनुकरण यथार्थ और यथातथ्य न होकर कवि की कल्पना और व्यक्तित्व के रंग में रंग कर अधिकाधिक सौन्दर्य-सृष्टि करने में माना गया है। ड्राइडन की यह आनन्द की भावना भारतीय मनीषी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आनन्द की भावना से साम्य रखती हुयी प्रतीत होती है, उन्होंने भी सृष्टि की रचना आनन्द से मानी है।

निष्कर्षतः यदि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर शास्त्रीयता के बिन्दुओं को स्पष्ट किया जाए तो वह निम्नलिखित है --

(१) एकरूपता, संयम, विवेक, शालीनता, प्रसादत्व तथा उदात्त की भावना।

(२) कल्पना, अंग विन्यास और प्रतिपादन की अभिव्यक्ति का दृष्टिकोण।

(३) गुण-आकांक्षा, प्रतिभा, अन्तःशक्ति, मेधा तथा सुरुचि पर बल।

(४) प्राचीनता का दृष्टिकोण - विशेष रूप से सभ्यता, भाषा और साहित्य की प्राचीनता।

(५) नवीनता की मुख्यता के साथ आनन्दप्रद मार्ग से शिक्षा देने की महत्ता।

(६) तर्क, बुद्धि, अध्ययन, अभ्यास आदि तत्वों का नवीनात्मक कला से सम्बन्ध।

(७) परिष्कृत अभिव्यंजना द्वारा व्यक्तित्व प्रकाशन का दृष्टिकोण ।

(८) वाग्विदग्धता तथा काव्य की आनन्दप्रदायिनी शक्ति की उन्मुक्तता पर बल ।

(९) अतिवर्जना, भावना नियन्त्रण एवं अनुकरण का दृष्टिकोण ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विचारों और परिस्थितियों के अनुकूल शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है ।

-0-

हिन्दी के भक्त कवि और उनकी रचनायें — (विषयवस्तु की सीमा)

ज्ञानाश्रयी शाखा कवि और काव्य

ज्ञानाश्रयी शाखा वह शाखा है, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों की भावनाओं को मिलाकर, एक नए रूप में एक नए साधना मार्ग की कल्पना की गयी है। इसमें एक ऐसे ईश्वर की भावना को स्वीकार किया गया है जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही समान रूप से मान्य हो। वह निर्गुण और सगुण दोनों से ही परे है और यही हिन्दुओं का राम और मुसलमानों का रहीम है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और सर्वत्र ज्योतिमान है। जिन कर्मकाण्डों की वजह से दोनों धर्मों में विरोध हो सकता है उसका मात्र भी इसमें समावेश नहीं है। इस शाखा के कवियों में हम सर्वप्रथम नामदेव का नाम लेते हैं।

नामदेव—

इनका जन्म सं० १३२८ और मृत्यु १४०८ मानी गयी है।[१] ये महाराष्ट्री सन्त थे, इन्होंने हिन्दू और ब मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग का परिचय दिया था। नामदेव आन्तरिक प्रेरणा से भक्त हुए थे। इन्होंने किसी गुरु से दीक्षा लेकर इस मार्ग को नहीं अपनाया था।

कबीरदास—

इनका जन्म विक्रम संवत् १४५५ है और मृत्यु संवत् १५७५ मानी गयी है।[२]

कबीर ने अपने ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ माना है। इनका ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अजन्मा, अविगत और अलक्ष्य है। जो न कभी जन्म लेता है और न ही कभी मरता है। डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर द्वारा रचित ६१ ग्रन्थों का वर्णन

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६५
२ पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७९

किया है जो निम्न है —

१- अगाध मंगल

२- अठपहरा

३- अनुराग सागर

४- अमर मूल

५- अर्जनामा कबीर का

६- अलिफ़नामा

७- अक्षर खंड की रमैनी

८- अक्षर भेद की रमैनी

९- आरती कबीर कृत

१०- उग्रगीत

११- उग्र ज्ञान मूल सिद्धान्त दश मात्रा

१२- कबीर और धर्मदास की गोष्ठी

१३- कबीर की बानी

१४- कबीर अष्टक

१५- कबीर गोरख की गोष्ठी

१६- कबीर जी की साखी

१७- कबीर परिचय की साखी

१८- कर्मकांड की रमैनी

१९- कायापन्जी

२०- चौका पर की रमैनी

२१- चौंतीसा कबीर का

२२- छप्पय कबीर का

२३- जन्म बोध

२४- तीसा जन्त्र

२५- नाम महातम की साखी

२६- निर्भय ज्ञान

२७- पिय पहचानबे को अंग

२८- पुकार कबीर कृत

२६- बलाव की पैज

३०- बारामासी

३१- बीजक

३२- ब्रह्मनिरूपण

३३- भक्ति का अंग

३४- भाषा षड चौंतीस

३५- मुहम्म बोध

३६- मंगल शब्द

३७- रमैनी

३८- रामरक्षा

३९- राम सार

४०- रेखता

४१- विचारमाला

४२- विवेक सागर

४३- शब्द अलद टूक

४४- शब्द राग काफी और राग फगुआ

४५- शब्द राग गौरी और राग भैरव

४६- शब्द वंशावली

४७- शब्दावली

४८- संत कबीर बंदी छोर

४९- सतनामा

५०- सत्संग को अंग

५१- साधो को अंग

५२- सुरति सम्वाद

५३- स्वांस गुंजार

५४- हिंडोरा वा रेखता

५५- हंस मुक्तावली

५६- ज्ञान गुदड़ी

५७- ज्ञान चौंतीसी

५८- ज्ञान सरोदय

५६- ज्ञान सागर

६०- सम्बोध

६१- ज्ञानस्तोत्र

वर्मा जी ने कबीर गोरख की गोष्ठी, कबीर जी की साखी, भक्ति का अंग, मुहम्मद बोध ये चार ग्रन्थ कबीर कृत मानने में सन्देह किया है । इस प्रकार कबीर द्वारा उन्होंने रचित ५७ ग्रन्थों की संख्या को तो माना ही है । साखी सबद इनके प्रमुख संग्रह हैं । रमैनी को भी इनकी प्रमुख रचनाओं में माना गया है ।

रैदास -

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इनका जन्मकाल सं० १४५५ से सं० १५७५ माना है ।

रैदास जी ने ईश्वर के नाम तो सगुणात्मक रखे हैं, पर निर्देश निर्गुण ब्रह्म के ही किए हैं । इनके प्रसिद्ध दो ग्रन्थ माने गये हैं -

(१) रविदास की बानी

(२) रविदास के पद

इनकी कुछ रचनाएं वेलवेडियर प्रेस प्रयाग "रैदास की बानी" के नाम से भी प्रकाशित हैं ।

धरमदास -

इनका जन्म संवत् १४७५ और १५०० के बीच में माना और मृत्यु लगभग संवत् १६०० मानी गयी है ।

आप पहले सगुणोपासक थे पर बाद में कबीर के सम्पर्क में आने पर निर्गुणोपासक हो गये थे । इनके ग्रन्थों में "सुखनिधान" को प्रमुख माना गया है ।

गुरुनानक -

इनका जन्म सं० १५२६ और मृत्यु सं० १५६५ मानी गयी है ।

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २४०

गुरु नानक सिख सम्प्रदाय के आदि गुरु माने गये थे । इन्होंने कबीरदास की निर्गुण वाणी का प्रचार पंजाब में किया था । इनके भक्तिपूर्ण भजनों का संग्रह, 'ग्रन्थ साहब' में किया गया है ।

दादूदयाल -

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका जन्म संवत् १६०१ गुजरात में और मृत्यु संवत् १६६० में हुयी थी । इनके द्वारा लिखे गए लगभग ५०० पद प्राप्त होते हैं ।

सुन्दरदास -

इनका जन्म संवत् १६५३ और मृत्यु संवत १७४६ मानी गयी है । इन्होंने छोटे मोटे अनेक ग्रन्थों की रचना की है, पर इनका 'सुन्दर विलास' सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है । निर्गुणपंथी कवियों में यह सबसे अधिक पढ़े लिखे थे ।

मलूकदास -

इनका जन्म संवत् १६३१ और संवत् १७३९ में मृत्यु मानी गयी है।[१] इस प्रकार १०८ वर्ष की आयु प्राप्ति के पश्चात् इनका स्वर्गवास हुआ था ये आजीवन गृहस्थ रहे थे ।

मलूकदास की दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं --(१) ज्ञानबोध, (२) रत्नखान । इनके बारह शिष्यों में से एक शिष्य मथरादास थे जिन्होंने 'मलूकपरिचय' नाम की एक जीवनी लिखी थी ।

रज्जबदास -

डा० रामकुमार वर्मा ने इनका जन्म सं० १६१० माना है । ये दादूपंथी थे । इनका ग्रन्थ 'रज्जब की बानी' के नाम से मिलता है, इनके सिद्धान्त भी मूलत: वही हैं जो अन्य सन्तों के हैं । इनकी भाषा में उर्दू और

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०

फारसी शब्दों का बाहुल्य है ।

इनके अलावा भी कुछ कवि हुए हैं जैसे -- लालदास, बाबालाल, हरिदास, स्वामी प्राणनाथ, धरनीदास, यारी साहब, दरिया साहब (बिहार वाले), दरिया साहब (मारवाड़ वाले), बुल्ला साहब, गुलाल साहब,केशवदास, चरनदास, बालकृष्ण नायक, श्री अक्षर अनन्य इत्यादि ।

—

प्रेमाश्रय शाखा कवि और काव्य

प्रेमकाव्य की रचना, विशेषतया सूफियों के कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है। भारत में जब मुसलमानी शासन स्थापित हुआ तब दोनों जातियाँ पास-पास आयी और परस्पर दोनों में स्नेह जागरण की आकांक्षा उठी। प्रेम-काव्य में यही भावना निहित है। प्रेममार्गी कवियों ने अधिकतर हिन्दुओं की प्रेम कथाओं को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। इन्होंने लौकिक प्रेम के सहारे अलौकिक प्रेम का वर्णन किया है। इस सम्प्रदाय के कवियों की तालिका इस प्रकार है —

कुतबन -

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने[१] इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग (संवत् १५५०) माना है। इनकी रचना "मृगावती" है। इसमें मृगावती की कहानी को दोहे और चौपाई के क्रम में पूर्ण किया है।

मंझन -

इनके जन्म और मृत्यु के सम्बन्ध में पूर्णरूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है। डा० सरला शुक्ल के अनुसार सन् १६१२ के पूर्व मंझन एवं उनकी मधुमालती को कोई नहीं जानता था। इसके अनुसार इनका अविर्भाव सन् १६१२ से पूर्व तो है ही नहीं।[२]

इनके ग्रन्थ मधुमालती की एक अपूर्व कृति प्राप्त हुयी है। ये ग्रन्थ फारसी लिपि में है। इसमें कनेसर के राजा के पुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है।

जायसी -

पद्मावत का रचनाकाल कवि ने ९२७ हिजरी मतलब सन् १५२०

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ९५

२. डा० सरला शुक्ला, हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० ३३३

माना है ।

इनके ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ पद्मावत है । इसकी भी हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुयी हैं जो कि पारसी लिपि में हैं । इसमें रानी पदमावती,नागमती और रत्नसेन के प्रेम का वर्णन हुआ है । पदमावत के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं -- अखरावट, आखिरी कलाम, कहरनामा ।

इसमें आखिरी कलाम एक छोटी सी पुस्तक है जो फारसी लिपि में प्राप्त हुयी है । इसकी रचना ९३६ हिजरी में बाबर के शासनकाल में हुयी थी । अखरावट को पदमावत के पहले की रचना माना गया है । इसका रचना काल ९११ हिजरी माना गया है ।

उसमान -

डा० सरला शुक्ला के अनुसार जहाँगीर के समय में कवि उसमान थे । जहांगीर का शासनकाल सं० १६६२-१६८४ था । अत: कवि उसमान का स्थिति-काल भी अनुमानत: यही हो सकता है ।[१] इन्होंने अपनी पुस्तक "चित्रावली" की रचना सन् १०१२ हिजरी में की थी । प्रेममार्गी कवियों की भाँति इन्होंने भी अपनी रचना का आरम्भ मुहम्मद साहब, अपने चारों मीत और गुरु की प्रशंसा के पश्चात् किया है ।

शेखनबी -

ये जहाँगीर के समय में वर्तमान थे, इनके ग्रन्थ का रचनाकाल हि० सन् १०२६ दिया हुआ है । इनकी रचना ज्ञानदीप एक आख्यान-काव्य है, जिसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की प्रेम कथा का वर्णन है ।[२] डा० सरला शुक्ला के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १६१९ है ।

कासिमशाह -

इन्होंने "हंस जवाहिर" नाम की एक कहानी लिखी है,जिसमें राजाहंस

---

१. डा० सरला शुक्ला, हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० ३५१

२. डा० सरला शुक्ला, हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० ४१६

और रानी जवाहिर की कथा है । ये भी फारसी लिपि में ही प्राप्त हुयी है । मुहम्मदशाह का शासनकाल सन् १७७६-१८०५ है साथ ही कवि ग्रन्थ का रचनाकाल हि० सं० ११४६ या सन् १७६३ बताया गया है,[1] अत: कवि का स्थितिकाल मुहम्मदशाह का राज्यकाल ही निश्चित होता है ।

नूरमुहम्मद -

इन्होंने 'इन्द्रावती' नामक एक आख्यान-काव्य लिखा है, जिसका रचनाकाल सन् ११५७ हि० माना गया है । इन्द्रावती में कालिंजर के राजकुमार राजकुंवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कहानी है । इनका एक ग्रन्थ और प्राप्त होता है 'अनुरागबांसुरी' ये फारसी लिपि में रचा गया है । अनुराग बांसुरी का रचना-काल संवत् १८२१ बताया गया है । इनका एक ग्रन्थ नलदमन भी बताया गया है, जो अब तक अप्राप्त है ।

रामाश्रयी शाखा -

तुलसीदास -

तुलसीदास रामानुजी सम्प्रदाय के ही अधिक निकट दिखायी पड़ते हैं । इनके द्वारा रचे बारह ग्रन्थ प्रमाणिक माने गये हैं ।

१- रामचरितमानस

२- दोहावली

३- कवितावली

४- गीतावली

५- विनयपत्रिका

६- रामलला नहछू

७- पार्वतीमंगल

८- जानकीमंगल

६- बरवै रामायण

---

१. डा० सरला शुक्ला, हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० ४३१

१०- वैराग्य संदीपिनी

११- कृष्णगीतावली

१२- रामाज्ञा प्रश्नावली

नागरी प्रचारिणी सभा ने तुलसीदास के इन्हीं १२ ग्रन्थों को प्रमाणिक मानकर उनका प्रकाशन किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इन बारह ग्रन्थों को ही प्रमाणिक माना है[१] ।

कृष्णभक्ति शाखा कवि और काव्य

इस शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हैं । सूरदास के साथ अन्य सात कवि और हुए -- परमानन्ददास, कुम्भनदास एवं चतुर्भुजदास ये कवि आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षित थे और गोविन्ददास, नन्ददास, छीत स्वामी एवं कृष्णदास इनके दीक्षा गुरु विठ्ठलनाथ जी थे । इस प्रकार ये आठ कवि अष्टछाप के कवि के नाम से विख्यात हुए । कृष्णभक्ति शाखा के ये प्रमुख कवि वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं ।

सूरदास -

पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सूरदास का जन्म संवत् १५४० और मृत्यु सं० १६२० के आस पास है । काशीनागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची निम्न हैं --

१- सूरसागरसार

२- साहित्यलहरी

३- सूरसारावली

४- गोबर्धनलीला

५- दशम स्कंध टीका

६- नागलीला

७- पदसंग्रह

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४४

८- भागवत भाषा

९- सूरपचीसी

१०- सूरदास जी का पद

११- श्याम सगाई

१२- व्याहलो

१३- नलदमयन्ती

१४- एकादश महात्म

१५- रामजन्म

श्री द्वारिका दास पारिख ने निम्न चार और रचनाओं का उल्लेख किया है - सूर-साठी, सेवाफल, भागवत चरणचिन्ह, बारहमासी । डा० दीनदयाल गुप्त के अनुसार— सूरसागर, साहित्यलहरी और सूरसारावली ही सूर की प्रमाणिक रचनाएं हैं परन्तु डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने तो केवल सूरसागर को ही प्रमाणिक माना है ।

कृष्णदास -

प्रभुदयाल मीतल ने इनका जन्म सं० १५२५ और मृत्यु सं० १६५० के आस-पास मानी है।[१]

इनका लिखा हुआ कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु स्फुट पद यथेष्ट संख्या में प्राप्त हो जाते हैं । कांकरौली विद्या विभाग में इनके द्वारा रचित २०० पद संग्रहित हैं । डा० श्यामसुन्दरदास ने इनकी दो पुस्तकों का उल्लेख किया है । "दानलीला" और "पदावली" सम्भव है ये उनके स्फुट पदों का ही संग्रह हो ।

परमानन्ददास -

इनका जन्म सं० १५५० की मार्गशीर्ष शु० ७ को और मृत्यु सं० १६४१ की जन्माष्टमी के दूसरे दिन हुआ था।[२]

प्रभुदयाल मीतल ने इनकी निम्न रचनाओं का उल्लेख किया है -

१- परमानन्ददास जी कौ पद

२- परमानन्द सागर

---

१. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पृ० ९९
२. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पृ० १७७

३- दानलीला

४- उद्धवलीला

५- ध्रुवचरित

६- संस्कृतरत्नमाला

इनकी रचनायें सरस और भावपूर्ण हैं ।

कृष्णदास -

इनका जन्म सं० १५५३ और मृत्यु सं० १६३६ के लगभग मानी गयी है ।[१] इनके निम्नलिखित ग्रन्थ बताये गये हैं --

१- भ्रमर गीत

२- प्रेम तत्व निरूपण

३- भक्तमाल की टीका

४- वैष्णव वन्दन

५- कृष्णदास की बानी

६- प्रेमरस सागर

७- भगवत भाषानुवाद

८- जुगलमान चरित्र

डा० दीनदयाल गुप्त ने इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का वर्णन किया है । परन्तु इसकी प्रमाणिकता में सन्देह है, क्योंकि कृष्णदास नाम के कई कवि हुए हैं । इन पदों का एक संग्रह विद्या विभाग कांकरोली से प्रकाशित है ।

नन्ददास -

नन्ददास का जन्म सं० १५९० के लगभग सूकर क्षेत्र के आस-पास और मृत्यु सं० १६४० के आस-पास हुयी थी ।[२]

प्रभुदयाल मीतल ने इनके निम्नलिखित ग्रन्थों को प्रमाणिक माना

---

१. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पृ० २१८

२. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पृ० ३०६

है --

१- अनेकार्थ मंजरी
२- मानमंजरी
३- रसमंजरी
४- रूपमंजरी
५- विरहमंजरी
६- श्याम-सगाई
७- सुदामा चरित
८- रुक्मणी मंगल
९- भ्रमरगीत
१०- रासपंचाध्यायी
११- सिद्धान्त पंचाध्यायी
१२- दशम स्कन्ध भाषा

डा० दीनदयाल गुप्त ने अपनी पुस्तक में 'गोवर्द्धनलीला' और 'नन्ददास पदावली' इन दो ग्रन्थों का और उल्लेख किया है।[१]

गोविन्द स्वामी -

इनका जन्म १५६२ के आस-पास और मृत्यु १६४२ के आस-पास मानी गयी है।[२]

इन्होंने स्फुट पदों की ही रचना की है। इनके पदों का एक संग्रह विद्या विभाग कांकरोली से प्रकाशित हुआ है। इनके काव्य का विषय राधाकृष्ण की शृंगारात्मक लीला ही है।

चतुर्भुजदास -

इनका जन्म सं० १५८७ और मृत्यु सं० १६४२ मानी गयी है।[३]

---

१. डा० दीनदयाल गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, द्वितीय भाग
२. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पृ० २४२
३. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पृ० २७३

इनकी निम्नलिखित रचनाएं बतायी जाती हैं --

(१) भक्तिप्रताप

(२) मधुमालती

इनके तीन पद संग्रहों का भी वर्णन मिलता है --

(१) चतुर्मुख कीर्तन संग्रह

(२) कीर्तनवली

(३) दानलीला

छीतस्वामी -

इनका जन्म सं० १५७२ के लगभग और मृत्यु सं० १६४२ के लगभग मानी गयी है।

इनके द्वारा रचा गया कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। इन्होंने केवल स्फुट पदों की ही रचना की है। डा० दीनदयाल केवल स्फुट पदके गुप्त ने इनके छपे हुए ६४ पदों का उल्लेख किया है।

—

---

१. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पृ० २६३

भक्ति काव्य : लोकचेतना और शास्त्रीयता—

(लोकप्रचलन, विश्वास अभिप्राय, रूढ़ियाँ)

भक्तिकाव्य की उपलब्धि में लोक तत्वों का पर्याप्त योगदान है। लोकवार्ता के विभिन्न उपादानों को ही लोकतत्व की संज्ञा दी गयी है। लोकतत्व के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा परम्परित प्रत्येक आचार-विचार समाहित होते हैं। लोकवार्ता द्वारा निर्मित प्रत्येक तत्व लोकतत्व कहलाता है, जैसे परम्परायें, कथाएँ, रूढ़ियाँ, विश्वास, अन्धविश्वास, रीति, नीति, धर्मकथायें, धार्मिक विश्वास इत्यादि सब लोकतत्व ही हैं। इन लोक-तत्वों में अप्राकृतिक और अमानवीय तत्वों का भी समावेश रहता है। भक्तिकाव्य लोकचेतना का काव्य होने के कारण लोकतत्वों को अपने में समाहित किए हुए है।

भक्तिकाव्य की दो प्रमुख शाखायें हैं - प्रथम निर्गुण
द्वितीय सगुण

निर्गुण काव्य भी दो शाखाओं में विभक्त है --

(१) ज्ञानाश्रयी शाखा (२) प्रेमाश्रयी शाखा

ज्ञानाश्रयी शाखा का काव्य-कला के तत्वों की दृष्टि से विवेच्य नहीं हैं। इन संत कवियों ने अपने उपदेशों को सामान्य जनता के बीच सामान्य भाषा के माध्यम से प्रवाहित किया है। लोकसमाज के बीच से उत्पन्न होने के कारण इन संत कवियों ने लोक प्रचलित विश्वास और लौकिक रीति-रिवाजों का भी वर्णन किया है। संतकाव्य के प्रतिनिधि कवि कबीरदास हैं। इन संत कवियों ने साखी, रमैनी और सबद का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया है, परन्तु कोई कथा प्रधान ग्रन्थ नहीं लिखा है। संत कवि कबीरदास ने अपने भक्ति ज्ञानमूलक उपदेशों को सामान्य जनता के बीच प्रचारित किया था --

"नाँ कुछ किया न करहिंगे, नाँ करनै जोग सरीर
जो कुछ किया सो हरि किया, भया कबीर कबीर"[१]

अंधविश्वास रूढ़ियों इत्यादि का कबीर ने भी प्रयोग किया है। पूर्वजन्म फल

---

१. डा० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६५

पर भी कवि को विश्वास था --

"देखो करम कबीर का कछु पुरबाला लेख
जाका महल न मुनि लहैं सो दोसत किया अलेख"[1]

भक्तिकाव्य में प्रेमाख्यान काव्य लोकतत्वों की दृष्टि से परिपूर्ण है । इस शाखा के प्रमुख कवि जायसी हैं । जायसी ने अपने काव्य में पर्याप्त रूप से परम्पराएं, कथायें, रूढ़ियाँ इत्यादि का वर्णन किया है । इन्होंने अपने विचारों को जनता में फैलाने के लिए अपने काव्यों की भाषा, जनसाधारण की भाषा अवधी को ही रखा है जिसमें न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग है, और न ही भाषा को जटिल बनाने का प्रयास किया है । इन प्रेमाख्यान कवियों के काव्य का मुख्य विषय प्रेम-कथायें ही हैं ।

प्रेमाख्यान काव्य, काव्य कथाओं की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है । इस प्रेमकाव्य का मूलस्रोत लोकप्रचलित कहानियां हैं । इन सूफी कवियों ने अधिकतर हिन्दुओं की प्रेम-कथाओं को ही अपने काव्य का आधार बनाया है । परन्तु इनकी कथाओं में कुछ फारसी कथाओं की रूढ़ियाँ भी व्याप्त होती हैं । इन लौकिक लोक-कथाओं के द्वारा वह ज्ञानोपदेश देते हुए अलौकिक के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हैं और आवश्यकतानुसार हेर-फेर करके मनुष्य जगत के साथ-साथ प्रकृति और पशु जगत को भी सूत्रबद्ध दिखाया है । प्रेमाख्यान काव्य में प्रमुख काव्य ग्रन्थ 'पदमावत' को माना गया है । जायसी ने पदमावत के पूर्वार्ध में तो एक सामान्य लोककथा को ही समाहित किया है, पर उत्तरार्ध का कुछ भाग इतिहासाश्रित है । लोककथानक में कल्पना, बहुलता तथा अप्राकृतिक तत्वों की भी प्रधानता है । जैसे - शुक का मनुष्य की वाणी बोलना --

सत्य कहत राजा जिउ जाऊ । पै मुख असत न भाखौं काऊ
हौं सत लेइ निसरेउं एहि बूते । सिंघलदीप राजघर हूते
पदमावति राजा कै बारी । पदुम-गंध ससि बिधि औतारी
ससि मुख, अंग मलयगिरि रानी, कनक सुगंध दुवादस बानी[2]

---

1. डा० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६६
2. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३४, राजा सुआ संवाद खण्ड

परिवार के चाँद को दूज के चाँद में परिवर्तित कर देना, द्वितीया के आसन पर ध्रुव को विराजमान करना --

`तेहि लिलार पर तिलक बईठा । दुइज पाट जानहु ध्रुव दीठा`[1]

साथ-साथ अनेक रूढ़ियों के भी दर्शन होते हैं जैसे -- स्वप्न दर्शन या रूप गुण के द्वारा प्रेमोत्पत्ति, प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए प्रेमी का राज्य-पाठ तक को त्याग करना, पंछी द्वारा सन्देश भेजना, आलौकिक अमानवियों शक्तियों की कृपा अकृपा ।

निर्गुण भक्ति शाखा की अपेक्षा सगुण भक्तिशाखा में लोक कथाएं प्रचुरता से प्राप्त होती हैं । सगुण भक्तिशाखा में रामचरितमानस और सूरसागर प्रमुख ग्रन्थ हैं । इनमें भी हम रूढ़ियों, अंधविश्वासों और काव्यरूपों, रीति-रिवाजों इत्यादि के दर्शन पाते हैं । रीति-रिवाजों का वृहद वर्णन मानसकार ने मानस में श्रीराम के विवाह अवसर पर बड़े मनोयोग से किया है --

`मंगल मूल लगन दिनु आवा । हिम रितु अगहनु मासु सुहावा
गृह तिथि नखतु जोगु पर बारु । लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारु`[2]

इसी प्रकार सूरसागर में सूरदास ने भी श्रीकृष्ण के विवाह के लिए शरद् ऋतु की लगन शोध कर रखी है -

`बनी लग्न जु सरद-निसि की, सोधि करि गुरु रास`[3]

रीति-रिवाजों के अन्तर्गत ही —

मंडप शोभा—

(क) मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरतां मुनि मन हरे,
निज पानि जनक सुजान सब कहुं आनि सिंघासन धरे[4]

< < <

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ४१, नखसिख खण्ड

२. तुलसीदास, रामचरितमानस-बालकाण्ड, दो० ३, पृ० ३१४,
व्याख्याकार -हनुमानप्रसाद पोद्दार

३. सूरदास, सूरसागर, पदसंख्या -१४८१, पृ० ६२६, नन्ददुलारे बाजपेयी

४. रामचरितमानस, वही, पृ० ३२३

(ख) छाए जु फूलनि कुंज-मंडप, पुलिन मैं बेदी रची
बैठे जु स्यामा स्याम वर, त्रैलोक की सोभा सची[१]

भाँवर—

(क) प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरीं । नेग सहित सब रीतिनिबेरी
राम सीय सिर सेंदुर देहीं । सोभा कहि न जाति बिधि केहीं[२]

(ख) तब देत भाँवरि कुंज-मंडप, प्रीति ग्रंथि हियें परी
अति रुचिर परम पवित्र राका,निकट बृंदा सुभ घरी
गाए जु गीत पुनीत बहुविध, बेद-रुचि-सुन्दर-ध्वनि
श्रीनंद-सुरत वृषभानु-तनया रास मैं जोरी बनी[३]

लोकप्रचलित अन्धविश्वास टोना-टोटका, मन्त्रोपचार, शकुन-अपशकुन इत्यादि का भी वर्णन मिलता है । भक्त कवियों ने भी इन लोकप्रचलित उपादानों की उपेक्षा नहीं की ।

शकुन वर्णन—

(क) चारा चाषु बाम दिसि लेई[४]

(ख) दाहिन काग सुखेत सुहावा[५]

(ग) लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा[६]

(घ) मृगमाला फिरि दाहिनि आई[७]

---

१. सूरसागर, छन्द १६६०, पृ० ६२०
२. रामचरितमानस, चौपाई ४, पृ० ३३१
३. सूरसागरसार, प्रथमखण्ड, पृ० ६३१
४. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० १, पृ० ३०६
५. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० ३०६
६. रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० ३०६
७ रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० ३०६

अपशकुन वर्णन -

(क) असगुन होहिं नगर पैठारा-रटहिं कुभाँति कुखेत करारा[१]

(ख) खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला[२]

(ग) देखहिं राति भयानक सपना[३]

ऋतु वर्णन का प्रयोग भी मानस में हुआ है । इस काव्य रूढ़ि का प्रयोग तुलसीदास ने सीताहरण के पश्चात् राम को सीता के वियोग में व्याकुल प्रसंग में,अत्यन्त मर्यादा-पूर्ण सम्पन्न किया है ।

(क) 'पूछत चले लता तरु पाँती'[४]

(ख) हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी[५]

इसी प्रकार सूरसागर में भी श्रीकृष्ण के चले जाने के पश्चात् गोपियाँ विरह-व्यथित होकर पेड़ पौधों से पूछती हैं -

'मधुबन तुम क्यौं रहत हरे
बिरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यौं न जरे '[६]

जायसी ने तो पदमावती के विरह में पूरा षड्-ऋतुवर्णन ही लिख डाला । इस तरह हिन्दी का भक्ति साहित्य लोकचित्त, लोकधर्म, लोकभाषा का साहित्य रहा है । इसमें लोकप्रचलित सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं । भक्तिकालीन कवियों ने लोक-प्रचलित कथानक, रूढ़ियों, रीतिरिवाजों का आलम्बन ग्रहण किया है । भक्ति कवियों ने लौकिक लघु वार्ताओं को भी ग्रहण किया है । संत कवियों ने भी लोक-प्रथाएँ-परम्पराएँ आदि का वर्णन किया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकाव्य पूर्णत: लोकतत्त्व चेतना काव्य है ।

१-२ रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० २,३, पृ० ५२१
३ रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ५२०
४-५ रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, चौ० ४,५, पृ० ७३२
६ सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पृ० ३२१०, पृ० १३५३

भक्तिकाव्य लोकतत्व चेतना का काव्य तो है ही, साथ ही साथ उसमें भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के अवशेष भी दिखायी पड़ते हैं।

रस दृष्टि--

रस काव्य का प्राण है, रस-रहित काव्य, काव्य नहीं होता यह अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, इसकी प्रतिष्ठा को केवल रसवादियों ने ही स्वीकार नहीं किया है, अलंकारवादियों, रीतिवादियों और गुणवादियों ने भी स्वीकार किया है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीरदास भक्त पहले हैं, कवि बाद में। इनकी भक्तिपरक जितनी भी उक्तियाँ पायी जाती हैं सबमें या तो शान्तरस प्रमुख है या फिर भक्तिरस। इन्होंने श्रृंगार रस पूर्ण उक्तियों का भी वर्णन किया है, किन्तु इस श्रृंगाररस का दर्शन हम केवल रहस्यवाद के अन्तर्गत दाम्पत्य प्रतीकों के सहारे देख पाते हैं।

सूरदास ने तो प्रमुख रूप से श्रृंगार रस का ही वर्णन किया है। श्रृंगाररस के दोनों पक्षों को ही इन्होंने अत्यन्त तन्मयता के साथ वर्णित किया है। श्रृंगार के साथ-साथ वात्सल्य भी इनका अत्यन्त प्रिय रस रहा है। नेत्रहीन होने पर भी इन्होंने वात्सल्य प्रेम की जिन बारीकियों को वात्सल्यरस के सहारे दर्शाया है वह सराहनीय है।

तुलसी काव्य का उद्देश्य राम का गुणगान या प्रचार करना है। तुलसी के शब्दों में स्वान्त: सुख की प्राप्ति ही मानस रचना का मूल तथा चरम प्रयोजन है। तुलसीदास ने राम को परम सत्य, परम सौन्दर्य, परम आनन्द, लोकमंगल मूर्ति के रूप में निरूपित किया है। इसलिए तुलसीदास अपने काव्य का सर्वप्रधान गुण रामयश मानते हैं। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति की प्रधानता उन्हें रसवादी सिद्ध करती है। तुलसी ने अपने काव्य को सर्वजन हिताय बताया है --

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई"[१]

और सर्वजन हिताय वही काव्य हो सकता है जो रस को सर्वोपरि स्थान देता है।

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ०, पृ० २२

तुलसी के रस स्वरूप की सबसे बड़ी विशेषता उनकी आनन्दात्मक प्रकृति है ।

तुलसीदास ने नव रसों से श्रेष्ठ भक्ति रस को माना है । भक्ति रस की सत्ता को उन्होंने अलग से स्वीकार किया है । भक्ति रस को उन्होंने अलग से एक स्वतन्त्र रस माना है । उनकी दृष्टि में भक्ति रस सविशेष है ।

'राम कथा के सुनत अघाहीं । रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं'[1]

भक्तिरस को इन्होंने रसराज कहा है तथा इस रस के बिना काव्य को श्रीहीन बताया है ।इसके अलावा तुलसीदास ने सभी रसों का प्रयोग किया है । वात्सल्यरस का वर्णन भी बालकाण्ड के कुछ दोहों में दिखायी पड़ता है ।

जायसी का पदमावत भी शृंगार रस प्रधान काव्य है । शृंगार के दोनों ही पक्षों - संयोग और वियोग, दोनों ही पक्षों का विस्तार और गम्भीरतापूर्ण वर्णन हुआ है । पर जायसी का वियोग पक्ष अतुलनीय है । नागमती वियोग खण्ड में वियोग को उभारने के लिए पूरा का पूरा षड्ऋतु वर्णन ही कर डाला है जो अत्यन्त मार्मिक भी है । जायसी ने नागमती की विरह व्यथा को अत्यन्त मधुरता और भावुकता के साथ साकार किया है -

'सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ?
झुरि झुरि पींगर हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह'[2]

इसके साथ ही साथ अन्य रसों का भी वर्णन हुआ है, जैसे - गोरा बादल प्रसंग में वीररस की अभिव्यक्ति हुयी है । करुणारस का वर्णन भी पद्मावती की विदाई के समय और रत्नसेन का चितौड़ से प्रस्थान के समय दिखायी पड़ता है ।

वात्सल्य रस की निष्पत्ति भी दो प्रसंगों में प्रमुख रूप से दिखायी पड़ी है । प्रथम प्रसंग बादल का रत्नसेन को छुड़ाने के लिये चलते समय, उसकी माता का अनिष्ट की आकाँक्षा से वात्सल्य का उमड़ना ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकाव्य में रसपूर्णता विराजमान है ।

---

१. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, चौ० १, पृ० १०७८

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० १३१

अलंकार— अप्रस्तुत विधान :

दण्डी के अनुसार काव्य के शोभा विधायक धर्मों को अलंकार कहा जाता है। पर कबीर ने अपने काव्य को कभी साहित्यिक बनाने की चेष्टा नहीं की है। उनके लिए अलंकार साध्य नहीं बल्कि स्वाभाविक रूप से केवल साधन मात्र थे। अलंकारों का प्रयोग उन्होंने बलपूर्वक नहीं किया है, बल्कि स्वाभाविक रूप से अलंकारों का प्रयोग काव्य को प्रभावात्मक बना गया है। इन अलंकारों में सबसे प्रमुख उपमा और रूपक है। कबीर के रूपक अत्याधिक प्रसिद्ध हैं --

"नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय
पलकों की चिक डालि कै, पिय को लिया रिझाय"

इस पद का वर्णन डा० पारसनाथ तिवारी ने नहीं किया है।

कबीर के रूप के अतिरिक्त उपमाएं भी अत्यन्त सुन्दर हैं --

"कागद केरी नाव री, पानी केरी गंग
कहै कबीर कैसे तिर, पंच कुसंगी संग"[१]

अनुप्रास अलंकार भी कहीं-कहीं देखने को मिल जाता है —

"मै मंता मन मारि रे, घट ही मांहे घेरि
जब ही चाले पीठि दे, आंकुस दे दे फेरि"[२]

कबीरदास ने अलंकारों की भीड़ नहीं लगायी है। गिने चुने अलंकारों का ही प्रयोग किया है पर स्वाभाविकता से।

जायसी ने शब्दा और अर्था दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। इन्होंने लगभग सभी अलंकारों को अपनाया है। सादृश्यमूलक अलंकारों ने इनके काव्य को गाम्भीर्य देने के साथ-साथ भावोत्कर्ष तक पहुँचने में भी सहायता दी है। कवि अप्रस्तुतों का आश्रय अपने अन्तर के भावों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने के लिए लेता है। वहाँ उसे यह शंका होने लगती है कि उसके भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हुए हैं वहीं वह अप्रस्तुतों की ओर आसक्त हो उठता है। कुछ भाव कवि के ऐसे होते हैं कि जिनको वह स्पष्ट तो कर देता है पर उसके प्रति सन्तुष्ट नहीं होता,

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३०

तब उसे बोधगम्यता के स्तर तक ले जाने के लिए वह फिर अप्रस्तुतों की ओर झुकता है ।

जायसी ने उत्प्रेक्षा के सहारे अपनी कल्पना को आकर्षित ढंग से दर्शाया है ।

(क) "कैनी छोरि झार जौ बारा । सरग पतार होइ अंधियारा"[१]

(ख) "दिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा । सहिर भरी अँगुरी तेहि साथा"[२]

जायसी की उपमा योजना भी अत्यन्त मनोहारी है । उपमान के साथ-साथ अन्य अलंकारों का प्रयोग भी प्रवाहशाली है । 413459

सूरदास ने भी लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग किया है । इन्होंने भी शब्द तथा अर्थ दोनों ही प्रकार के अलंकारों को अपनाया है । कवि ने अपनी कल्पना तथा श्री कृष्ण के विभिन्न रूपों को, विभिन्न क्रियाकलापों को, अनेकों उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के माध्यम से प्रकट किया है । इसी कल्पना शक्ति के सहारे उन्होंने प्रकृति रूप, सौन्दर्य प्रियता का सूक्ष्म से सूक्ष्मतम परिचय दिया है । इन्होंने एक से एक सुन्दर उपमाओं का प्रयोग किया है ।

अब तो प्रगट भई जग जानी
वा मोहन सौं प्रीति निरन्तर, क्यौं ब रहैगी छानी ।।
कहा करौं सुंदर मूरति, इन नैननि माँझ-समानी ।
निकसत नहीं बहुत पचिहारी, रोम रोम अरुझानी ।।
अब कैसैं निरवारि जाति है, मिली दूध ज्यौं पानी ।
सूरदास-प्रभु-अन्तरजामी, उर अन्तर की जानी ।।[३]

इसी प्रकार उन्होंने अनेकानेक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं रूपक इत्यादि का वर्णन किया है ।

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ४१
२. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ४६
३. सूरसागर सार, पद २२७५, पृ० ८३३

गोस्वामी तुलसीदास गम्भीर प्रकृति के मर्यादावादी कवि हैं। अलंकारों का प्रयोग उन्होंने किया है, परन्तु अत्यन्त सधे हुए रूप में, अलंकार को ही उन्होंने काव्य का प्रधान तत्व नहीं स्वीकार किया है। अलंकारों का प्रयोग इन्होंने किया जरूर है, पर उनके काव्य के प्रधान तत्व रामत्व या शिवत्व ही है। इ उनका काव्य धार्मिक तथा सामाजिक वृत्ति की प्रधानता रखने वाला है। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया है पर अत्यन्त मर्यादित रूप में। जैसे --

'अरबिंदु सो आननु रूप मरंदु
अनंदित लोचन-भृंग पिएँ'.[१]

उपमा का अत्यन्त सुन्दर रूप से वर्णन किया है। इसी प्रकार अन्य सभी अलंकारों का प्रयोग किया है, परन्तु अत्यन्त सधे हुए रूप में।

छन्द विधान--

कबीरदास ने छन्दों का भी प्रयोग किया है पर इनके छन्द पिंगल इत्यादि के नियमों से बँधे हुए नहीं हैं। छन्दों का प्रयोग किया है, पर स्वतन्त्र मन से। विशेष ध्यान इनका गीति और लय पर ही रहा है।

जायसी ने पद्मावत की रचना चौपाई-दोहा-छन्द में की है। इसमें आरम्भ में सात चौपाई और अन्त में दोहा को रखा गया है। जायसी ने दोहा, चौपाई में कहीं-कहीं नियमों का उल्लंघन भी किया है।

सूरसागर में भी छन्दों का प्रयोग हुआ है परन्तु गेय पदों की रचना होने के कारण इनका स्थान निम्न है। सूरसागर में कवि छन्दों का प्रयोग करने में स्वतन्त्र दिखायी दिया है, और छन्दों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके अपनी मौलिक उद्भावना को प्रदर्शित किया है। छन्दों के प्रयोग में इन्होंने संगीत से अधिक भावों पर ध्यान रखा है।

शैली विधान--

भक्तिकालीन कवियों में शैली तत्व भी दिखायी पड़ते हैं। किसी कवि ने सधुक्कड़ी भाषा शैली को अपनाया है, तो किसी ने गीति शैली को।

---

१ कवितावली, बालकाण्ड, पृ०८

गोस्वामी तुलसी ने अपने समय में व्याप्त लगभग सभी काव्य शैलियों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया है। रामचरित मानस में मुख्यरूप से, महाकाव्यों में प्रयुक्त दोहे चौपाई वाली वर्णन-युक्त शैली का प्रयोग किया है। जानकी मंगल और पार्वती मंगल में खण्ड काव्य की वर्णनात्मक शैली को अपनाया गया है। विनयपत्रिका, गीतावली में गीति शैली का प्रयोग किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास ने अपनी कृतियों में शास्त्रीय और लौकिक दोनों प्रकार की शैलियों का सफलतापूर्वक वर्णन किया है।

सूरदास ने भी सूरसागर में कालियादमन, गोवर्धनलीला, दानलीला, मानलीला, रासलीला, भँवरगीत प्रसंग इत्यादि में वर्णनात्मक शैली को अपनाया है। पनघट-प्रसंग, श्री राधा कृष्ण, चीरहरनलीला, इत्यादि कथाओं की शैली आवश्यकतानुसार अनुरंजकतापूर्ण है। इन प्रसंगों की विशेषता यही है कि शैली की दृष्टि से यह सरस, सरल, प्रवाहपूर्ण है, तथा उनकी शैली ऋजु एवं अव्यवहृत है। वात्सल्य भाव से सम्बन्धित पदों की भाषा अत्यन्त स्वाभाविक है। अपने भावों को अनुभूत करने के लिए कवि ने अपनी कल्पना के विविध प्रयोगों को प्रदर्शित किया है। इन पदों की शैली में प्रौढ़ता, गम्भीरता, उत्साह लालित्य और सहज प्रवाह है।

जायसी ने अपने काव्य पदमावत की रचना फारसी पद्धति की मसनवी काव्य-शैली में की है। इन्होंने अपने काव्य के वर्ण्य-विषय के अनुरूप वर्णनात्मक, उदात्त और गम्भीर शैली अपनाई है। शृंगार प्रधान काव्य होने के कारण इसमें माधुर्य और प्रसाद, गुणों की प्रधानता भी पाई जाती है। पदमावत की शैली विषयानुकूल मधुर और कोमल भी है।

काव्य रूपों के सन्दर्भ में—

काव्य रूपों के सन्दर्भ में यदि हम जायसी के काव्य पदमावत को लेते हैं तो साहित्यदर्पणकार के अनुसार पदमावत महाकाव्य की कोटि में आता है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार बताये गये महाकाव्य के सारे नियमों का पालन हम पदमावत के अन्तर्गत पाते हैं। पदमावत को नायक रत्नसेन श्रेष्ठ क्षत्रिय कुल का है। शौर्य, वीर, पराक्रम, दया, धर्म, स्वाभिमान, सभी गुणों को हम इसमें पाते हैं।

नायिका पदमावती अलौकिक सुन्दरी होने के साथ-साथ प्रेम, तेज,

पति-परायणता इत्यादि गुणों से सम्पन्न है। इसके साथ- ही साथ वह उच्चकुल की क्षत्रिय वंश की राजकुमारी भी है। शृंगार रस इसमें प्रधान रस है और अन्य रस सहायक रस है।

पदमावत का नाम नायिका पदमावती के नाम पर रखा गया है। पदमावती की कथा का प्रधान फल मोक्ष है।

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस, महाकाव्य की कोटि में आता है। महाकाव्यगत सारे गुणों को वह अपने में समेटे हुए है। ये महाकाव्य सात सर्गों में विभाजित है --

सात प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन आना

नायक और नायिका दोनों ही उच्च कुल के होने के साथ-साथ अनुकूल गुणों को भी अपने में समाहित किये हुए हैं।

तुलसीदास का जानकीमंगल खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। मानव जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर चलने वाले प्रबन्धकोटि के काव्य खण्डकाव्य कहलाते हैं। खण्डकाव्य का प्रमुख लक्षण वस्तुप्रधानता होती है।

मुक्तक काव्यों के अन्तर्गत तुलसी की दोहावली, कवितावली, हनुमान बाहुक इत्यादि रचनायें आती हैं। पर गीतितत्त्व की प्रधानता के कारण इन्हें गीति काव्य की ही श्रेणी में रखा जाता है। मुक्तक काव्य एक श्लोक प्रधान पद्यों में चमत्कार उत्पन्न करने वाली रचना को कहते हैं।

एकार्थकाव्य के अन्तर्गत तुलसी कृत बरवै रामायण को रखा जा सकता है, इसमें सम्पूर्ण राम-कथा को आधार मानकर अति संक्षिप्त प्रबन्ध रूप में यह कृति लिखी गयी है। तुलसी ने अपने काव्य के द्वारा चतुर्वर्गफल की ओर संकेत किया है।

इस प्रकार भक्तिकालीन कवियों की काव्य-कृतियों में हम काव्यरूपों का भी दर्शन करते हैं।

काव्यरूढ़ियों के सन्दर्भ में--

भक्तिकालीन सभी कवियों ने काव्यरूढ़ियों का प्रयोग किया है, जिसमें तुलसीदास ने इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है । रामकथा को पल्लवित करने के लिए तथा उसे मनोनुकूल दिशा देने के लिए कवियों ने इन रूढ़ियों का प्रयोग किया है । इन्होंने सर्वत्र रामकथा को ही अपना वर्ण्य विषय बनाया है । रूढ़ियों का प्रयोग इन्होंने कथा की आवश्यकतानुसार ही किया है । तुलसी ने इस काव्य-रूढ़ि तथा कवि समय के लिये 'प्रौढ़ि' शब्द का प्रयोग किया है --

'प्रौढ़ि सुजान जनि जानहिं जन की । कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की'[1]

काव्य रूढ़ियों की दृष्टि से तुलसी की समस्त रचनाओं में सबसे महत्वपूर्ण कृति रामचरितमानस है । क्योंकि इसका क्षेत्र व्यापक है और कथा को विकसित करने में कवि अधिक सजग है । कवितावली, गीतावली, इत्यादि में रूढ़ियों का प्रयोग कम ही हुआ है । कहीं-कहीं कथा को प्रवाहित करने के लिए ही उन्होंने इन कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया है ।

जब कोई विचार या घटना-काव्य में विभिन्न उद्देश की पूर्ति के लिए कई बार प्रयुक्त होती है, तो उसे काव्य रूढ़ि की संज्ञा दी जाती है । डा० रवीन्द्र भ्रमर ने इस विषय में लिखा है कि --'विभिन्न कथा कहानियों में बार-बार व्यवहृत होने वाली एक जैसी घटनाओं अथवा एक जैसे विचारों को 'कथानक रूढ़ि' की संज्ञा दी जाती है । उक्त प्रकार की घटनाएं या विचार सम्बद्ध कथानक के निर्माण अथवा उसके विकास में योग देते हैं और कथा-काव्यों में उनके उपयोग की एक सुदीर्घ परम्परा होती है ।'[2]

यह रूढ़ि शब्द अंग्रेजी भाषा के 'फिक्शन मोटिफ' का पर्यायवाची शब्द माना गया है । रूढ़ि शब्द अपने में बहुत व्यापक अर्थ रखता है ।

काव्य-रचना को ललित बनाने के लिए काव्याचार्यों ने कवि,समय,

---

१. मानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० ३३

२. डा० रवीन्द्रभ्रमर, हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व, पृ० ७५

काव्य रूढ़ियाँ वर्णक इत्यादि का वर्णन किया है । कविता अपने शास्त्रीय स्वरूप से पृथक न हो पाये इस कारण कविता का इन नियमों में बंधे रहना तर्कसंगत भी है ।

डा० शशि जोशी ने अपने शोधप्रबन्ध (काव्य रूढ़ियाँ) आधुनिक कविता के परिपेक्ष में) के अन्तर्गत काव्य रूढ़ियों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है ।

डा० गुलाब सिंह ने भी अपने शोधप्रबन्ध (मध्यकालीन हिन्दी कृष्णभक्तिकाव्य में साहित्यिक अभिप्राय) में काव्य रूढ़ियों का विवेचन किया है । डा० सिंह ने अपने शोधप्रबन्ध में इन काव्य-रूढ़ियों को दो वर्गों में विभाजित किया है --

(१) अलंकार्यगत रूढ़ियाँ
(२) अलंकारगत रूढ़ियाँ

अलंकार्यगत वर्णन में नायक-नायिका के नख-शिख वर्णन को सम्मिलित किया गया है । और अलंकारगत रूढ़ियों में अधिकतर मम्मट के ही काव्य-लक्षणों को अपनाया गया है । मध्यकालीन कवियों द्वारा भावों के उत्कर्ष हेतु इन अलंकारगत रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है । इन अप्रस्तुतों का प्रयोग प्राय: सभी मध्यकालीन भक्ति कवियों ने किया है और ये अप्रस्तुत प्रयोग शास्त्रीय परिपाटी के अनुकूल भी है ।

-

भक्ति काव्य और शास्त्रीयता की प्रमुख समस्याएं (विषय की आवश्यकता)

संस्कृत काव्यशास्त्र का स्वरूप मुख्यत: कलापेक्षि रहा है। कलात्मकता मूलत: सामन्तवादी शास्त्रीय परम्परागत मान्यताओं से जुड़कर पूरे काव्य को एक विशेष धारा की ओर ले जाती है। इस धारा की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं --

१- शब्दार्थ रचना की ओर अतिरिक्त फुकाव
२- रचनाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व की उपेक्षा
३- काव्य की मूल कलात्मक प्रवृत्ति के उद्घाटन और उसके आस्वाद की समस्या का विवेचन।
४- काव्य रचना के वे तत्व जिसका सम्बन्ध उसके व्यवहार के साथ है तथा कवि शिक्षा जैसे पक्षों को शास्त्रीयता के साथ जोड़ने का प्रयास।

भारतीय काव्यशास्त्र की इन शब्दों में विशेषताओं के सम्बन्ध में काव्य उसका अभिन्नतम अंग है। काव्य मूलरूपेण अपनी सैद्धान्तिकता की स्थिति में शास्त्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। भारतीय संस्कृत काव्य के अन्तर्गत कला निवेश की यह समस्या, उसकी मूल प्रकृति से अभिन्नता सम्बद्ध है। भारतीय काव्यशास्त्र की यह विशेषताएँ, मानव जीवन की सामान्य प्रवृत्तिमूलक धाराओं से अलग हैं। हिन्दी काव्य का जन्म मानवीय समस्याओं के साथ जुड़ा है।

हिन्दी काव्य का जन्म एक भिन्न परिस्थिति में हुआ है। वह संस्कृत के ललित काव्य की परम्परा से पूर्णत: हटकर है। यद्यपि आदिकाल राजाश्रय और सामन्तवादी चेतना का पूरा दबाव लिए हुए है। चारणकाल भी हमारे सामने आता है, लेकिन उसमें लोकात्मक अभिव्यक्ति की सहज आकांक्षाएँ सन्निविष्ट हैं -- लोकजीवन के अभिप्राय, विविध कथाएँ, विश्वास, रूढ़ियाँ सभी कुछ सामन्तवादी चेतना से भिन्न लोकात्मक आकांक्षा के रूप में इस काव्य के अन्तर्गत खोजे जा सकते हैं। चारणकाल के अतिरिक्त जैन, नाथ, सिद्ध साहित्य की भूमिका लोकात्मक रही है, और इस मन्तव्य से सम्बद्ध रही है कि जन-जीवन अपने सहजतम रूप में इसके माध्यम से व्यक्त हो सके। हिन्दी साहित्य में एक यह भी धारणा है कि नाथ, सिद्ध और जैन साहित्य को काव्य की शरण में नहीं

रखा जाना चाहिए, अर्थात काव्य के वे मूल्य और मापदण्ड जो परम्परागत साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं, इस साहित्य में दृष्टिगत नहीं होते । इस प्रकार के तर्क अब मान्य नहीं हैं । साहित्य की पहचान इससे नहीं होती कि वह किसी परम्परा से जुड़ा है, अपितु उसकी पहचान उसके अपने मापदण्डों, सन्दर्भों एवं तौर तरीकों से होती है । सामाजिक और रचनात्मक दृष्टियों से नाथ, सिद्ध जैसे काव्य की मूलभूत अभिव्यक्तियों का विवेक किया जा सकता है और इनकी अपनी रचनात्मक उपलब्धियों पर भिन्न रूप से प्रकाश भी डाला जा सकता है ।

लगभग आठवीं-नवीं शती के बाद सामन्तवादी लोकचेतना के प्रति सामान्य जन-जीवन में असन्तोष का भाव उभरने लगा था । मूलत: हिन्दी साहित्य का जन्म सामन्तवादी ललित काव्य की प्रक्रिया में हुआ । इसे विशेष रूप से आदि-काल का धार्मिक साहित्य माना जाता है । वह अपने अभिव्यक्ति के माध्यमों में परम्परा से हट कर शुद्ध जनजीवन की लोकात्मक अनुभूति से जुड़कर सामने आता है । संस्कृत साहित्य में अभिजात्य एक सघन दृष्टि देखी जाती है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है रचना के सम्पूर्ण दृष्टिकोण में लालित्य और मधुररस को अभिव्यक्त करने की आकांक्षा इन रचनाओं को अभिजात्य से जोड़े हुए है । सामान्य जनजीवन भी लालित्य और माधुर्य की ओर आकर्षित होता है, लेकिन उनकी अपनी प्रकृति जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से जुड़ी हुई है । इसे उदाहरण के माध्यम से इस तरह अभिव्यक्त कर सकते हैं, जैसे कालिदास के किसी भी महाकाव्य में जनजीवन की अपनी यथार्थ परम आवश्यकता उद्देश्य के रूप में परिलक्षित नहीं होती । सामन्तों के कलात्मक विलास और जीवन के आनन्दामृतपरक सन्दर्भ, सम्पूर्ण साहित्य में व्याप्त हैं । दूसरी ओर तुलसी के रामचरितमानस को देखें तो यह बात और भी स्पष्ट होती है - सम्पूर्ण मानस इसलिए लिखा गया है कि मानव अपनी ऐहिक जगत की पीड़ाओं से छटपटाता हुआ एक अन्य ऐसे आलम्बन की खोज में है जो उसे उस पीड़ा, उस सन्ताप, उस क्लेश से मुक्ति दिला सके । कालिदास का सन्दर्भ कलात्मक है, तुलसी का सन्दर्भ मानवीय है, यही दोनों का अन्तर है और यही अन्तर अभिजात्य और लोकात्मक काव्य की विभाजक रेखा बनता है ।

तुलसी की ही भाँति उस परम्परा से जुड़े हुए कबीर, सूर, जायसी

जैसे कवियों में व्यक्त अनुभव और उस साहित्य की आवश्यकता लोकजीवन की आकाँक्षाओं का अभिन्न अंग है। यही नहीं इनकी अपनी पूर्ववर्ती परम्परा नाथ, सिद्ध और जैन काव्यों से है। वही इसी लोकात्मक दायरे से जुड़कर साहित्य को नया सन्दर्भ प्रदान करते हैं।

सम्पूर्ण भक्तिकाव्य संस्कृत के ललित साहित्य से, भिन्न मूल्यों पर टिका हुआ है। उसकी मूल समस्या मनुष्य से जुड़ी हुयी है, और मध्यकाल के मनुष्य की अवधारणा में उसके आध्यात्मिक सन्दर्भ सर्वोच्च आकांक्षाओं से सम्बद्ध है। संस्कृत के ललित साहित्य और भक्तिसाहित्य का बुनियादी अन्तर यही है -- एक कलापक्षीय है तो दूसरा मानव जीवन की यथार्थपरक आध्यात्मिक आवश्यकताओं से जुड़ता है। इस प्रकार संस्कृत के ललित साहित्य और हिन्दी भक्ति काव्य को सामान्य मूल्यों के प्रकाश में विवेचित करना निरर्थक है, फिर भी परम्परा के अवशेष भक्ति काव्य में हमें बाह्य स्तर पर अवश्य मिलते हैं, कारण कि भक्ति कवि भी अन्ततः कवि ही हैं। वे अपनी भक्ति विषयक आवश्यकता के लिए रचना को साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं, और जब रचना को साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं तो वे सनातन मूल्य जैसे- शब्दार्थ, रचना के सन्दर्भ अलंकार, रस, कविसमय और काव्यरूढ़ियाँ आदि कलात्मक अनिवार्यता के साथ जुड़कर इस काव्य में भी प्रकट होते हैं, और इसी काव्य में ही नहीं ये काव्य के सनातन धर्म होने के कारण कहीं भी किसी भी सन्दर्भ में खोजे जा सकते हैं। दूसरा तत्व परम्परा से जुड़ा हुआ है। हिन्दी काव्य से पूर्व जो भी काव्य-धारा वर्तमान थी, वह यही थी। इसके अपने मूल्य और मान्यदण्ड भले ही भिन्न रहे हों लेकिन काव्य अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से अविच्छिन्न जुड़े हुए होने के कारण अनेक दृष्टि परम्परा पर आश्रित दिखायी पड़ता है। भक्ति काव्य मूल्यों की दृष्टि से न सही किन्तु परम्परा की दृष्टि से संस्कृत के ललित काव्य पर आश्रित है और परिणामतः संस्कृत ललित साहित्य के बाह्य मूल्य और मानदण्ड इस काव्य में भी उसी क्रम में वर्तमान हैं, किन्तु यहां भूमिका सन्दर्भ बदला हुआ है। संस्कृत के ललित साहित्य में सम्पूर्ण कलात्मक मानदण्ड माध्यम के रूप में है। यहाँ कलात्मक मूल्य साध्य नहीं है साधन है जबकि संस्कृत साहित्य में वे कलात्मक अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग हैं।

इसके अतिरिक्त जैसा कि अभी निर्देश किया जा चुका है, हिन्दी भक्तिकाव्य की अपनी निजी प्रवृत्तियाँ हैं और उन प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के लिए उसकी शास्त्रीय मूल्यवत्ता का परीक्षण अपेक्षित है, उदाहरण के लिए जैसे भक्तिरस की आवश्यकता। इन भक्त कवियों के पूर्व भक्तिरस के संस्कृत के अध्याताओं ने स्वतन्त्र रस के रूप में इसे मान्यता नहीं दी, किन्तु भक्ति रस भक्तिकाल के लिए एक ऐसा तत्त्व बना जिसकी उपेक्षा कर पाना सम्भव नहीं है। भक्तिरस की अपनी शास्त्रीयता और उसको व्यक्त करने के लिए रूप गोस्वामी ने श्रीहरि भक्ति रसामृत सिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि और मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरसायन जैसे ग्रन्थों की रचना की। यही नहीं भक्तिसाहित्य का यदि विवेचन किया जाय तो उसका मूल स्पष्ट रूप से उपयोगितावादी है, जैसा कि अभी निर्दिष्ट किया गया है, वह कलात्मक साहित्य की भाँति साध्यवादी नहीं है, साधनवादी है, उसकी अपनी भिन्न शास्त्रीयता है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों के अन्तर्गत इस दिशा की ओर निर्देश किया गया है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के आभिजात्य मानदण्ड इस दृष्टि से कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रकट न होने पर विविध मानवीय आवश्यकताओं को स्पष्ट करने के लिए माध्यम का कार्य करते हैं।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि बाह्य स्तर पर हिन्दी भक्ति-काव्य के इन कवियों में परम्परा के कलात्मक मूल्यों का साधन के रूप में उपयोग किया गया। उनकी ये चेष्टा रही कि अपने साहित्य को वे इस ढंग से प्रस्तुत करें कि उनके द्वारा उठायी गयी मानव जाति की मूलभूत आवश्यकताएँ खंडित और कुंठित न हो सकें। इसके पीछे उनकी अपनी कलात्मक चेतना भी है।

आगे के अध्याय में इसी का विवेचन किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

'हिन्दी के भक्त कवियों की शास्त्रीय मान्यतायें'

हिन्दी का भक्ति साहित्य एक विशेष प्रकार के जनवादी आन्दोलन से जुड़ा हुआ है। यह आन्दोलन मूलत: परम्परागत सांस्कृतिक मान्यताओं से प्राय: मुक्त-सा है। भक्ति काव्य का सर्वेक्षण करने के बाद यह देखा जा सकता है कि इस युग के विचारकों,कवियों आदि ने परम्परा की अनेक रूढ़ियों को तोड़ने में विश्वास रखा है। काव्य के सन्दर्भ में भी यही स्थिति दिखायी पड़ती है। सामन्ती परम्परा में विकसित और उसी प्रकार की वैचारिकता से पोषित विचारधाराओं को तोड़ने के प्रति इनमें निरन्तर आग्रह दिखायी पड़ता है। सामान्यत: जनवादी आन्दोलन की यही प्रकृति है कि वह आभिजात्य को तोड़कर नये सिरे से जीवन्त मूल्यों को प्रतिष्ठित करता है। इन भक्ति कवियों ने ठीक इसी क्रम में काव्यशास्त्र के परम्परागत मूल्यों का तिरस्कार करते हुए रस, छन्द, अलंकार, ध्वनि की रूढ़ियों को तोड़कर काव्यानुभव को सीधे-सीधे जनमानस से जोड़ देने की चेष्टा की। इस दृष्टि से सत्य है कि इनमें आभिजात्य तत्व की अल्पता दिखायी पड़ती है। फिर भी, काव्य के सन्दर्भ में ऐसे तत्व यहां मिलेंगे जो आभिजात्य से सम्बन्धित हैं। कारण कि काव्य केवल व्यक्तित्व रचना नहीं है, अपितु उसमें चेतन-अचेतन भाव से निरन्तर परम्परा की व्यक्त होती रहती है। परंपरा की इस अभिव्यक्ति में, काव्य के मूल्य जिन्हें काव्य की शास्त्रीयता के नाम से पुकारा जाता है, वे ज्ञात और अज्ञात भाव से काव्य में अवतरित होते रहते हैं अत: इनको पकड़कर आभिजात्य जैसे तत्व की व्याख्या की जा सकती है। यही नहीं, भक्त कवियों में सामान्ती मान्यता को तोड़ने के साथ-साथ उसकी चकाचौंध से प्रभावित होने की भी दृष्टि वर्तमान है, जो काव्य के स्तर पर आभिजात्य से जुड़ जाती है।

आभिजात्य का तात्पर्य है, रचनात्मक संप्रभुता की काव्य में अभिव्यक्ति, अर्थात् रचना के साधनात्मक मूल्यों,कलात्मक तत्वों तथा अन्य निहित मूल्यों को उस ऊंचाई तक पहुंचा देने की प्रवृत्ति जिसके बाद फिर उच्चता एवं सम्भ्रान्तता की कल्पना न की जा सके। रचना के प्रति इस प्रकार का मोह आभिजात्य अभिरुचि का सबसे महत्वपूर्ण मोह है। भक्तिकालीन कवियों में सूर, तुलसी, जायसी इस श्रेणी में किसी न किसी तरह अवश्य रखे जा सकते हैं, जिनमें आभिजात्य होने का मोह है। कबीर जैसे संतों में यह प्रवृत्ति कम है, न के बराबर है, फिर भी सामान्य ढंग से इनमें निहित काव्यपरक मूल्यों का

सर्वेक्षण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

इन कवियों ने शास्त्र ग्रन्थों की रचना नहीं की है । सूर ने साहित्य-लहरी तथा नंददास ने रसमंजरी की रचना अवश्य की है किन्तु ये दोनों शास्त्र के मानक ग्रंथ नहीं बन पाते । शास्त्र के अभाव के बाद भी पारम्परिक तुलना की दृष्टि से इन कवियों के काव्यों में अभिव्यक्त काव्यादर्शों तथा निहित रचनात्मक मूल्यों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है । इस विवेचन का उद्देश्य केवल इतना ही है कि इनके काव्यों के रचनात्मक मानदण्डों का दिशा निर्देश किया जा सके । इसी दिशा निर्देश से हम कवियों की शास्त्रीय-अशास्त्रीय सैली प्रवृत्ति का अन्वेषण तथा मूल्यांकन किया जा सकता है ।

कबीरदास —

कबीरदास ने काव्य के किसी प्रचलित आदर्श को ग्रहण नहीं किया था । उन्होंने काव्य को कला की दृष्टि से नहीं देखा वरन् अनुभूति के द्वारा उसे ग्रहण किया था । कबीर की अनेक वाणियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शास्त्र ज्ञान (लिखने-पढ़ने) को कोई महत्व नहीं देते थे । कबीर ने ही क्या वेदों और शास्त्रों तक ने, व्यर्थता को दर्शाया है, उपनिषद आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार की परिभाषा व्याप्त है । कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी और कबीर को घुमक्कड़ कहा गया है । अत: पर्यटक होने के कारण उन्हें काव्यपरम्परा का सामान्य ज्ञान तो था ही, इसी आधार पर हम उनके काव्य का शास्त्रीय अध्ययन करते हैं ।

काव्यप्रयोजन —

कबीर के काव्य का प्रयोजन भक्ति काव्य रचना से प्राप्त आनन्द-प्राप्ति और मोक्ष की सिद्धि है ।

"पद गाएं मन हरसिया, साखी कहे अनंद"[१]

कबीर की दृष्टि में ऐसी साखियां काव्यानन्द की प्रेरक हैं और इनकी रचना से

१- डा० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, साखी ५, पृ० २४२

कवि को आत्मशान्ति, आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है । कबीर लोकवर्ग और कवि वर्ग दोनों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि —

'ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोइ ।
अपना मन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ।।'[१]

कबीर ने मोक्ष को भक्त की चरम सिद्धि माना है । मोक्ष के द्वारा मनुष्य को इह लोक के समस्त प्रपंचों से मुक्ति मिल जाती है, और वह परलोक को प्राप्त करता है ।

'सूर समानां चांद में दुहूं किया घर एक ।
मन का चेता तब भया कछू पूरबला लेख ।।'[२]

इस प्रकार समस्त भौतिक गुणों का विलयन हो जाता है, और वह साधक, शब्द के साथ एकाकार होकर रागमय हो जाता है । कबीर की इस साधना में इतनी निष्ठा है कि मनुष्य इसमें पारंगत होने पर इस संसार में लौटकर आना नहीं चाहता -

'बहुरि हम काहे को आवहिंगे
बिछुरें पंचतंत्र की रचना तब हम राम ही पावहिंगे ।'[३]

कबीर ने इसको मुक्ति का साधन माना है । उनके अनुसार जब हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है, तब मोहरूपी अन्धकार की समाप्ति हो जाती है ।

कबीर ने ज्ञान की तुलना उस दीपक से की है जो अन्धकार का नाश करता है । इन्होंने मनुष्य के हृदय के अज्ञान को दूर करने के लिए ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है ।

कबीर ने ज्ञान को स्वीकार किया है पर इसको स्वीकार करते हुए

---

१. कबीर ग्रन्थावली, साखी ७५, पृ० १६५
२. कबीर ग्रन्थावली, साखी २०, पृ० १६६
३. कबीर ग्रन्थावली, पद -५७, पृ० ३२

इन्होंने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ माना है । अत: इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने काव्य-प्रयोजनों में मुख्य रूप से आनन्द और मोक्ष पर बल दिया है ।

काव्य-हेतु—

कबीर राम के भक्त हैं, राम के अलावा उनको किसी से कोई प्रयोजन नहीं है । उनकी भक्ति निष्काम भाव की भक्ति है और पूर्ण निष्कामता भक्ति की चरम अवस्था है ।

कबीर की रचनाओं को देखने से यह ज्ञात होता है कि उन्हें आलौकिक प्रतिभा प्राप्त थी । वास्तव में दैवी प्रतिभा प्राप्त करने पर भी वे उसके उद्रेक में कल्पना, संवेदना और ज्ञानार्जन को महत्वपूर्ण मानते थे -

'पोथी पढ़ि पढ़ि, जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होइ ।।'[१]

उन्होंने 'मसि कागज को छुय नहीं' कहते हुए भी जिस गम्भीरता से अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हें आलौकिक प्रतिभा प्राप्त थी । डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर की प्रतिभा के सम्बन्ध में कहा है — 'इसमें सन्देह नहीं कि कबीर की कल्पना के सारे चित्रों को समझने की शक्ति किसी में आ सकेगी अथवा नहीं । जो हो, कबीर की बानी पढ़ जाने के बाद यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि कबीर के पास कुछ ऐसे चित्रों का कोष है जिसमें हृदय में उथल-पुथल मचा देने की बड़ी भारी शक्ति है, हृदय आश्चर्यचकित हो, कबीर की बातों को सोचता ही रह जाता है ।'[२]

कबीर ने अपनी भक्ति में गुरु-कृपा को विशेष महत्त्व दिया है ।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, साखी - ३, पृ० २४१

२. डा० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ५

दिया है। गुरु को काव्य-साधन रूप में माना है -

> `पाछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि ।
> पैंडे में सतगुरु मिला, दीपक दीया हाथि ।।`[1]

गुरु के आशीर्वाद के बिना ज्ञान-प्राप्ति असम्भव है। गुरु की कृपा से ही भक्त का उद्धार सम्भव है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने दैवी-कृपा और गुरु से प्राप्त आशीर्वाद को ही काव्य का मूल हेतु स्वीकार किया है।

<u>रस —</u>

कबीर ने हरि रस का प्रयोग किया है। यह हरि रस प्रेमा भक्ति, भक्ति रस, मधुर रस आदि के सन्दर्भ में लिया गया है, परन्तु उनके रस का प्रयोग काव्य के शास्त्रीय अर्थ में नहीं हुआ है।

(क) `कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि
पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न चढ़ई चाकि`[2]

(ख) `हरि रस पिया जाणिए, जे उतरैं नाहि खुमारि
मैमंता घूमत फिरै, नाही तन की सारि`[3]

कबीर ने अपने काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय ब्रह्म का गुणगान माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत कवि होने के नाते उन्होंने काव्य-शास्त्र में उतनी रुचि नहीं ली थी।

कबीर ने आस्वादन (आनन्दानुभूति) के लिए रस शब्द का प्रयोग किया है और यह परम्परागत शास्त्रीयता के अनुक्रम में नहीं है। मूलत: `रस` शब्द का लोक जीवन में प्रयोग होता था और उसी अर्थ में यहाँ भी प्रयुक्त है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, साखी १४, पृ० १३७
२. कबीर ग्रन्थावली, साखी १, पृ० १७७
३. कबीर ग्रन्थावली, साखी ५, पृ० १७८

दादूदयाल—

संत साहित्य में प्राय: सभी संतों के काव्य में एक सी विचारधारा प्रवाहित हुई है। सभी ने संसार की रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठायी है, और सभी ने ब्रह्म और जगत् को एक ही दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इन संतो ने काव्य रचना करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था, और न ही इन्होंने अपने दार्शनिक होने की तरफ ध्यान दिया था। संतो का एक मात्र उद्देश्य लोकोपदेश था।

दादूदयाल एक भक्त कवि थे, भक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए ही उन्होंने काव्य-रचना करी थी। उन्होंने जितना अनुभूति पर दिया उतना कलात्मक अभिव्यक्ति पर नहीं।

निर्गुण सम्प्रदाय में कबीर के बाद दादू का ही नाम लिया जाता है।

काव्य-प्रयोजन—

काव्य प्रयोजनों में इन्होंने मुख्यरूप से आनन्द को लिया है। अन्य कवियों की भांति बैकुण्ठ प्राप्ति की अभिलाषा को इन्होंने नकार दिया है। मोक्ष को इन्होंने आनन्द में ही दृष्टिगत किया है।

(क) 'सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर
दादू देखै एक कूं, दूजा नाहीं और '[1]

* * *

(ख) दादू हरि का नांव जल, मैं मीनता मांहि
संगि सदा आनंद करै, बिछुरत ही मरि जांहि'[2]

इस आनंद को भक्त, प्रेम द्वारा भक्ति के माध्यम से प्राप्त करता है।

---

१. दादूदयाल, दादूदयाल ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, पद० ७५,पृ० ५१
व्याख्याकार- परशुराम चतुर्वेदी
२. दादूदयाल ग्रन्थावली, प० १२, पृ० २५

दादू कै दूजा नहीं, एकै आतम रांम
सतगुरु सिर परि साध सब,प्रेम भगति विश्राम [1]

दादूदयाल ने अनुभूति को भी प्रधानता दी है । ये अनुभूति आत्मनुभूति स्वानुभूति के रूप में रहती है । जब भक्त इस अवस्था में पहुँच जाता है कि उसे स्वानुभूति हो तब उसका अहंभाव स्वतः समाप्त हो जाता है । वह अपने आप को पूर्णतः हरि में समर्पित कर देता है ।

(क) 'दादू मन ही मां है ऊपजै, मन ही मांहि समाइ
मन ही मांहै राखिए, बाहरि कहि न जाइ' [2]

(ख) 'दादू समझि समाइ रहु, बाहरि कहि न जाइ' [3]

काव्य-हेतु —

काव्य हेतुओं में इन्होंने प्रमुखरूप से गुरु-कृपा को माना है ।सतगुरु की कृपा से ही भक्त को ज्ञान प्राप्ति होती है । 'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े' कबीर की भाँति इन्होंने भी गुरु को ही प्रमुखता दी है, गुरु ही वह मध्यस्थ है जो ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बताता है तथा ज्ञान के दीपक को देकर अन्धकार का नाश करता है ।

'दादू सतगुरु सौं सहजैं मिल्या, लीया कंठि लगाइ
दया भई दयाल की, तब दीपक दीया जगाइ' [4]

कवि का राम में अत्यन्त अटूट विश्वास है उनके अनुसार राम का नाम लेने से भक्त के समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं । राम नाम भजन कर भक्त को सब चिन्ताओं

---

१. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी १३२, पृ० संख्या १५
२. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ६, पृ० संख्या ८३
३. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ५, पृ० संख्या ८३
४. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ५, पृ० संख्या २

से मुक्त हो जाना चाहिए -

> 'राम भजन का सोच क्या, करता होइ स होइ
> दादू राम संभालिए, फिरि बूझिए न कोइ '[1]

इस संसार रूपी सागर में नाव रूपी राम के सहारे ही मनुष्य किनारे लग सकता है -

> (क) 'दरिया यह संसार है, तामें राम नाम निज नाव
> दादू ढील न कीजिए, यहु औसर यहु डाव '[2]
>
> x x x
>
> (ख) दादू सतगुरु अंजन बाहिकरि, नैनं पटल सब खोले
> बहिरे कानों सुणणे लागे, गूंगे सुख सौं बोले '[3]

इस प्रकार गुरु की प्राप्ति से, गुरु की संगति से मनुष्य के दुर्गुणों का नाश हो जाता है और उसे ज्ञान की प्राप्ति, सतबुद्धि, सत गुणों की प्राप्ति हो जाती है । गुरु को इन्होंने ब्रह्म का ही रूप माना है ।

> (क) सतगुर मिले त पाइये, भगति मुकति भंडार ।
> दादू सहजैं देखिये, साहिब का दीदार ।।[4]
>
> x x x
>
> (ख) दादू साँई सतगुर सेविये, भगति मुकति फल होइ ।
> अमर अभैपद पाइये, काल न लागे कोइ ।।[5]

दादू की दृष्टि में गुरु का महत्व वेद और कुरान से भी अधिक है । साधू संगति को इन्होंने गुरु के साथ-साथ महत्व दिया है और इसको भक्त के लिए

---

१. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ७, पृ० १६

२. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी २७, पृ० १८

३. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ६ , पृ० २

४. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ५६, ५७, पृ० ७

५. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी १६८, पृ० ६३

सारग्राही बताया है ।

(क) `दादू हरि साधू यूं पाईए, अविगत के आराध ।
साधू संगति हरि मिलै, हरि संगति थैं साध ।।`[1]

* * *

(ख) जहां राम तहां संतजन, जहां साधू तहां रांम ।
दादू दून्यू एकठे, अरस परस विश्रांम ।।[2]

रस —

इनके काव्य में भी भक्तिरस की अभिव्यक्ति हुई है । और इसी भक्तिरस को इन्होंने विभिन्न नामों - रामरस, प्रेमरस, भक्तिरस, हरिरस के नाम से सम्बोधित किया है -

(क) `सुरति सदा स्यावति रहै, तिनके मोटे भाग
दादू पीवैं रामरस, रहै निरंजन लाग`[3]

* * *

(ख) `दादू प्रेम पियाला रांम रस, हम कूं भावै येह
रिधि-सिधि मांगै मुकति फल, चाहै तिनकूं देह`[4]

* * *

(ग) `तन मन पवना पंच गहि, निरंजन ल्यौ लाइ
आतम चेतनि प्रेम रस, दादू रहै समाइ`[5]

---

१. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी १६८, पृ० ६२
२. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी १६७, पृ० ६२
३. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी २८, पृ० ६४
४. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ७७, पृ० १०५
५. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ४ , पृ० ६१

(घ) 'देह पियारी जीव कूँ, जीव पियारा देह ।
दादू हरिरस पाइये, जे जैसा होइ सनेह ।।'[१]

इस प्रेमरस की महिमा का वर्णन करते हुए कवि यहाँ तक कहता है कि उन मनुष्यों का जीवन व्यर्थ है, निस्सार है, जिन्होंने प्रेमपूर्वक रामरस का आस्वादन न किया हो —

'कोटि वरस क्या जीवणां, अमर भए क्या होइ
प्रेम भगतिरस राम बिन, का जीवन दादू सोइ'[२]

कवि के अनुसार जो कवि इस रस का एकबार आस्वादन कर लेता है वह इसी का होकर रह जाता है --

'यहु रस मीठा जिनि पीया, सो रस ही मांहि समाइ'[३]

इस रस का एकबार आस्वादन कर लेने पर उसकी प्यास दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है और वह बार-बार इस रस को पीना चाहता है—

'ज्यूं ज्यूं पीवै रामरस, त्यूं त्यूं बढ़ै पियास'

कवि के अनुसार इस रस का पान करने से मनुष्य काल के भय तक से मुक्त हो जाता है और इस रस में लीन होकर आनन्दावस्था को प्राप्त करता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि दादूदयाल ने हरिरस को सर्वाधिक महत्व दिया है । भक्त कवि होने के नाते भक्तिरस को महत्व देना तो स्वाभाविक है ही, पर इन्होंने रस-विवेचन की शास्त्रीय पद्धति नहीं अपनाई है । यह रस इनकी साधना की चरम उपलब्धि के रूप में है ।

-

---

१. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी २१, पृ० ३०
२. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ७८, पृ० १०५
३. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ५, पृ० ३२८

सुन्दरदास—

दादूदयाल के बाद सुन्दरदास का नाम आता है । सुन्दरदास सभी संतों में सर्वाधिक शिक्षित और भाषाविज्ञ थे । सुन्दरदास के ब्रह्म, रूप वर्णन से रहित हैं । न उसका कोई रूप है न रंग, न वह आदि है, न ही मध्य । ऐसे ब्रह्म की वह स्तुति करते हैं -

'न ग्रामं न धामं न शीत न चोष्णं ।
न रक्तं न पीतं न श्वेतं न कृष्णं ।
न शेषं न अशेषं न रेषं न रूपं ।
नमस्ते नमस्ते नमस्ते अनूपं ।'[1]

इन सारे विशेषणों को अनूप के साथ सम्बन्धित करते हुए वह इस निराकार ब्रह्म की, इनका ब्रह्म भी इन्द्रियगम्य न होकर अनुभवगम्य है, स्तुति करते हैं ।

काव्य-प्रयोजन—

काव्य के प्रयोजनों में इन्होंने भी मुख्यरूप से आनन्द और मोक्ष को ही लिया है -

'याके सुनते परम सुख, दुख न रहै लवलेश
सुन्दर कह्यो विचारि करि, अद्भुतग्रन्थुपदेश'[2]

आनन्द को इन शब्दों में वर्णित करते हुए वह परमानन्द की अवस्था तब मानते हैं जब जीव और ब्रह्म दोनों मिल जाते हैं, एकाकार हो जाते हैं, उनमें कोई भेद नहीं रह जाता —

'सरिता मिलइ समुद्र हिं भेद न कोइ
जीव मिलइ परब्रह्म हि ब्रह्म होइ'[3]

कवि के द्वारा ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है उसे सिर्फ देखने, सोचने और समझने की

---

१. सुन्दरदास, सुन्दर ग्रन्थावली, ब्रह्मस्तोत्र अष्टक - ४ , पृ० २७८
व्याख्याकार-पुरोहित हरिनारायण शर्मा
२. सुन्दरग्रन्थावली, दोहा -५७, पृ० १८५
३. सुन्दरग्रन्थावली, बरवै- १६, पृ० ३०८

आवश्यकता है । ये कस्तूरी की भाँति अपने अन्दर ही रचा बसा रहता है । इसे खोजने के लिए भक्ति रूपी ज्ञान चक्षुओं की आवश्यकता होती है । मनुष्य जब सांसारिक माया मोह से छूट जाता है, तभी वह इस ब्रह्म के पास जाता है । संतों ने अपने काव्य में ऐसे बहुत से उपदेश किये हैं । इन उपदेशों में मुख्य रूप से माया के बन्धन, संसार की क्षणभंगुरता और निस्सारता की ओर संकेत किया है । जब इस मोह माया के बन्धन से मनुष्य छूट जाता है, भक्ति को ग्रहण कर लेता है, भक्ति में लीन हो जाता है, तब उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है और ब्रह्म की प्राप्ति होने पर ही उसका उद्धार होता है । इहलोक को त्यागकर वह परलोक को प्राप्त करता है, यहाँ परलोक की प्राप्ति ही मोक्ष प्राप्ति है -

> 'जो या ज्ञान समुद्र माहिं, डूबकी मारै जाइ
> सोई मुक्ता फल लहै, दुख दरिद्र सब जाइ '[1]

काव्य-हेतु-

सुन्दरदास ने काव्य हेतुओं में मुख्य रूप से गुरुकृपा, भजन, कीर्तन इत्यादि को लिया है ।

अपनी काव्य-रचना में इन्होंने ब्रह्म की स्तुति भी की है । इस स्तुति द्वारा काव्य के उचित फल की कामना की है -

(क) 'ब्रह्म प्रणाम्य प्रणाम्य गुरु पुनि प्रणाम्य सब संत
करत मंगलाचार हम नाशत विघ्न अनन्त '[2]

x x x

(ख) ' अखण्डं चिदानन्द देवाधिदेवं । फणिन्द्रादि रुद्रादि इन्द्रादि सेव्यं
मुनीन्द्रा कवीन्द्रादि चन्द्रादि मित्रं । नमस्ते नमस्ते नमस्ते पवित्रं '[3]

x x x

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, दोहा - ५६, पृ० ८२
२. सुन्दर ग्रन्थावली, दोहा - २ , पृ० ५
३. सुन्दर ग्रन्थावली, स्तोत्र - १ , पृ० २०७

(ग) 'प्रथम वन्दि परब्रह्म परम आनन्द स्वरूपं
द्वितिय वन्दि गुरुदेव दियौ जिह ज्ञान अनूपं
त्रितिय वन्दि सब संत जोरि कर तिनकै आगय
मन वच काय प्रमाण करत भय भ्रम सब भागय
इहिं भांति मंगलाचरण करि सुन्दर ग्रन्थ बखानियें
तह विघ्न न कोऊ उप्पजय यह निश्चय करि मानियें'[1]

इस भाँति वह परमात्मा, गुरु, संत इत्यादि से प्रार्थना करते हैं कि इस ग्रन्थ की समाप्ति निर्विघ्न हो जाय। सुन्दरदास ने गुरु को अत्याधिक महत्व दिया है। गुरु और ईश्वर में उन्होंने कोई भेद नहीं माना है। साथ ही उन्होंने गुरु को परमेश्वर के समान माना है -

'परमेश्वर महिं गुरु बसै परमेश्वर गुरु माहि
सुन्दर दोऊ परसपर भिन्न भाव सो नांहि'[2]

उनके इस कथन से ही गुरु का महत्व प्रकट हो जाता है। गुरु की वन्दना उन्होंने अत्यन्त भक्ति भाव से प्रेमपूर्वक की है।

'प्रकाशं स्वरूपं हृदे ब्रह्मज्ञानं, सदाचार येही निराकार ध्यानं
निरीहं निजानंद जाने जादू, नमो देव दादू नमो देव दादू'[3]

गुरु के आशीर्वाद के फलस्वरूप ही शिष्य को दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है और इसी के फलस्वरूप वह संसार की असारता और सारता पर विहंगम दृष्टि डालता है।

दादूजी तब निकट बुलायौ। मुदित होइ करि कंठ लगायौ।
मस्तक हाथ धर्यो है जब हीं। दिव्य दृष्टि उघरी है तबहीं।।
यौं करि कृपा बहो दत दीनो। बुद्धनन्द पयानो कीनो।।[4]

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, छप्पय १, पृ० ३
२. सुन्दर ग्रन्थावली, दोहा १, पृ० २५६
३. सुन्दर ग्रन्थावली, स्तोत्र १, पृ० २२५
४. सुन्दर ग्रन्थावली, चौपाई ११, पृ० १६८

कवि के अपने गुरु की प्रशंसा में अत्यन्त उच्चकोटि के भक्तिभाव रहे हैं । उन्होंने ईश्वर प्राप्ति के लिए भजन, कीर्तन, श्रवण पर भी बल दिया है -

(क) 'हरि गुन रसना मुख गावै । अति सै करि प्रेम बढ़ावै
यह भक्ति कीरतन कहियै । पुनि गुरु प्रसाद तें लहियै'[1]

< < <

(ख) 'कोई योग कहै कोई जाग कहै कोई त्याग बैराग बतावता है
कोई नांव रटै कोई ध्यान ठटै कोई खोजत ही थकि जावता है

(ग) कोई और ही और उपाव करै कोइ ज्ञान गिरा करि गावता है
वह सुन्दर सुन्दर सुन्दर है कोई सुन्दर होइ सुपावता है'[2]

इस सुन्दर को उन्होंने अध्यात्मिक अर्थ में भी प्रयुक्त किया है ।

रस —

सुन्दरदास ने रस को अत्याधिक महत्ता दी है । रस के बिना काव्य का कोई महत्व नहीं रह जाता, काव्य की सरसता रस से ही प्रतिपादित होती है । इन्होंने अपने काव्य में शान्तरस को सर्वाधिक महत्व दिया है । शान्तरस की प्रधान्यता, विशेषता और महिमा की व्याख्या की है, पर साथ ही साथ इन्होंने हरिरस के आस्वादन में तल्लीनता दिखायी है —

'हरि में हरिदास बिलास करै । हरि सौं कब हू न बिछोह परै
हरि अदाय त्यौं हरिदास सदा। रस पीवन कौं यह भाव जुदा'[3]

अन्य रसों को भी इन्होंने शान्त रस के अन्तर्गत वर्णित किया है । ईश्वर की

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, कीर्तन १४, पृ० १६

२. सुन्दर ग्रन्थावली, झूलना ४ , पृ० २६८

३. सुन्दर ग्रन्थावली, गोष्ठ ५४, पृ० २६

प्राप्ति के लिए कवि ने हरिरस, रामरस, को ही मुख्य मन्त्र माना है। इस मन्त्र में ही वह शक्ति है जो भक्त का उद्धार कर सके, उसे मोक्ष प्राप्त करा सके। इस मन्त्र में इतनी सिद्धि है कि जब नल-नील ने श्री रामचन्द्र जी के लिए पुल तैयार किया तो उन शिलाओं पर उनका नाम लिखकर समुद्र में डालने से कोई भी शिला नहीं डूबी।

(क) 'राम मन्त्र सब मंहि तत सारा। और आहि जग के व्यौहारा
राम मन्त्र तें शिला तिरानी । पाथर कहा तिरै कहुं पानी'[1]

(ख) राम मन्त्र के ऐसे कामा। पत्र न उठ्यौ लिखि जब नामा
राम मन्त्र शिव गौरी सुनायौ। सोई नारद ध्रुवहि पढ़ायौ'[2]

इन्होंने हरिरस को - 'सुन्दर हरिरस सो पिवै मेल्है सीस उतारि' कहते हुए हरिरस की ओर संकेत किया है। अतः उनके वर्णन से रस के विषय में भिन्न संकेत ही दृष्टिगत होते हैं।

—

१-२. सुन्दर ग्रन्थावली, चौपाई २०, २१, पृ० ६७

'सन्त कवि'

सन्त कवियों की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यांग-चर्चा उनका लक्ष्य नहीं था। ये कवि परम्परा से प्रभावित दिखायी देते हैं। इन्होंने जो कुछ भी कहा प्राय: धर्म, दर्शन और नीति को लक्षित करके, शास्त्रीय सिद्धान्तों से हट कर अनुभव के आधार पर कहा।

सन्त कवियों ने अलंकारों का विधान नहीं किया है, अपितु वे स्वत: स्वाभाविक रूप से प्रकट हुए हैं। इनके काव्यों को अलंकार प्रधानता से भिन्न समझना चाहिए। संस्कृत के विपुल साहित्य से इनका सम्बन्ध न के बराबर था। सन्तों का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध जन-जीवन से था उसका शतांश भी काव्य की वर्णन पद्धति से नहीं।

कबीर ने अलंकारों का साग्रह प्रयोग नहीं किया है, जो भी हुआ है वह सहज स्वाभाविक रूप में। विशेष रूप में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विभावना, अन्योक्ति और विशेषोक्ति का उदाहरण देखा जा सकता है। कबीर के रूपक अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं, रूपकों की शृंखला में उन्होंने अपने मन के नवीन से नवीन भावों को समेटा है।

(क) 'कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल
आदि अंत सब सोंधिया दूजा देखौ काल'[1]

< < <

(ख) 'कबीर भया है केतकी, भवंर भए सब दास
जहं जहं भगति कबीर की, तंह तंह राम निवास'[2]

अन्योक्ति अलंकार के इस वर्णन में कवि ने अप्रस्तुत के सहारे प्रस्तुत का वर्णन अत्यन्त प्रिय रूप में किया है।

'सूका लागे केवड़ा, टूटी जरहर माल
पानी की कल जानता, गया सो सींचनहार'[3]

---

1. कबीर ग्रन्थावली, साखी १४, पृ० १५०
2. कबीर ग्रन्थावली, साखी ८, पृ० १५४
3. कबीर ग्रन्थावली, साखी ३३, पृ० २०२

कबीर की उक्तियों में अलंकार सहज स्वाभाविक रूप में आए हैं, उन्होंने बलपूर्वक लाने का प्रयास नहीं किया है। कबीरदास छंद शास्त्र से तो पूर्णत: अनभिज्ञ थे, इसलिए मात्राओं के घट बढ़ जाने की चिन्ता करना व्यर्थ है। इनके पदों में लोक प्रचलित छन्दों के दर्शन होते हैं, जैसे -- कहरा, चाचर, बसन्त, गारी आदि। कबीर का सारा काव्य मुक्तक शैली का है।

दादूदयाल ने ईश्वरीय भक्ति और ईश्वरीय महिमा का ही वर्णन किया है और भक्ति से प्राप्य आनन्द को ही सर्वोपरि माना है। आपकी काव्य-धाराएँ प्रकीर्ण रूप में ही उपलब्ध हैं। कलात्मकता के सन्दर्भ में तो कबीर और सुन्दरदास का नाम ही लिया जा सकता है। साखी की रचना इन सभी कवियों ने की है। कबीरदास की भाँति सुन्दरदास ने उलटवासियों की रचना की और उसके स्वरूप का निर्धारण किया है। इन सभी कवियों ने मुक्तक काव्य के रूप में रचना की है। सुन्दरदास ने अलंकार का वर्णन किया है, पर कम किया है और छंद शास्त्र के प्रति भी जागरूक दिखायी दिए हैं।

बिरह बरावत मोहि न कबहूं आरसी ।।
बिरहिनिजाति बेहाल न आरसी ।।
शीतल मंद सुगन्ध पवन पुनि आरसी ।।
(परिहां) सुन्दर पिय परदेश न आयौ आरसी ।।[1]

सुन्दरदास ने छन्दों का शुद्ध प्रयोग किया है, मात्राओं के नियम के प्रति वह सजग दिखायी दिए हैं।

"जो कर्मनि कौ डारै भासा। तौ लगि परि है जमका पासा
सत संगति का लागै पासा। तौ सुन्दर हरि ही कै पासा ,[2]

इनके काव्य सिद्धान्त भी कबीर और दादू के समान ही है, परन्तु आप छन्द-शास्त्र के नियमों से पूर्णत: परिचित थे।

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, प गम - ३, पृ० ३४२
२. सुन्दर ग्रन्थावली, छन्द - २६, पृ० ३५३

मंफ न—

प्रेम काव्य में सर्वप्रथम जायसी का नाम आता है । जायसी की रचना 'पदमावती' प्रेममार्गीय काव्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है । जायसी के बाद मंफन का नाम आता है । मंफन की यह कृति मधुमालती की पदमावत के बाद मानी गयी है । इन प्रत्येक काव्य का आधार प्रेम कथा है । प्रेम विवाह के पूर्व प्रेम उद्भूत होता है जोकि नायक के किसी गुण या स्वप्न दर्शन या साक्षात-दर्शन के आधार पर होता है । प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए प्रेमी का अनेक कष्टों को सहना, किसी यात्रा को करना, अन्त में अनेक कठिनाइयों को फेलते हुए प्रेमिका को प्राप्त ही कर लेना इन कथाओं की मुख्य विशेषता है ।

काव्य-प्रयोजन —

मंफन ने आनन्द और यश को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है । आनन्द की उत्पत्ति उन्होंने रस के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रतिपादित की है, और यश को उन्होंने उत्पन्न कृति का फल माना है । उनके अनुसार काव्य की रचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि काव्य के रहते हुए कवि का नाम यशोगान के साथ लिया जाता रहे ।

काव्य-हेतु—

कवि ने काव्य हेतुओं में प्रमुख रूप से दैवी-कृत्य को महत्ता दी है । अपने काव्य की रचना का उल्लेख इन्होंने - 'स्वत: सुखाय' ही माना है --

'तब हम जिय उपजी अभिलाषा
कथा एक बाँधउ रस भाखा ' [१]

देवी स्तुति करते हुए --'कथा एक चित बस्य उपानी, सुनहु कान दे कहौं बखानी' कहते हुए उन्होंने रचना की प्रेरणा पर प्रकाश डाला है ।

ठ इन्होंने परमेश्वर को एक माना है जो अनेक रूप धारण किए हुए है ।

---

१. मंफन, मधुमालती, छन्द ३६, पृ० ३३, व्याख्याकार - माताप्रसाद गुप्त

तीनों लोकों में (आकाश, पाताल, मृत्युलोक) सर्वत्र वह एक ही, अपने विभिन्न रूप में विद्यमान है -

> 'एक अनेग भाउ परमेंसा, एक रूप काहे बहु मेसा ।
> तीन लोक जहवां लहि ढाई, भोग के अनबन रूप गोसाई '[१]

और जिसको प्राप्त करने के लिए उन्होंने सबसे उत्तम मार्ग समाधि को माना है --

> तौ समाधि लौ लागे जहां आपु अपान पाव तू तहां

रस --

मधुमालती पूर्णरूपेण प्रेम कथा है । इस प्रेम कथा में रसराज श्रृंगार रस ही सर्वत्र व्याप्त है । श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग दोनों को लिया गया है, और दोनों का ही अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है -

वियोग पक्ष -- 'पेम पावरी राखेउ पाऊ । म्रिग छाला बैराग सम्हाऊ
बरसन लागि मेस सब धरा। बांधे दुख मधुमालती केरा '[२]

संयोग पक्ष -- 'बहुरि कुंवरि उठि बैठेउ फिराहि संभारेसि केत ।
अंम्रित बचन सोहागिनि पूंछे लागि स हेत ।।'[३]

सूफी कवियों में त्याग एवं उपासना की भावनाएं ही मुख्यरूप से लक्षित हैं । इन्होंने जो कुछ भी लिखा स्वत: अनुभूति के आधार पर ही लिखा है । प्रेम की पीर और मन की उमंग ने ही इन्हें रचना के लिए प्रेरित किया था । संयोग का भावात्मक वर्णन हम इन कवियों में देखते हैं -

> 'बनधि हिएं दुहुं केर चुहनी, मिलत उरहिं उर तपति सिरानी
> नैन- नैन सेउ लोभे, मन सेउं मन अरुफान
> दुनो हियं उर मिलि एक मे मभियउ प्रानहि प्रान '[४]

---

१. मधुमालती, छन्द २, पृ० ४
२. मधुमालती, छन्द १७२,पृ० १४५
३. मधुमालती, छन्द १११, पृ० ६३
४. मधुमालती, छन्द ४४८, पृ० ३६३

इनके काव्य में मर्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं है अश्लीलता को इन्होंने कहीं भी नहीं आने दिया है । विरहाग्नि में दग्ध मधुमालती प्रेमा के बार-बार पूछने पर भी मर्यादा के बाहर जाती नहीं दिखायी दी है ।

त्याग को ही मंझन ने महत्त्व दिया है —

'कहै कुंवर सुनु पेम पियारी । उतपति सपत जो हम्ह तुम्ह सारी
आदिहि सपत जो हम्ह तुम्ह किएऊ। रुद्र ब्रम्ह हरि अंतर दिएऊ
वहै सपत मोहि तोहि सति भाऊ । पाप पंथ पा धरौं न काऊ
अब फुनि बाचा सपत मोहि तोरी । बिरचि न रचौं बाचा यह मोरी
जो लहि धरम तरु करे न मोरा । मोहि आवाजु अंब्रित फल तोरा
बर कामिनि जब ताईं तोहि मोहि होइ न धरम बियाह
पाप न अंतर संचरै बिधि बाचा निजु आहि '[1]

इस तरह उन्होंने श्रृंगार के दोनों पक्षों का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया है ।

जायसी —

जायसी की प्रमुख कृति पदमावत है । पदमावत के अलावा इन्होंने अखरावट, कहरनामा, आखिरी कलाम और मसलानामा, चित्रेखा इत्यादि कृतियों की भी रचना की है । परन्तु इनकी प्रमुख कृति पद्मावत ही इनके कवित्व की प्रमुख आधारशिला है । ये पदमावत प्रेमाख्यान काव्य परम्परा की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी गयी है । जायसी ने अपनी इस कृति में मानवीय जीवन को वृहद रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है । उन्होंने लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की ओर निर्देश किया है । इन सूफी कवियों ने हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों को अपने काव्य का आधार बनाते हुए मुस्लिम एकता को दर्शाते हुए आलौकिक के प्रति रागात्मक सम्बन्ध प्रतिपादित किया है ।

---

१. मधुमालती, छन्द - ३३१, पृ० २८५

काव्य-प्रयोजन --

काव्य-प्रयोजन इन्होंने मुख्य रूप से आनन्द प्राप्ति और मोक्ष प्राप्ति माना है। इनके अनुसार अनुभव की तीव्रता में रागात्मकता के फलस्वरूप जिस भाव की उपलब्धि होती है, वह आनन्द है। पदमावत के कवि ने प्रेम की अन्तरंगता और विरह की तीव्रता को व्यक्त करने वाले विभिन्न सन्दर्भों को मनोयोगपूर्वक नियोजित किया है और इस प्रक्रिया में उनका लक्ष्य श्रोता को अपने-जैसी-प्रेम पीर से आप्लावित करना ही रहा है --

तासौं दुख कहिए, हो बीरा। जेहि सुनि कै लागै पर पीरा ।।
. ...
हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तें धुनि उठे, कहौं बिथा केहि भाँति [1]

आन्तरिक प्रयोजनों की तुलना में जायसी ने बाह्य प्रयोजनों का अधिक उल्लेख किया है। किन्तु इस सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ अति विरल हैं। पदमावत की रचना प्रेरणा के मूल में भी चिरस्थायी कीर्ति लाभ की आकाँक्षा देखी गयी है। कवि यह कामना करता है कि उसकी रचना दीर्घजीवी होकर सहृदयों को चिरकाल तक आनन्द देती रहे। अपनी रचना करते समय कवि अनेक प्रकार की कामनाएं करता है, इन कामनाओं में यश प्राप्ति तो सर्वश्रेष्ठ है ही, परन्तु अर्थ-प्राप्ति का भी महत्व है। अर्थ की तरफ से निश्चिन्त होकर कवि काव्य-साधना में पूर्णतः संलग्न हो जाता है।

जायसी को अपने 'कवि' तत्व से इतना मोह है कि उसकी विमोहकता के प्रति वह पूर्णरूपेण समर्पित है। अनेक स्थलों पर "कवि" शब्द के प्रति गौरव की भावना देखने को मिलती है। आखिरीकलाम में भी इस भावना को प्रदर्शित किया है--

'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी [2]

वे अपने को जो कुछ थोड़ा बहुत जानते थे, उसे पंडितों का दिया हुआ प्रसाद

१, महाकवि जायसी, जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, पदमावत, नागमती संदेश खण्ड, व्याख्याकार-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। पृ० १३८

मानते थे । अपने को सर्वज्ञ मानकर पंडितों की निन्दा करना उनकी प्रवृत्ति नहीं थी -

'हौं पंडितन केर पछलगा । किछु कहि चला तबल देहगा'[१]

काव्य-हेतु—

पूर्ववर्ती कवि-परम्परा की भांति जायसी ने भी ईश्वरीय कृपा और गुरु परम्परा को विशेष महत्त्व दिया है । जायसी ने ईश्वरीय कृपा को तो महत्व दिया ही है, साथ ही साथ 'व्युत्पत्ति' का भी विलक्षण संयोग प्रस्तुत किया है । ईश्वरीय-कृपा के कारण ही उन्होंने —

'एक नयन कवि मुहमद गुनी । सोइ बिमोहा जेहि कवि सुनी'[२]

एक नयन होते हुए भी सारे जग को मोह लिया ।

जायसी पदमावत की कथा प्रारम्भ करने से पूर्व, सृष्टि कर्ता ब्रह्म का स्मरण करते हैं । सर्वशक्तिमान ब्रह्म का वर्णन वह निर्गुण निराकार भाव से करते हैं । आदि सृष्टिकर्ता ब्रह्म अलक्ष्य और अरूप है । उस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है, उसे कोई देख नहीं सकता है, पर फिर भी वह सारे जगत में व्याप्त है -

'अलख अरूप अबरन सो कर्ता । वह सब सौं सब ओहि सो बर्ता
परगट गुपुत सो सरब बिआपी । धरमी चीन्ह न चीन्है पापी'[३]

* * *

'जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिउ दीन्ह'[४]

ये सर्वशक्तिशाली परब्रह्म सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है । वह समस्त संसार में

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत स्तुति खंड, पद - २३, पृ० ७
२. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत स्तुति खंड, पद - २३, पृ० ७
३. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत स्तुति खंड, पद - ७, पृ० ३
४. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत स्तुति खंड, , पृ० ३

समाया हुआ है । वह ज्ञानहीन मनुष्यों के लिए दूर है अन्यथा सबके लिए समीप है ।

ईश्वरीय कृपा और ब्रह्म शक्ति के साथ-साथ उन्होंने गुरु-कृपा को भी महत्व दिया है ।

जायसी गुरु परम्परा का वर्णन करते हुए अपने गुरु को नमन करते हैं —

'सैयद असरफ पीर पियारा । जेहि मोहि पंथ दीन्ह उँजियारा ।
लेसा हियें प्रेम कर दीया । उठी जोति भा निरमल हीया'[१]

जायसी ने अपने गुरु को चन्द्रमा के समान निष्कलंक बताया है, अपने को उनका बंदा-कहा है -

'जहाँगीर वै चिस्ती निहकलंक जस चाँद
वै मखदूम जगत के, हौं ओहि घर कै बाँद'[२]

जायसी का मत है ऐसे गुरु की सेवा करने से मुझे फलप्राप्ति में काव्य करने की क्षमता प्राप्त हुयी, जिससे मेरी जिह्वा खुल गयी और प्रेमकाव्य का वर्ण करने लगी —

'ओहि सेवत मैं पाई करनी । उघरी जीभ प्रेम काव्य बरनी'

बिना गुरु की सेवा के उद्धार का कोई अन्य मार्ग नहीं है—

'जौ चालीस दिन सेवै, बार बुहारै कोई
दरसन होइ 'मुहम्मद', पाप जाइ सब धोई'[३]

जायसी ने ब्रह्म और गुरु की कृपा के साथ-साथ सन्त समागम, सत्संग महिमा पर भी बल दिया है ।

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत स्तुति खंड, पृ० ६
२. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत स्तुति खंड, , पृ० ६
३. जायसी ग्रन्थावली, आखिरी कलाम, , पृ० २९६

रस —

जायसी ने लगभग नवों रसों का परिपाक प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । किन्तु श्रृंगार रस ही सबका अंगीरस है, शेष सब रस उसके अंग मात्र हैं । श्रृंगार के उन्होंने दो ही पक्षों की भावभीनी भ‍ाँकी प्रस्तुत की है । जायसी विरह के सम्राट हैं, विरह की अत्यन्त मर्मस्पर्शी व्यंजना की है । विरह के साथ-साथ संयोग पक्ष में सौन्दर्य वर्णन के प्रसंग में नख-सिख वर्णन के भी बड़े चपल चित्र खींचे हैं ।

जायसी ने श्रृंगार रस को प्रेम रस भी कहा है -

'परे प्रेम के भेल, पिउ सहुँ धनि मुख सो करे,
जो सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम रस'[1]

प्रेममार्गीय कवि मूलत: प्रेमकथाओं द्वारा लौकिक रूप से ही अलौकिकता के प्रति अपने भावों को व्यक्त करते हैं ।

इस अवतरण में शान्त और वीर रस की कवि ने बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति की है -

'वे सहगवन भई जब जाई । बादशाह गढ़ छेंका आई ।।
तौ लगि सो अवसर होइ बीता । भए अलोप राम औ सीता
आइ साह जो सुना अखारा । होइगा राति दिवस उजियारा
छार उठाइ लीन्ह एक मूठी । दीन्ह उड़ाइ पिरथिमी झूठी
सगरिउ कटक उठाई माटी । पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़ घाटी
जौ लहि ऊपर छार न परै । तौ लहि यह तिस्ना नहिं मरै
भा धावा, भइ जूझ असूझा । बादल आइ पँवरिपर जूझा
जौहर भइ सब इस्तिरी, पुरुष भए संग्राम
बादसाह गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम'[2]

इस प्रकार जायसी ने रस का निरन्तर प्रवाह किया है । उन्होंने मानव मन में विद्यमान विभिन्न भावों को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल रस रूप में अभिव्यक्त किया है ।

---

1. अखरावट जायसी ग्रन्थावली, अखरावट, पृ० २६५
2. जायसी ग्रन्थावली, पदमावती नागमती सती खंड, पदमावत, पृ० २६०

'सूफी कवि'

संत कवियों की भाँति इन सूफी कवियों ने भी काव्यांग-चर्चा को अपना विषय नहीं बनाया है, परन्तु साहित्यिक परम्पराएं इनमें भी सुरक्षित हैं। प्रत्येक प्रबन्ध में एक प्रेम कथा विद्यमान है और अपनी कथाओं में चमत्कार और कौतूहल को निरन्तर बनाए रखने के लिए इन कवियों ने आश्चर्यजनक तत्वों की योजना की है, तथा नवीन से नवीन उपमा प्रस्तुत करके कथा को प्रवाहपूर्ण बनाए रखा है। अलंकार के सन्दर्भ में जायसी और मंझन दोनों ने ही उपमा का प्रयोग प्रचुरता से किया है। पदमावत में सादृश्यमूलक और विरोधामूलक दोनों ही प्रकार के अर्थालंकारों का प्रयोग विशिष्टता के साथ हुआ है। शब्दालंकारों में श्लेष का प्रयोग तो अत्यन्त प्रवाहकारी है। प्रस्तुत के समानान्तर अप्रस्तुत के वर्णन में कवि ने सादृश्यमूलक अर्थालंकारों, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लिया है। कवि ने पहले प्रस्तुत का कथन कर बाद में सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुतों की योजना की है। एक स्थल पर कवि ने उपमा और उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग द्वारा अप्रस्तुत योजना कर प्रस्तुत की अत्यन्त प्रभावकारी व्यंजना की है।

प्रस्तुत —

'बरनौ माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं
बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैनि महँ कीआ'[1]

अप्रस्तुत —

'कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी
सुरुज किरिन जनु गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसती देखी'[2]

---

1. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत- नखशिख खण्ड, पृ० ४१
2. जायसी ग्रन्थावली, पदमावत- नखशिख खण्ड, पृ० ४१

इस प्रकार के उदाहरण तो सारे पदमावत में दृष्टिगोचर होते हैं -

'पिउ-वियोग अस बाउर जीऊ । पपिहा निति बोले 'पिउ-पिऊ' ।।
अधिक काम दाहै सो रामा । हरि लेइ सुवा गएउ पिउ नामा ।।
बिरह बान तस लाग न डोली । रकत पसीज, भीजि गइ चोली ।।
सूखा हिया, हार भा भारी । हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी ।।
खन एक आव पेट महँ साँसा । खनहिं जाइ जिउ, होइ निरासा ।।
पवन डोलावहिं, सींचहिं चोला । पहर एक समुझहिं मुख बोला ।।
प्रान पयान होत को राखा ? को सुनाव पीतम कै भाखा ?
आहि जो मारै बिरह कै - आगि उठै तेहि लागि
हंस जो रहा सरीर महं, पांख जरा, गा भागि '[१]

इस पूरे छन्द में कवि ने अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों की भरमार की है । जायसी को छन्दशास्त्र का भी उपयुक्त ज्ञान था ।

'बरनी आइ राजा के कथा, सिंघल कवि पिंगल सब मथा ।'

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें छन्दशास्त्र का भी ज्ञान था ।

अलंकारों में मंझन ने भी उपमा का प्रयोग प्रचुरता से किया है —

(क) 'उपमा देत लजानेउं सुनहुं कहौं सति भाउ '[२]

(ख) 'अस कपोल बिधि सिरे सोहर । बे न जाहिं किछु उपमा लाए '[३]

नायिका के सौन्दर्य को वर्णित करने के लिए कवि ने इस प्रकार की उपमाओं को महत्व दिया है ।

---

१. जायसीग्रन्थावली, पदमावत- नागमती वियोग खण्ड, पृ० १३१
२. मधुमालती, छन्द - ६७, पृ० ८२
३. मधुमालती, छन्द - ८६, पृ० ७९

रामभक्त तुलसीदास--

तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा से समस्त हिन्दी साहित्य को आलोकित किया है। राम साहित्य के तो वे सम्राट माने जाते हैं, यद्यपि तुलसीदास का उद्देश्य काव्य के शास्त्रीय मूल्यों का विवेचन नहीं था, तथापि उनके काव्य में हम काव्य के शास्त्रीय सिद्धान्तों के दर्शन करते हैं।

काव्य-प्रयोजन--

तुलसीदास के अनुसार काव्य का रूप लोक-कल्याणकारी होना चाहिए -

'सरल कवित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान'[1]

तुलसीदास के अनुसार कविता का रूप इस तरह का होना चाहिए कि शत्रु भी जिसे सुनकर, स्वाभाविक बैर को भूलकर, सराहना करने लगे। अपनी कविता के साथ तुलसीदास उन कवियों को भी करबद्ध प्रणाम करते हैं, जो श्रीराम के गुणों का गान करते हैं -

(क) 'चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहुं सकल मनोरथ मेरे
कलि के कबिन्ह करउं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा'[2]

* * *

(ख) 'जो प्राकृत कवि परम सयाने। भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउं सबहि कपट सब त्यागे'[3]

तुलसीदास अपने काव्य का उद्देश्य स्वान्त: सुखाय रघुनाथ गाथा ही मानते हैं -

'स्वान्त: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति'[4]

---

1. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरित मानस, दोहा १४(क), पृ० २३, टीकाकार--हनुमान प्रसाद पोद्दार
2. रामचरितमानस, चौपाई २, पृ० २२
3. रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० २२ । ४ रामचरितमानस.

मोक्ष को भी इन्होंने काव्य का एक प्रमुख प्रयोजन माना है । इस मोक्ष प्राप्ति का सबसे सीधा और सरल उपाय प्रभु का गुणगान है । सुन्दरकाण्ड का अन्तिम दोहा भी इस बात पर प्रकाश डालता है कि केवल हरि के गुणगान को ही जो मनुष्य आदरपूर्वक सुनेंगे वे बिना किसी साधना के ही भवसागर को तर जायेंगे—

'सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान
सादर सुनहि ते तरहिं भवसिंधु बिनाजान'[१]

राम नाम की महिमा का गुणगान करते हुए कवि कहता है कि —

(क) 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू, राम नाम अवलंबन एकू
कालनेमि कलि कपट निधानू, नाम सुमति समरथ हनुमानू'[२]

x x x

(ख) 'राम नाम नरकेसरी कनक कसिपु कलिकाल
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल'[३]

x x x

'भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ । नाम जपत मंगल दिसिदसहूँ
सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा । करउँनाइ रघुनाथहि माथा'[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त मनुष्यों के लिए मोक्ष-प्राप्ति का सीधा और सरल उपाय -राम-कथा-गाथा, स्मरण, भजन और नाम महिमा के मार्ग को ही बताते हैं । भवसिन्धु, बैकुण्ठधाम की प्राप्ति का आधार यही राम-स्मरण ही है ।

---

१. रामचरितमानस, दोहा ६०, पृ० ८५७
२. रामचरितमानस, चौपाई ४, पृ० ३८
३. रामचरितमानस, चौपाई ४, पृ० ३८
४. रामचरितमानस, चौपाई १, पृ० २७

काव्य-हेतु —

तुलसीदास ने काव्य का मूल हेतु प्रतिभा को ही माना है। प्रतिभा में इन्होंने दैवीय प्रतिभा पर भी बल दिया है। भक्तों द्वारा स्मरण किये जाने पर सरस्वती ब्रह्मलोक भी छोड़कर भक्तों की प्रार्थना सुनने आ जाती हैं -

(क) 'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई'[1]

× × ×

(ख) 'कबि कोबिद अस हृदयं बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी'[2]

× × ×

(ग) 'राम-सीय-सनेह बरनत अगम सुकबि सवगहिं
राम-सीय-रहस्य तुलसी कहत-राम कृपाहि'[3]

बुद्धिमान लोग हृदय को समुद्र, बुद्धि को सीप और सरस्वती को स्वाती नक्षत्र के समान कहते हैं, और उनके अनुसार यदि इसमें श्रेष्ठ विचार रूपी जल बरसता है तो मुक्तामणि के समान सुन्दर कविता होती है।

तुलसी ने सत्संग के प्रभाव पर भी अत्यन्त बल दिया है जितने भी सद्गुणों की प्राप्ति होती है- जो भी भलायी, सदबुद्धि प्राप्त होती है, उन सबका आधार सत्संग को ही माना है -

(क) 'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहां जेहिंपाई
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाइ'[4]

× × ×

(ख) 'बिनु सतसंग बिवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई'[5]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १८
२. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १८
३. तुलसीदास - गीतावली - दोहा ४३१, पृ० ८२
४. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ६
५. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ६

पर इस सत्संग की प्राप्ति भी उन्होंने गुरु-कृपा ही मानी है । गुरु कृपा से ही उन्होंने काव्य प्रेरणा की प्राप्ति मानी है । जिनका स्मरण करने से हृदय को दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है --

'श्री गुरपद नख मनि गन जोति, सुमिरत दिव्य दृष्टि हियं होती'[1]

तुलसीदास गुरु स्मरण के साथ गुरु के चरण-कमलों के रज की भी वन्दना करते हैं —

(क) 'बंदउँ गुरु पद पदुम परागा सुरुचि सुबास सरस अनुरागा'

< < <

(ख) 'बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि
महामोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर'

इस प्रकार गुरु-कृपा, सत्संग, साधु संगति इत्यादि को काव्य के प्रेरणामूलक तत्व माना है । भक्त कवियों के काव्य में गुरु-प्रेरणा का महत्व सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है ।

रस —

भक्तिकालीन अनेक कवियों की भाँति तुलसीदास ने भी अन्य रसों का वर्णन करते हुए भक्ति रस को सर्वाधिक महत्व दिया है । वह रस को काव्य का प्राण मानते हुए प्रतीत होते हैं । उन्होंने अपनी कृतियों का आधार आत्मानुभूति, आत्मशान्ति माना है -

(क) 'कविता रसिक न राम पद नेहू । तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू'[2]

< < <

(ख) 'आखर अरथ अलंकृति नाना । छंद प्रबन्ध अनेक विधाना
भाव भेद रस भेद अपारा । कवित दोष गुन विविध प्रकारा'[3]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ५

२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १५

३. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० १५

तुलसीदास अपने काव्य में रस, अलंकार, ध्वनि, रीति,वक्रोक्ति भावों और रसों के अपार भेद, कविता के भाँति-भाँति के गुण-दोष इत्यादि का वर्णन करते हुए भी रसवादी हैं। रस को काव्य का सर्वातिशायी तत्व माना है, परन्तु तुलसीदास ने अपनी रचना में रस से भी ज्यादा महत्व राम प्रताप को दिया है–

'जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहिं'[१]

तुलसी ने अपने काव्य को सर्वजन हिताय माना है उसमें लोकमंगल तत्व की प्रधानता है। अत: जहाँ लोकमंगल तत्व है वहाँ रस का होना तो आवश्यक ही है। काव्य की सार्थकता रसरकता में ही है। भक्तिरस के अलावा उन्होंने करुणारस का भी उल्लेख किया है। इस रस का प्रयोग राम-वन-गमन तथा दशरथ-मरण दृश्य में देखने को मिलता है–

(क) 'सकइ न बोलि बिकल नरनाहू, सोक जनित उर दारुन दाहू
नाइ सीसु पद अति अनुरागा, उठि रघुबीर बिदा तब मागा'[२]

x x x

((ख) 'लोग बिकल मुरुछित नरनाहू, काह करिअ कछु सूझ न काहू'[३]

राम-वन-गमन के पश्चात् तुलसी ने अयोध्या नगरी का वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से किया है –

(क) 'लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी'[४]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १६

२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ४४४

३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ४४४

४. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ४५०

(ख) 'घर समान परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुँ जमदूता '[1]

* * *

(ग) 'राम वियोग बिकल सब ठाढे । जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े'[2]

करुणारस का प्रतिपादन इसके अतिरिक्त दशरथ मरण के दृश्य में भी दृष्टिगोचर होता है –

(क) 'राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम
तनु परिहरि रघुबर , बिरहं राउ गयउ सुरधाय '[3]

* * *

(ख) 'सोक बिकल सब रोवहिं रानी, रूप सीलु, बलु तेजु बखानी
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा, परहिं भूमि तल बारहिं बारा'[4]

हम देखते हैं कि तुलसीदास ने करुणारस का वर्णन अत्यन्त व्यापक ढंग से किया है । तुलसी ने रस को काव्य का मूल उपादान माना है । उनकी दृष्टि में रस का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है । तुलसीदास ने एक, वात्सल्य रस का ही वर्णन नहीं किया है इसका भी कारण है कि उस समय तक वात्सल्यरस का पर्याप्त साहित्य नहीं था । बाकी राम कथा के उनके सारे स्थल रस-स्वरूप को व्यक्त करते हैं ।

—

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ४५०

२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ४५०

३. रामचरितमानस, दो० १५५, पृ० ५१८

४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ५१६

रामक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी जी अलंकारवादी आचार्य नहीं थे। अलंकारों का प्रयोग उन्होंने स्वाभाविक रूप से किया है। अनेक मनोहारी उपमायें काव्य में सहज रूप में अनायास ही आ गई हैं। अलंकारों के प्रति आपकी रुचि भी परिलक्षित हुई है। उनके महाकाव्य में शब्द और अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों एवं उनके विविध रूपों के कलात्मक विन्यास का अभाव नहीं है। इसी सन्दर्भ को इंगित करते हुए डा० शम्भूनाथ सिंह ने निम्नलिखित अभिव्यक्ति की है --

'मानस की अलंकार योजना का उद्देश्य है अर्थ को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करना और सूक्ष्म गुणों, अनुभूतियों और क्रियाओं को मूर्तरूप में उपस्थित करके उन्हें सहज बोधगम्य बनाना। इसलिए मानस में अलंकार रमणीयता की वृद्धि करते हैं। उसके भार नहीं, बल्कि सौन्दर्य के वाहन या साधन हैं।'[१]

गोस्वामी जी के काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकार के अलंकार हमें देखने को मिलते हैं। जहाँ तक हम देखते हैं, प्रायः सभी प्रकार के अलंकारों के दर्शन हमें इसमें देखने को मिलते हैं। उपमा का एक बहुत सुन्दर उदाहरण हमें राम के विवाह-वर्णन में देखने को मिलता है --

अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के।।
बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन। बरु दुलहिनि बैठे एक आसन।।[२]

मानस में पूर्ण और लुप्त दोनों ही प्रकार की उपमायें प्राप्त होती हैं। पूर्णोपमा का एक उदाहरण --

झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे।[३]

---

१. डा० शम्भूनाथ सिंह, महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ५४८
२. श्रीरामचरितमानस, चौपाई ५, पृ० ३३१
३. श्रीरामचरितमानस, चौपाई १, पृ० ५६५

यहाँ कवि तुलसीदास भरत के चरणों में पड़े हुए छालों की उपमा ओस की बूंदों से दे रहे हैं। भरत का नंगे पांव पृथवी पर चलने के कारण, चरणों में पड़े छाले ऐसे चमकते हैं, जैसे कमल की कली पर ओस की बूंदें चमकती हों।

लुप्तोपमा अलंकार —

> 'बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि
> कारन मोहि सुनाउ गज गामिनि निज कोपकर'[१]

उपमा के प्रयोग द्वारा कवि ने भाव-वर्णन में वैदग्ध्य का समावेश किया है। अनुप्रासिक योजना तो मानस में अत्यन्त सहज रूप में हुयी है—

> 'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल'

तुलसीदास ने छन्दों का प्रयोग विशेष रुचि के साथ नहीं किया है, तथा सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से वह आगे नहीं बढ़े हैं। परन्तु उनकी चौपाईयों में 'सुन्दर' 'मंजु' इत्यादि इस बात के प्रतीक हैं कि वे छन्द की आकार शोभा और लय को उचित महत्व देते हैं।

---

१. श्रीरामचरितमानस, सो० २५, पृ० ३६६

सूरदास —

कृष्णभक्ति धारा में हम सर्वप्रथम सूरदास को लेते हैं । भक्ति से प्रेरित होकर ही उन्होंने अपने पदों की रचना की है, उनके पदों का आधार भक्ति भाव ही है । कृष्णभक्ति के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास, काव्य के शास्त्रीय लक्षणों से प्रेरित दिखायी पड़ते हैं । उन्होंने काव्य में अलंकारों, संयोग,वियोग इत्यादि के बारे में बहुत कुछ लिखा है, वात्सल्य और शृंगार के वे बेजोड़ व्याख्याकार माने गये हैं । भक्तिकालीन सभी कवियों का एकमात्र उद्देश्य प्रभु का निष्काम भाव से गुणगान करना था, इन कवियों का उद्देश्य यश, अर्थ और प्रलोभनों से प्रेरित नहीं था । इन्होंने मुक्तकण्ठ से और मुक्त भावों से प्रभु के गुणों का गान किया है । अब हम इनके काव्य के शास्त्रीय पक्ष को लेते हैं । यद्यपि सूर का लक्ष्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन नहीं था । वह भक्त थे, दार्शनिक नहीं तथापि भक्ति में विभोर होकर उन्होंने जो उद्गार किए हैं, उन्हीं के आधार पर हम यह विवेचन करते हैं ।

काव्य-प्रयोजन—

सूरदास ने आनन्दलाभ और मोक्षप्राप्ति इन दो को अपनी रचना का मुख्य प्रयोजन माना है । यह आनन्द उन्होंने कवि और सहृदय दोनों के लिए माना है । इस आनन्द का आधार हरि-चर्चा, हरिगुणगान, हरि-स्मरण,हरि-वर्णन को बताया है -

'हरि-हरि हरि सुमिरो सब कोइ, हरि हरि सुमिरत सब सुख होइ
हरि-समान द्वितिया नहिं कोइ, स्तुति-सुम्रिति देख्यो सब जोइ '[१]

सूर ने हरि स्मरण से सब सुखों की प्राप्ति मानी है । हरि समान इस संसार में उन्होंने दूजा किसी को भी नहीं माना है ।

चीरहरण, कालियादमन, गोवर्द्धन आदि लीलायें, हरि की कृपा को

---

१. सूरसागर, नागरीप्रचारिणी सभा - प्रथम भाग, प० ३४८, पृ० ११६

प्रदर्शित करती है—

'अति तप देखि कृपा हरि कीन्हो
तन की जरनि दूरि भई सबकी, मिलि तरुनिनि सुख दीन्हो'.[१]

सूर के अनुसार कृष्णभक्ति में अनुराग रखने वाले भक्तों को इस संसार के दुखों से मुक्ति मिलती है और इस अनुराग में इस भक्ति में उन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है —

'आनंद-मगन राम - गुन गावै, दुख-संताप की काटि तनी'

इस भक्ति की प्राप्ति के लिए उन्होंने नाम महिमा, लीलागान, संत संगति, स्तुति इत्यादि पर जोर दिया है -

'संतनि की संगति नित करै । पापकर्म मन ते परिहरै'.[२]

सूरदास के अनुसार साधु संगति, नाम महिमा इत्यादि से भक्तों को भक्ति के क्षेत्र में अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि, सूरदास हरिकृपा को अत्यन्त महत्त्व देते हैं । उनका इसमें पूर्ण विश्वास है कि वह हरि में अपने को पूर्णरूप से समर्पित करते हैं । उनके हरि ने गणिका तक का उद्धार कर दिया है । 'कवि ने प्रत्येक स्कन्ध के आरम्भ में तथा प्राय: भिन्न-भिन्न लीलाओं के आरम्भ में 'हरि, हरि, हरि, हरि' सुमिरन करने का आदेश दिया है ; तथा बार-बार नाम स्मरण की महिमा गायी है ।'[३]

राम नाम की महिमा, उसकी शक्ति, उसके महत्त्व का वर्णन कवि विभिन्न दृष्टिकोणों से, विभिन्न पदों के माध्यम से समझाना चाहता है । राम स्मरण मात्र से पतितों का उद्धार हो जाता है । राम नाम की शक्ति अपार है

---

१. सूरसागर, नागरीप्रचारिणी सभा - प्रथम भाग, प० १३८७, पृ० ५२५

२. सूरसागर, पद संख्या - ३६४, पृ० १२४

३. ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, पृ० १८७

इससे केवल यह जन्म ही नहीं, वरन् आगामी जीवन भी सुधर जाता है -

दीन-दयाल, पतित-पावन प्रभु-बिरद बुलावत कैसो ?
कहा भयौ गज-गनिका तारें जो न तारो जन ऐसौ ।
जो कबहूं नर जन्म पाइ नहिं नाम तुम्हारो लीनौ ।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तजि, अनत नहीं चित दीनौ ।
अकरम, अबिधि, अज्ञान, अवज्ञा, अनमारग, अनरीति ।
जाके नाम लेत अघ उपजै, सोई करत अनीति ।
इंद्री- रस-बस भयौ, भ्रमत रह्यौ, जोइ कह्यौ सो कीनौ ।
नेम-धर्म-ब्रत, जप-तप-संजम, साधु-संग नहिं चीनौ ।
दरस-मलीन, दीन दुरबल अति, तिनकौं मैं दुख-दानी ।
ऐसो सूरदास जन हरि कौ, सब अधमनि मैं मानी ।

इसीलिए कवि हरिनाम स्मरण के लिए प्रेरणा देता है : "रे मन, हरि, हरि, हरि सुमरि ? नाम के समान सैकड़ों का नहीं है ।"[१]

सूरदास ने मोक्ष-प्राप्ति का शीघ्र और सरल साधन भक्ति को माना है । वह प्रभु से सिर्फ भक्ति माँगते हैं और कुछ नहीं । समस्त सुखों, समस्त वस्तु उनकी भक्ति के समक्ष तुच्छ है । सूर प्रभु से करबद्ध प्रार्थना करते हैं कि वह सिर्फ उनकी भक्ति के इच्छुक हैं । "हे भगवान मुझे अपनी भक्ति दो चाहे आप मुझे करोड़ों प्रलोभन दें लेकिन मुझे अन्य किसी बात में रुचि नहीं हो सकती—

"अपनी भक्ति देहु भगवान
कोटि लालच जौ दिखावहु, नाहिनै रुचि आन"[२]

कलियुग में मनुष्य का उद्धार ये हरि चरण ही हैं । उनके पदों में दैन्य की भावना सबसे पहले प्रदर्शित होती है । इस सम्बन्ध में सूर के अनेक पद हैं—

"प्रभु, हौं सब पतितन कौ टीकौ
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ"

< < >

---

१. ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, पृ० १८८
२. सूरसागर, पदसंख्या १०६, पृ० ३४

'प्रभु, हौं बड़ी बेर कौ ठाढ़ौ
और पतित तुम जैसे तारे, तिनहीं मैं लिखि काढ़ौ'[1]

सूर ने समस्त सुखों की प्राप्ति, समस्त दुखों का नाश, परलोक की प्राप्ति इत्यादि सब हरि के गुण-गान से ही बतायी है -

'है हरि नाम कौ आधार
और इहि कलिकाल नाहीं, रह्यौ बिधि ब्यौहार'[2]

भक्ति को कवि ने सर्वत्र माना है, जो कुछ इस नश्वर संसार में सारूप है वह यह भक्ति है। इस भक्ति की प्राप्ति से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है —

'जो सुख होत गुपालहिं गायैं
सो सुख होत न जप-तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हायैं
दियैं लेत नहिं चारि पदारथ-चरन कमल चित लायैं
तीनि लोक तृन-सम करि लेखत, नंद-नँदन उर आयैं
बंसीबट--बृन्दावन, जमुना तजि बैकुंठ न जावै
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै'[3]

अत: कवि हरि के गुणगान पर प्रमुख रूप से बल देता है। हर स्कंध के अन्त में कवि हरि के गुण गाकर तरने का आश्वासन देता है—

'नाम प्रतीति भई जा जन कौं, लै आनँद,दुख दूरि दह्यौ
सूरदास धनि-धनि वह प्रानी,जो हरि कौ ब्रत लै निबह्यौ'[4]

काव्य हेतु —

सूरदास ने अनेक स्थलों पर, भक्ति काव्य-रचना के लिए प्रभु कृपा

---

१. सूरसागर, पद १३७, पृ० ४५
२. सूरसागर, पद ३४७, पृ० ११६
३. सूरसागर, पद ३४६, पृ० ११६
४. सूरसागर, पद ३५१, पृ० ११७

को महत्त्व दिया है -

"नव स्कन्ध नृप सौं कहे, श्री सुकदेव सुजान
सूर कहत अब दसम कौं, उर धरि हरि कौ ध्यान"[१]

इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने दैवी-कृपा को काव्य रचना का आधार माना है।

"काव्य कला के विषय में पाश्चात्य और पूर्वीय दृष्टिकोणों में विभिन्नता है। प्राचीन यूनान में काव्यकला में नैतिक-दृष्टिकोण को महत्त्व दिया गया और कवि को कुछ उपदेशक जैसे रूप में स्वीकार किया गया। रोमन आलोचकों ने भी कविता को जीवन का अनुकरण माना है। इटली के आलोचकों ने प्रकृति के अनुकरण को प्रश्रय दिया और प्राकृतिक सत्य और आदर्शों का अनुगमन काव्य-कला के लिए आवश्यक माना। धीरे-धीरे काव्य-कला में कल्पना को प्रधानता मिलती गई। बेकन ने कल्पना को मानसिक शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है और उसे काव्यात्मक सूझ की जननी बताया है।"[२] किन्तु भारतीय मत में दैवी-प्रतिभा पर अधिक बल दिया गया है -

"कीजै कृपा आपने अनुचर, अनुपम लीला गाऊँ"[३]

सूरदास ने गुरु-महिमा को भी महत्त्वपूर्ण माना है --

"हरि लीला अवतार पार सारद नहिं पावै
सतगुरु-कृपा-प्रसाद कछुक तातैं कहि आवै"[४]

भजन के द्वारा आराध्य की कृपा का भी उन्होंने महत्त्व स्वीकार

---

१. सूरसागर, पदसंख्या १, पृ० २५५

२. डा० हरवंशलाल शर्मा, सूर की काव्यकला, पृ० ४

३. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पद - २७५८, पृ० ६८०

४. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पद - ११२०, पृ० ४३१

किया है --

'है हरि भजन को परमान
नीच पावैं ऊँच पदवी, बाजते नीसान
भजन को परताप ऐसो, जल तरे पाषान
अजामिल अरु भीलि गनिका, चढ़े जात बिमान '[1]

'भो अनाथ को नाथ हरी ' कहकर सूरदास ने आढ़े वक्त में भक्तों के उद्धार के निमित्त भी तत्पर्य दिखाया है --

'निबहौं बाँह गहे की लाज
द्रुपद सुता भाषति नँदनंदन, कठिन बनी है आज
भीषम, द्रोन, करन, दुरजोधन, बैठे सभा बिराज
तिन देखत, मेरो पट काढ़त, लीक लगै तुम लाज
खंभ फारि हरनाकुस मार्यो, जन प्रह्लाद निवाज'[2]

रस --

सूरदास ने मुख्यत: श्रृंगार और वात्सल्य इन दो रसों को ही अपनाया है । तथापि अन्य रस भी देखने को मिल जाते हैं । वात्सल्यरस के अनेकानेक पद सूरसागर में भरे पड़े हैं, कृष्ण के पालने में झूलने से लेकर गो चराने, दहि-मक्खन चुराने, गोपियों के साथ क्रीडा करने के अनेक पद हैं -

'जसोदा हरि पालनैं झुलावै
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै '[3]

x x x

---

१. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पद २३५, पृ० ७८
२. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पद २५५, पृ० ८२
३. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पद ६६१, पृ० २७८

(क) 'किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिवैं धावत
कबहुँ निरखि हरि आपु छांह कौं, कर सौं पकरन चाहत'[1]

(ख) 'हौं बलि जाउँ छबीले लाल की
धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की'[2]

कवि ने कल्पना नेत्रों से अपने इष्ट की बाल सुलभ चेष्टाओं का अत्यन्त सूक्ष्मता से वर्णन किया है। इनका संयोग और वियोग पक्ष दोनों ही मर्मस्पर्शी है। संयोग वर्णन में तो इन्होंने बहुत कुछ कहा ही है पर वियोग वर्णन तो अतुलनीय ही है। एक स्थल पर सूर ने रस शब्द के प्रयोग द्वारा नव रसों की व्याख्या की है —

'सूरदास प्रभु नव-रस विलसत नवलराधिका जोबन-मोरी'[3]

जहां कृष्ण और राधा विहार कर रहे हैं वहां नव रस सुशोभित हो रहे हैं।

सूर के अलंकार वर्णन का शास्त्रीय अनुभव हमें इस पद से होता है —

'नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई।
सनि, गुरु-असुर, देवगुरु मिलि मनु-भौम सहित समुदाई।'[4]

यह अलंकार-वर्णन इस बात को दर्शाते हैं कि वह अलंकार तत्वों को सुन्दर रूप से ग्रहण कर सकते थे। सूर ने वियोग वर्णन भी बड़ा सफल किया - अपने विरह में गोपियाँ प्रकृति से अपनी तुलना करती हैं—

'मधुबन तुम क्यौं रहत हरे
बिरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यौं न जरे'[5]

साहित्य लहरी में भी कुछ ऐसे पद हैं जो रस विशेष के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये हैं।

---

१. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पद ७८, पृ० २६६
२. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पद ७२३, पृ० २९७
३. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पद ७२६, पृ० २९८
४. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पद ३८२८, पृ० १३५३
५. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पद ३८२८

नन्ददास—

अष्टछापी कवियों में नन्ददास का ही नाम श्रेष्ठ माना गया है। नन्ददास पुष्टि सम्प्रदाय में आने के बाद प्रसिद्ध हुए थे। पुष्टि सम्प्रदाय में आने के बाद ये राम और हनुमान को विषय बनाकर पद रचा करते थे। नन्ददास कवि पहले थे भक्त बाद में, मान मंजरी और अनेकार्थ मंजरी, ग्रन्थ इस बात के प्रतीक हैं। ये दोनों केवल कोश ग्रन्थ हैं, जिसमें भक्ति का लेश मात्र भी वर्णन नहीं किया गया है। नन्ददास एक रसिक व्यक्ति थे, गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की शरण में आने पर उनके दर्शनों, तथा उपदेशों से इनका मन सांसारिक माया मोह से छूटकर, लौकिक से आध्यात्मिक प्रेम की ओर उन्मुख हो गया था। नन्ददास ने अपने ग्रन्थों की रचना अपने एक परम मित्र की प्रेरणा से उन्हीं के लिए की थी। इन्होंने रूप मंजरी की रचना तत्कालीन प्रेम-पद्धति को आधार बनाकर की है। इनके भ्रमरगीत का आधार वही है जो सूरदास के भ्रमरगीत का है। परन्तु इन्होंने अपने 'भ्रमरगीत' को अपनी प्रतिभा के बल पर नया रूप दिया है। भागवत पुराण के दशम् स्कन्ध में जो भ्रमरगीत प्रसंग है, न तो उन्होंने उसका अनुवाद किया है और न ही उसका अनुकरण। अष्टछापी कवियों ने भागवत को छोड़कर अन्य ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने भागवत को लक्ष्यकर अपने काव्य की रचना की है। रसमंजरी और विरहमंजरी की रचना रीतिकाव्य पद्धति के अन्तर्गत आती है। रास पंचाध्यायी के आरम्भ में उन्होंने शुक और भागवत की वन्दना की है —

'वंदन करौं कृपानिधान श्री शुक शुभकारी
शुद्ध जोतिमय रूप सदा सुन्दर अविकारी'[1]

दशम स्कन्ध भागवत का कथानुवाद है। सिद्धान्त पंचाध्यायी में इन्होंने आगम निगम आदि को अपना आधार बनाया है।

काव्य-प्रयोजन—

नन्ददास ने अपने काव्य का मूल प्रयोजन आनन्द, मोक्ष भक्ति

---

१. रास पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय - रोला १, पृ० ३ (नन्ददास ग्रन्थावली - ब्रजरत्नदास-काशी नागरीप्रचारिणी सभा।

इत्यादि माना है । आनन्द उपलब्धि का साधन इन्होंने हरि-नाम का श्रद्धापूर्वक मनन और भजन को लिया है—

> 'जो यह मंगल गाय चित दे सुनै-सुनावै
> सो सब मंगल पावै हरि-रुकमिनि मन भावै'[1]

भक्त का भक्ति में समर्पित हो जाना ही आनन्द की उपलब्धि का कारण है —

> 'हो सज्जन जन रसिक सरस मन कै यह सुनियौ
> सुनि सुनि पुनि आनन्द हृदै ह्वै नीके गुनियो'[2]

प्रेम भक्ति को इन्होंने भक्तों की निधि कहा है । भक्तों के द्वारा प्रेम भक्ति के माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति पर, ब्रह्म की प्राप्ति पर बल दिया है—

(क) 'प्रथमहि प्रनऊं प्रेममय, परम जोति जो आहि
रुपठ पावन रूपनिधि, नित्य कहत कवि ताहि'[3]

< ^ <

(ख) 'परम प्रेम पद्धति इक आही, 'नंद' जथामति बरनत ताही'[4]

रूपमंजरी की रचना का तो उनका यही मात्र लक्ष्य ही था । नन्ददास के अनुसार इस संसार में जो कुछ है वह सब श्रीकृष्ण को ही समर्पित कर है —

> 'रूप प्रेम आनंद रस जो कुछ जग में आहि
> सो सब गिरिधर देव कौं निधरक बरनौं ताहि'[5]

सहृदयों द्वारा श्रद्धापूर्वक प्रेम भक्ति की फल-प्राप्ति उसी प्रकार है

---

1. नन्ददास ग्रन्थावली, रुक्मिणी मंगल, रोला १३२, पृ० २११
2. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, रोला १३५, पृ० ४८
3. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, दोहा १, पृ० ११६
4. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, चौपाई १, पृ० ११७
5. नन्ददास ग्रन्थावली, रसमंजरी, दोहा ७, पृ० १४५

जैसे चकमक आग —

'प्रेम मिटे नहिं जनम भरि, उत्तम मन की लागि
जौं जुग भरि जल में रहै, बुझै न चकमक आगि'[१]

भक्ति की प्राप्ति का एक और साधन वह हरि भक्तों की संगति बताते हैं —

'हरि दासन को संग करै हरि-लीला गावै
परम कांत एकान्त भगति रस तौ मल पावै'[२]

भक्त जब भक्ति में पूर्णतया लीन हो जाता है तब वह प्रभु के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है। इस सान्निध्य की अवस्था में पहुँच कर ही उसे मोक्ष की प्राप्ति भी होती है। उन्होंने उसी स्थल को बैकुण्ठ माना है जहाँ श्रीकृष्ण हैं, जहाँ वह रास करते हैं, उसके अन्यत्र वह कहीं और बैकुण्ठ के दर्शन नहीं करते हैं —

'अस अद्भुत गोपाल लाल सब काल बसत जहँ
याही तें बैकुण्ठ- बिभव कुंठित लागत तहँ'[३]

सान्निध्य की अवस्था में पहुँचने पर भक्त श्रीकृष्ण का वर्णन करने में असमर्थ हो जाता है —

'मोहन अद्भुत रूप कहि न आवति छबि ताकी
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी'[४]

कवि का वृन्दावन का वर्णन इस मोक्ष की ओर ही संकेत करता है —

'बैकुण्ठ मधि मुक्त हैं जिते। सब वृन्दावन ढाँ ढाँ तित'[५]

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, रसमंजरी, दोहा १२६, पृ० १५०
२. नन्ददास ग्रन्थावली, रास पंचाध्यायी, रोला ११८ पृ० ४०.
३. नन्ददास ग्रन्थावली, रास पंचाध्यायी, रोला ३७, पृ० ६
४. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी , रोला ३४, पृ० ६
५. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, रोला ४८, पृ० ३१६

वृन्दावन का वर्णन कवि ने इतना मनोहारी किया है कि उसके सामने उन्होंने बैकुण्ठ को भी तुच्छ समझा है । जो कुछ है सब वृन्दावन में ही जहाँ श्रीकृष्ण हैं, जहाँ वह रास करते हैं, जहां वह धेनुओं को चराते हैं, जहाँ गोपियों के साथ अपना नित्य नया रूप आलोकित करते हैं । ऐसा वृन्दावन मोक्ष समद है, मोक्ष की कामना उन्होंने यहीं पूर्ण कर ली है, ऐसे मनोहारी दृश्यों का दर्शन साक्षात बैकुण्ठ दर्शन है -

(क) 'मधुर मधुर सुर बोलत मोर । नंद-सुवन के मन के चोर
इहि विधि वृन्दावन छवि पावत । तहँ मनमोहन धेनु चरावत'[1]
^ ^ <

(ख) वृन्दावन सब छवि को धाम । सखन समेत स्याम बलराम '[2]

माया जनित स्वरूप को त्याग कर आत्मा का अपने रूप में मिल जाना ही मुक्ति है — 'अन्य रूप की त्यागन मुक्ति, निज स्वरूप की प्रापति मुक्ति '[3]

काव्य हेतु—

नन्ददास ने भी काव्य हेतुओं में गुरुकृपा, दैवीकृपा को लिया है । काव्य रचना को इन्होंने दैवी-कृपा का ही फल माना है । इसीलिए काव्य प्रारम्भ करने के पूर्व वह विभिन्न देवी-देवताओं की वन्दना करते हुए श्रीकृष्ण की महिमा का उल्लेख करते हैं -

(क) 'नन्ददास कौं इतनौ कीजै, पावन गुन-गावन रति दीजै '[4]
< ^ ^

(ख) नमो-नमो आनंदघन, सुंदर नंद - कुमार'[5]

भक्ति की प्राप्ति में गुरु को अत्यन्त महत्त्व दिया है । भक्ति का

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, रोला २७, पृ० २८५
२. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, रोला १२, पृ० २८७
३. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, , पृ० २१७
४. नन्ददास ग्रन्थावली, गोवरधन लीला, पृ० १६३
५. नन्ददास ग्रन्थावली, रसमंजरी , दोहा १, पृ० १०७

साधन तो उन्होंने गुरु को ही माना है। गुरु को उन्होंने ईश्वर रूप में ही देखा है —

> 'तुम ईश्वर गुरु आतम अपने और सबै रजनी के सपने'

गुरु की कृपा द्वारा गुरु भक्त उद्धार का वर्णन —

> 'ज्यौं गुरु गिरिधर देव की, सुन्दर क्या दरेर
> गुंग सकल पिंगल पढै, पंगु चढ़ै गिरि मेर'[१]

गुरु की महिमा को वह निम्न शब्दों में भी प्रकट करते हैं —

> 'श्री गुरु चरन-सरोज मनावौं, गिरि गोवरधन-लीला गावौं
> कलि-मल- हरनी मंगल करनी। मन हरनी श्री सुक मुनि बरनी'[२]

रस —

नन्ददास ने अनेक रसों भक्तिरस, उज्ज्वलरस, अद्भुतरस, तथा प्रेमरस का वर्णन किया है। रसों के वर्णन में इन्होंने विशेष रुचि ली है। रसमंजरी में इन्होंने प्रभु को ही रस का आधार माना है -

> 'है जो कछु रस इही संसार। ताकहुँ प्रभु तुम ही आधार
> ज्यौं अनेक सरिता जल बहै। आनि सबै सागर में रहै'[३]

और प्रेम तत्व को पहिचानने के लिए वह यह कहते हुए पाए जाते हैं --

> 'हाव भाव हेलादिक जिते। रति समेत समुझ बहु तिते
> जब लग इनके भेद न जानै। तब लग प्रेम न तत्व पिछानै'[४]

इसमें 'भाव' को वह नायिका के सन्दर्भ में इस भाँति प्रदर्शित करते हैं —

(क) 'छिन छिन भाव बढ़त जो ऐसे। सरद हैम ससि कलानि जैसे
भाव बढ़ुयो क्यौं जानिय सोई। और वस्तु कहुँ ठौर न होई'[५]

< < <

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कंध, रोला ८, पृ० २१६
२. नन्ददास ग्रन्थावली, गोवरधन लीला , , पृ० ११०
३. नन्ददास ग्रन्थावली, रसमंजरी, चौ० १, पृ० १४४
४. नन्ददास ग्रन्थावली, रसमंजरी, चौ० , पृ० १४४
५. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, चौपाई -

(ख) 'प्रेम की प्रथम अवस्था आई । कवि जन भाव कहत हैं ताई
भाव बढ़्यो क्यों जानिए सोई । अवर वस्तु कहुं ठौर न होई'[1]

भाव की परवर्ती अवस्थायें ही हाव और हेला है । नन्ददास हाव को इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं —

'नैन बैन जब प्रगटे भाव, ताकहुँ सुकवि कहत है हाव'[2]

और 'हेला' का वर्णन नन्ददास नायिका की शृंगार-प्रवृत्ति को प्रगट करने वाले साधनों को कहते हैं —

'छन छन बानि बनायो करै, बार बार कर दर्पन धरै
अति शृंगार मगन मन रहै, ताकहु कवि हेला छवि कहै'[3]

रूपमंजरी में — हाव ते बहुरि जु उपजै हेला

प्रभु को रस का आधार मानते हुये उन्होंने अद्भुत, उज्ज्वल, प्रेम रस इत्यादि को इस प्रकार वर्णित किया है—

(क) 'यह अद्भुत रस-रासि कहत कछु नहिं कहि आवै
सुक सनकादिक नारद सारद अतिसय भावै'[4]

(ख) 'अद्भुत रस रह्यो रास कहत कछु नहिं कहि आवै
शेष सहस मुख गावै अजहूँ अंत न पावै'[5]

(घ) 'अद्भुत रस रह्यो रास कहत कछु नहिं कहि आवै
ज्यों मूके रस को चसको मन ही मन भावै'[6]

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, भाव, पृ० १४०
२. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, चौपाई, पृ० १३१
३. नन्ददास ग्रन्थावली, रसमंजरी, हेला, पृ० १४१
४. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, रोला, ३०, पृ० २५
५. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, रोला १३४, पृ० ४८
६. नन्ददास ग्रन्थावली, रास पंचाध्यायी, रोला ८६, पृ० ३४

उज्ज्वल रस के सम्बन्ध में निम्न पद हैं --

'उज्ज्वल रस को यह सुभाव बाँकी छबि छावें
बंक कहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावे '[1]

नन्ददास ने इन समस्त रसों, शास्त्र और सिद्धान्त का एक मात्र आधार श्रीकृष्ण को माना है -

(क) 'सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस
जाके रंचक सुनत गुनत श्रीकृष्ण होत बस '[2]

x x x

(ख) 'हरि-रस-ओपी-गोपी ये सब तियनि तें न्यारी
कवंल-नैन गोविन्द - चंद की प्रान पियारी'[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अधिकतर रसों का वर्णन किया और यह वर्णन श्रीकृष्ण को दृष्टि में रखकर किया गया है । उनकी दृष्टि में रस का अत्यन्त महत्व है, उनके अनुसार जिनके हृदय में रस नहीं है, वह निर्विकार, कठोर, पत्थर की तरह है । ऐसे मनुष्य के हृदय को तो अर्जुन के बाण तक नहीं भेद सकते--

'जो हिय अच्छर-रस नहिं भिदे । सो हिय अर्जुन बान न छिदे'[4]

इससे भी बढ़ कर वह यह कहते हैं --

'रस बिहीन जे अच्छर सुनहीं, ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं '[5]

इससे हम उनके रस वर्णन, रस प्रेम को समझ सकते हैं ।

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, रोला ७९, पृ० १०

२. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, रोला १३६, पृ०

३. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, रोला ६५, पृ० १०

४. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, चौपाई ३१, पृ० ११८

५. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, चौपाई २७, पृ० ११८

कृष्णभक्त कवि

कलात्मकता के प्रति कृष्णभक्ति काव्य के कवि भी जागरूक दिखायी दिए हैं। सूरकाव्य में भाव प्रेरित कथन की वक्रता अधिकांश स्थलों पर प्राप्य है। सूर ने अपने काव्य में उक्ति-वैचित्र्य में वक्रता का सहारा लिया है। बात को सीधे ढंग से न कह कर वचन चातुरी के द्वारा व्यक्त किया है। सूरदास ने अपने काव्य में उपमा के संयोजन पर विशेष ध्यान दिया है। उपमा के उपादानों में बुद्धि के साथ-साथ भावुकता पर उन्होंने विशेष बल दिया है। उपमा की सार्थकता ही इस बात में है कि अपनी उपमाओं के माध्यम से वैसा ही चित्र प्रतिबिम्बित कर सकें वैसा कि उसके अन्त: स्थल में उभरा हो। सूरदास ने साहित्य लहरी में अलंकारों का नामोल्लेख तक किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अलंकार-शास्त्र का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। सूरसागर में कवि ने नवीनतम उपमाओं की भरमार की है, एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न उपमाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन्होंने अपने प्रबन्ध का आरम्भ ही एक सुन्दर उपमा के द्वारा किया है --

'चरन-कमल बंदौं हरि राइ'

चरणों के लिए इस उपमा का प्रयोग प्राय: सभी कवियों ने मुक्त हृदय से किया है। एक और उपमा का उदाहरण --

प्रिय तेरैं बस यौं री माई।
ज्यौं संगहिं संग छाँह देह-बस, कहयौ नहिं जाई।।
ज्यौं चकोर बस सरद चन्द्र के, चक्रवाक बस भान।
जैसे मधुकर कमल-कोस-बस, त्यौं बस स्याम सुजान।।
ज्यौं चातक बस स्वाति बूँद कैं, तन कैं बस ज्यौं जीय।
'सूरदास' प्रभु अति बस तेरैं, समुझि देखि धौं हीय।।[1]

---

1. सूरदास, सूरसागर, द्वितीय खण्ड, दशम स्कन्ध, पद संख्या २६८७, पृ० ९५७, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी।

भावों में तीव्रता प्रदान करने के लिए इन्होंने यमक और श्लेष आदि अलंकारों का भी प्रयोग है।

यमक — 'ऊधौ जोग जोग हम नाहीं'[1]

सूरदास ने पदों में अर्थ सौरभ के लिए श्लेष अलंकार का प्रयोग किया --

'निरखतिं अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावतिं लै छाती
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम जू की पाती'[2]

सूर काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही प्रयोग अधिक और स्वाभाविक हुआ है। शब्दालंकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का विशेष प्रयोग किया है। दृष्टकूट पदों में श्लेष और यमक के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। श्रृंगार के दोनों ही पक्षों का प्रयोग उन्होंने सफलता के साथ किया है। अनुप्रास का प्रयोग उन्होंने पूरे काव्य में किया है। सांगरूपक का प्रयोग सबसे अधिक कवि ने किया है -

हरि जू की आरती बनी
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
... ...
यह प्रताप दीपक सुनिरन्तर, लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान में अति विचित्र सजनी।[3]

नन्ददास ने भी अपने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है, पर अलंकार के स्वरूप की चर्चा उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में न करके अप्रत्यक्ष रूप में की है। नन्ददास चमत्कारवादी आचार्य नहीं थे। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग भाषा और भाव को आकर्षक बनाने के लिए किया था।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ३८२४, पृ० १५६६

२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ४१०५, पृ० १४३५

३. सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद संख्या ३७९, पृ० १२३

नन्ददास ने मौलिकता को लिए हुए बड़ी मार्मिक और प्रभावशाली उत्प्रेक्षाओं की कल्पना की है। नन्ददास ने अपनी कलात्मकता का पूर्ण परिचय रासपंचाध्यायी में दिया है। उपमा का एक खूबसूरत उदाहरण --

'तब लीनी कर कमल योगमाया सी मुरली'[1]

अलंकारों का प्रयोग उन्होंने भाव और भाषा की सजीवता बनाए रखने के लिए किया है, किसी प्रकार की चमत्कारिता का परिचय देने के लिए नहीं। इनके द्वारा की गयी उत्प्रेक्षायें भी अत्यन्त मार्मिक और सजीव हैं।

उत्प्रेक्षा — 'भरि आए जल नैन, प्रेमरस ऐन सुहाये
जनु सुंदर अरविंद अलिंदन बैठ झलाये'[2]

रूपक — 'लोचन तृषित चकोरन के चित चौप चढ़ावसि'[3]

अतिशयोक्ति— 'सेस महेस सुरेस गनेस न पारहिं पावैं'[4]

अनुप्रास — 'नूपुर, कंकन, किंकिन, करतल मंजुल मुरली
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली'[5]

यमक — 'रीझि सरद की रजनी न जनी कौतिक बाढ़ी
बिरजन सजनी स्याम यथारुचि अति रति गाढ़ी'[6]

नन्ददास ने छन्दों का भी प्रयोग किया है, चौपाई, छन्द, दोहा, और रोला छन्दों का प्रयोग दिखायी दिया है। भंवरगीत की रचना इन्होंने मिश्रित छन्दों में की है। नन्ददास के ग्रन्थों में छन्द भंग दोष भी कई स्थलों पर देखने को मिलता है।

---

१. नन्ददास, ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, पृ० ८
२. नन्ददास ग्रन्थावली, रुक्मिणीमंगल, पद ५, पृ० २४०
३. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी , दोहा ५३, पृ० ११६
४. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी , रोला २५, पृ० ५
५. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, रोला ६०, पृ० २१
६. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, रोला १३१, पृ० ४८

निष्कर्ष —

हिन्दी के भक्त कवियों का काव्यशास्त्रीय परम्परा के परिवेश में अध्ययन करने के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाले जा सकते हैं —

१- इन कवियों में लोकवादी अवधारणा तथा शास्त्रीय चेतना के बीच गहरा द्वन्द दिखायी पड़ता है । कवि परम्परा से हटकर जितना ही लोकवादी भावनाओं के समीप होता जाता है, उसका काव्य-शास्त्रीय अवधारणा से उतना ही दूर खिसकता हुआ दिखायी पड़ने लगता है । कबीर और तुलसी की तुलना करने पर यह तत्व नितान्त रूप से सामने आता है । कबीर लोक तथा लोकचेतना की संवेदनाओं से बहुत गहरे रूप में जुड़े हुए हैं,किन्तु दूसरी ओर तुलसी पांडित्य आभिजात्य से पर्याप्त रूपेण प्रभावित हैं । दोनों की काव्य-योजनाओं की कलागत तथा काव्यशास्त्रीय निष्पत्तियों की व्याख्या करें तो यह दिखायी पड़ता है कि शास्त्रीयता की दृष्टि से दोनों दो छोरों के दो बिन्दुओं पर स्थित है । जहाँ कबीर में शास्त्रीयता के प्रति पूर्णरूपेण अनास्था और अमान्यता का भाव है, कारण कि जिस लोकानुभव को वह व्यक्त करना चाहते हैं वह शास्त्रीयता, आभिजात्य तथा सामान्यता से जुड़ा हुआ नहीं है । वह लोक-धरातल का नितान्त-सहज अनुभव है, दूसरी ओर वहीं गोस्वामी तुलसीदास कवि के रूप में परम्परा की समस्त शास्त्रीय समृद्धि से अपने को जोड़े हुए दिखायी पड़ते हैं,कारण कि वे निरन्तर इस दिशा में सचेष्ट हैं कि उनमें लोकात्मकता के साथ ही साथ अर्थ-वैचित्र्य तथा कलात्मक विलक्षणता परिलक्षित हो ।

२- जैसा कि स्वीकार किया गया है - काव्यानुभव कोई व्यक्तित्व चेतना नहीं है वह एक परम्परा की प्रवाहमान्य अभिव्यक्ति है । अर्थात् काव्य के अनुभव और लक्षण दोनों कवियों को काव्य परम्परा से मिलते हैं । इन कवियों की अपनी काव्य परम्परा रही है, जो संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत काव्य और धार्मिकता दोनों से अपने को जोड़े हुए हैं । इन कवियों में परम्परा के विभिन्न अलंकारों, लक्षणागत अर्थ सन्दर्भों नाना प्रकार की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्तियों के दर्शन होते

हैं । यह इसलिए कि काव्य-परम्परा की निरन्तर प्रवाहमान्य रूढ़ियाँ, सादृश्य विधान के परम्परित प्रयोग, कवि समय निरन्तर मिलते हैं । इस दृष्टि से कवि काव्य रूढ़ि, काव्य परम्परा, कवि समय, आदि अनेक दृष्टियों से पूर्ववर्ती परम्परा के साथ जुड़े हुए दिखायी पड़ते हैं ।

३- भाषिक अभिव्यक्ति अर्थात भाषा के माध्यम से अपने विचारों को संवेदनशील बनाकर रखने की इनकी विशेष प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है । दूसरे शब्दों में भाषा का भावात्मक उपयोग करते हैं । यही कार्य कवि का भी है कि वह लोकात्मक और व्यक्तित्व संवेदनाओं के कुंजों को भाषिक सार्थकता के साथ व्यक्त करता है, इस रूप में ये सारे के सारे भक्तजन कवि हैं, क्योंकि इन्होंने मानवीय अनुभव की रागात्मकता को एक विशिष्ट भाषा के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है । उनके इस प्रयास में कविता का भारतीय पैटर्न (शिल्प रूप) अपने आप अवतरित हुआ है । कबीर जैसे कवि जब ज्ञान की आंधी का वर्णन करते हैं तो सांगरूपक योजना अपने आप अवतरित होती है, आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध की जब चर्चा करते हैं तो समासोक्ति, अन्योक्ति, गुढ़ोक्ति, व्याजोक्ति पर्याय जैसे अलंकार अपने आप सामने आते हैं । कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय कवियों द्वारा काव्य के अलंकार, लक्षणार्थ और व्यंग्यार्थ का जो शिल्प रूप तैयार किया गया था, वह इनकी अभिव्यक्ति के सार्थक रूप में दिखायी पड़ता है । इसलिए भारतीय काव्यशास्त्रीय तथा काव्य-रचना की वर्णन शैली, साथ ही साथ विविध परिपाटियों को प्रकाश से बहुत दूर कर इनकी काव्य शैली को देखना बहुत उचित नहीं प्रतीत होता है ।

४- अर्थ विधान, रचना का सम्भवत: सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है । इस अर्थ विधान के लिए भारतीय काव्यरूप, लक्षणा, व्यंजना, वक्रोक्ति और ध्वनि जैसे तत्वों की चर्चा की गयी है । जैसा कि निर्देश किया गया है कि ये कवि की ही भाँति भक्तजन, भाषा के संवेदनात्मक रूप की दिशा में सक्रिय हैं,इसलिए इनके काव्य में अर्थ रूप, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम अभिव्यक्तियों का स्वरूप भी दिखायी पड़ता है । कबीर, तुलसी, जायसी, सूर इन सभी कवियों की अर्थ रचना, दृष्टियों का अध्ययन किया जाय तो गूढ़ोक्ति-भरी अर्थ की मार्मिक लक्षणा पदेन-पदेन दृष्टिगत होती है

इनकी इस अर्थ सामर्थ्य पर कहीं न कहीं परम्परा का प्रभाव है । कथन की मौलिकता के बावजूद भी, अर्थ सृष्टि का विधानात्मक या शैलीगत रूप प्राय: परम्परा का ही है ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये भक्त कवि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का अपने ऊपर आरोप नहीं करते हैं फिर भी उनके रचनात्मक संस्कार पर शास्त्रीय चेतना के प्रभाव अनिवार्य रूप से वर्तमान हैं ।

—

तृतीय अध्याय

अप्रस्तुत विधान

अप्रस्तुत योजना का काव्य में विशेष महत्त्व है । इसके अन्तर्गत वह सभी तत्त्व आ जाते हैं जिसको हम काव्य का आधार मानते हैं । अप्रस्तुत का एक साधारण सा अर्थ यह है कि जो प्रस्तुत नहीं है, वह अप्रस्तुत है । लेकिन इसी अप्रस्तुत के माध्यम से कवि अपने काव्य में चमत्कार लाता है, काव्य को गतिशील बनाता है, भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने भावों को, विचारों को नया रूप देता है और अपने काव्य को सुन्दर से सुन्दरतम् रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करता है । अप्रस्तुत का क्षेत्र बहुत व्यापक है । 'अप्रस्तुत योजना बाहर से लायी जाने वाली सारी वस्तुओं को ग्रहण करती है चाहे अप्रस्तुत का कैसा ही रूप क्यों न हो । अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहावरा हो, चाहे और कुछ भी हो, उसके भीतर सब कुछ समा जाता है ।'[1]

अप्रस्तुत को भी प्रस्तुत की तरह भावोत्तेजक होना चाहिए । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उपमान शब्द के लिए अप्रस्तुत शब्द का प्रयोग किया है । उपमान को अप्रस्तुत कहने का तात्पर्य है, वस्तु वर्ण्य नहीं है वरन् कवि द्वारा उसको लाया जाना कहा गया है । प्रस्तुत वस्तु, अप्रस्तुत अर्थात् कवि द्वारा लायी हुयी वस्तु प्रस्तुत वस्तु के रूप रंग आदि में मिलती जुलती हो । इन्होंने उपमान शब्द के लिए 'अप्रस्तुत-विधान' और 'अप्रस्तुत योजना' इन दो शब्दों का प्रयोग किया है । 'यद्यपि इनमें पहले की अपेक्षा दूसरे का प्रयोग यथार्थ और यथायोग्य है तथापि दूसरा तो पिछड़ गया और पहले का प्रचार यथेष्ट हो गया ।'[2]

पण्डित रामदहिन मिश्र ने इस बात को स्वीकार किया है कि अप्रस्तुत विधान

१- पं० रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० १

२- पं० रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० १

शब्द ही अधिक प्रचलित और सर्वसम्मत है । अप्रस्तुत योजना का हृदय की अनुभूति से अत्यधिक सम्बन्ध होता है । जिस कवि की हृदय की अनुभूति जितनी मार्मिक एवं गम्भीर होगी उसकी अप्रस्तुत योजना उतनी ही अधिक प्रवाहपूर्ण होगी । अप्रस्तुत योजना करने को तो प्रत्येक कवि कर सकता है, परन्तु उसी कवि की अप्रस्तुत योजना सार्थक होती है जो अपनी कल्पना को जितनी अच्छी तरह भावों द्वारा प्रदर्शित करता है । 'सब कवियों की अप्रस्तुत योजनाएँ एक समान नहीं होतीं । कोई अनेक उपमान ला सकता है, कोई एक दो ; कोई सुन्दर उपमान ला सकता है, कोई असुन्दर ; किसी की कविताएँ अप्रस्तुत योजनामय होती हैं और किसी की कविताएँ उनसे शून्य ।'

कवि की अनुभूति, गहन तथा मार्मिक होनी चाहिए तभी वह श्रोता के हृदय को प्रभावित करने में समर्थ होगी । सादृश्य और साधर्म्य पर ही अप्रस्तुत योजना आधारित होती है । 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शुक्ल जी कहते हैं -- साम्य का आरोप भी निस्सन्देह एक बड़ा विशाल सिद्धान्त लेकर काव्य में चला है । वह जगत् के अनन्त रूपों का व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे और महीन सम्बन्ध सूत्रों की झलक सी दिखाकर नरसता के सूनेपन का भाव दूर करता है, बल्कि सत्ता में एकत्व की आनन्दमयी भावना जगाकर हमारे हृदय का बन्धन खोलता है । शुक्ल जी के अनुसार सिद्ध कवि ऐसे अप्रस्तुतों की खोज करके उन्हें काव्य में स्थान देते हैं जोकि प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता आदि की भावनाओं को जाग्रत करती है ।

अप्रस्तुत योजना तो भाव व्यंजना के लिए ही होती है । काव्य में उपमानों का व्यवहार प्रचुर मात्रा में होता है एक तरह से काव्य का आधार ही ये सारी उपमायें होती हैं । कवि इस अप्रस्तुत विधान के सहयोग से काव्य को एक नयी दिशा प्रदान करता है ।

(क) बरनौं मांग सीस उपराहीं । सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं ।।
बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ । उजियर पंथ रैनि महँ कीआ ।।[1]

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, खण्ड २, पृ० ४१

(ख) राम सीय सिर सेंदुर देहीं । सोभा कहि न जात विधि केहीं ।।[1]
अरुन पराग जलजु भरि नीकें । ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें ।।

इन उदाहरणों में सीस का वर्णन है पर, एक नवीन रूप में, यही तो कवि की अभिव्यक्ति की कुशलता है ।

अप्रस्तुत योजना में रूप, रंग, आकार आदि को ही नहीं देखा जाता है बल्कि इसके साथ यह भी देखा जाता है कि भावना पर उसका कैसा प्रभाव पड़ता है । प्रभावसाम्य से काव्य का महत्व बढ़ता है । यदि सादृश्य और साधर्म्य में प्रभाव-वृद्धि की क्षमता नहीं है तो ऐसा अप्रस्तुत या उपमान निर्जीव है । अर्थात् इससे किसी प्रभाव की अपेक्षा नहीं की जा सकती है । "सादृश्य या साधर्म्य के संकेत का सूत्रमात्र से भी भाव की वृद्धि हो तो पूरा आरोप अनावश्यक है ।"[2]

काव्य में अप्रस्तुत विधान अत्याधिक आवश्यक भी है । एक तरह से यह काव्य का प्राण ही है । अनेक भाव ऐसे होते हैं जिनको प्रस्तुत के द्वारा प्रकट न करके अप्रस्तुत के माध्यम से प्रयुक्त करना ही अधिक भाव युक्त लगता है ।

(क) प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ।।[3]
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल ।।

(ख) गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी । प्रगट न लाज निसा अवलोकी ।।[4]
लोचन जलु रह लोचन कोना । जैसे परम कृपन कर सोना ।।

अमूर्त विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने का कार्य अप्रस्तुतों का ही है । अप्रस्तुतों को प्रस्तुत बना देना ही तो अलंकार है । प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच साम्य या सादृश्य भावना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इस सादृश्य भावना से हमारे

---

१. हनुमानप्रसाद पोद्दार, श्रीरामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३३२
२. रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ६४
३-४ रामचरितमानस, दोहा २५७, चौपाई १, पृ० २६५, २६६

अन्तःकरण का भाव प्रगट होता है । कवि अप्रस्तुतों को नाना रूपों में और विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत करता है जिससे अलंकार उद्भूत होते जाते हैं । ये अप्रस्तुत जितने अधिक मौलिक होंगे उतने ही अधिक प्रभावशाली भी होंगे । समय के साथ-साथ नवीन अप्रस्तुत ही काव्य को अधिक आकर्षक बनाते हैं । प्रभावशाली काव्य की रचना करना ही कवि-कर्म की कसौटी होती है । इसके लिए कवि का सहृदय होना अति आवश्यक है ।

'अप्रस्तुत योजना या उपमान का लाना सहज-सम्भव नहीं । इसके लिए लोकशास्त्र का निरीक्षण-परीक्षण पर्याप्त नहीं मान लेना चाहिए, बल्कि उसके मर्म ग्रहण में निपुण होना आवश्यक है जिससे उसमें हृदय निचोड़ा जा सके । कवि जितना ही सहृदय होगा, जितना ही अनुभवी होगा, उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मार्मिक होगी, हृदयग्राहिणी होगी और अपना उद्देश्य सिद्ध करने में समर्थ होगी ।[१]

यों तो भावों और विचारों को रमणीय और सबल बनाने का सबसे सहज-साधन प्रस्तुत ही है परन्तु इन प्रस्तुतों की श्रीवृद्धि के लिए अप्रस्तुतों का प्रयोग आवश्यक है । अप्रस्तुत पक्ष मूलतः कल्पना पर आधारित रहता है और इस कल्पना का सम्बन्ध अनुभूति से होता है, अतः अनुभूति जितनी अधिक हृदयस्पर्शी, मार्मिक होगी अप्रस्तुत उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य में अप्रस्तुत कुछ निश्चित उद्देश्य से ही लाए गए हैं । जैसे सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि अप्रस्तुतों का प्रयोग भाव को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए किया जाता है । जब हम किसी भाव को जिस रूप में अभिव्यक्त करना चाहते हैं और नहीं कर पाते हैं— हमारी भाषा और वाणी उस भाव की अभिव्यक्ति में पंगु हो जाती है और हम अपने हृदयस्थ भावों को साधारण शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं, तब ऐसी स्थिति में हम अप्रस्तुतों के अमोघ अस्त्रों का सहारा लेते हैं ।

---

१. रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ७३

काव्य में अप्रस्तुत योजना का एक दूसरा उद्देश्य है भावों का स्पष्टीकरण। कभी-कभी हमारी वाणी अन्तर के भावों को तद्वत प्रस्तुत करने में अशक्त हो जाती है, ऐसी स्थिति में हम अप्रस्तुत योजना का आश्रय लेकर अन्तर के भावों को स्पष्ट करते हैं।

तीसरा उद्देश्य होता है भावों की सौन्दर्य वृद्धि। अप्रस्तुत के सहारे हम अपने अभिव्यक्तिगत भावों में चार चाँद लगा देते हैं और अप्रस्तुत इस कार्य में सिद्धहस्त है।

अन्तिम उद्देश्य होता है कथन को पूर्ण बनाना अर्थात् अप्रस्तुत के सहारे अपने कथन को स्पष्ट कर देना। हम अपनी बात को कहकर अप्रस्तुत योजना के द्वारा उसे समर्थित करके अकाट्य बना देते हैं।

इस प्रकार अप्रस्तुत, काव्य के अत्यन्त सशक्त तत्व के रूप में दृष्टिगोचर हुए हैं।

<u>अप्रस्तुत विधान और काव्य भाषा—</u>

अप्रस्तुत विधान वह है जो सुन्दर वस्तु को सुन्दरतम् रूप में दर्शाता है। अर्थात् सुन्दर को और अधिक सुन्दर रूप देना अप्रस्तुत योजना का कार्य है। कवि अपने व्यक्तित्व को अपने भावों, विचारों को अप्रस्तुत के माध्यम से काव्य में उतारता है। अप्रस्तुत शून्य रचना न ही पाठक के हृदय को आकर्षित कर सकती है और न ही उसके मर्म को छू सकती है। अतः अप्रस्तुत विहीन काव्य श्रेयकर नहीं हो सकता। कवि की रचनात्मक शक्ति का परिचय इसी अप्रस्तुत योजना के द्वारा प्राप्त होता है। प्रायः सभी काव्यों में अप्रस्तुत योजना किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है। अप्रस्तुत अलंकारिक वस्तु है अलंकार की व्यंजना इसके द्वारा की जाती है। उपमालंकार में अप्रस्तुत, तुलना के लिए प्रयुक्त होता है। रूप में एकरूपता के लिए व्यतिरेक में अतिरिक्त के लिए इसी तरह अन्य अलंकारों में भी इसकी व्यंजना होती है।

काव्य में भाव ही सब कुछ नहीं है। भाषा भी बहुत कुछ है।

भाव के साथ भाषा भी कुछ कहती-सी जान पड़ती है जहाँ भाव की व्यंजना है वहाँ भाषा का सौन्दर्य भी चाहिए।'[1]

उपर्युक्त कथन भाषा की महत्ता को स्वीकार करता है। सफल काव्य की रचना के लिए सशक्त भाषा का होना आवश्यक होता है। भाषा जितनी अधिक सशक्त होगी, वह कवि के भावों को उतनी ही अच्छी तरह प्रकट कर सकेगी। भावों के अनुकूल भाषा का होना नितान्त आवश्यक है। कवि को अपनी भाषा को क्लिष्ट एवं अप्रस्तुत शब्दों का सहारा नहीं देना चाहिए, ऐसी भाषा कृत्रिमता को अधिक प्रदर्शित करती है। बल्कि अगर भाषा सरसता और सरलता को लिए हुए प्रभावपूर्ण हो तो वह सफलता के चरमबिन्दु पर पहुँच सकती है।

'कवि भाषा का सृष्टा कहलाता है। काव्य में भावोद्बोधक नव-नव शब्दों के प्रयोग के कारण वह भाषा-प्रचारक भी है। भावाभिव्यक्ति के लिए न तो समस्त-समासयुक्त भाषा की, न तो कठिन भाषा की और न तो सालंकार भाषा की आवश्यकता है, हाँ हमारे शब्द शक्तिशाली अवश्य हों तो भावों को हृदयंगम करा सकें और अपना प्रभाव डाल सकें।'[2]

मध्यकालीन काव्य-भाषा सबसे अधिक प्रचलित हुई है, जबकि दोनों ग्रन्थ अलग-अलग भाषा पर आधारित है। रामचरितमानस अवधि पर तो सूरसागर ब्रजभाषा पर इसके बावजूद भी काव्य भाषा के स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। संतों की भाषा भी अपनी सरलता के कारण ही लोकप्रिय हुयी है। संतों ने अपनी एक से एक उलटबासियों को, रहस्यवाद को इसी सरल भाषा के द्वारा प्रयुक्त किया है। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि इनकी भाषा मिश्रित सधुक्कड़ी है। यह मत मुख्यतः रामचन्द्र शुक्ल का है — कि 'इसकी (साखी की) भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी-मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी'

---

1. रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ४३
2. रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ४१

'सबद' में गाने के पद हैं, जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। कबीर का यह पद देखिए — हाँ बलि कब देखौंगी तोही — सूर के पदों में भी यही भाषा है।'[1]

'जायसी की काव्य भाषा का आधार तुलसी से कहीं अधिक ठेठ अवधी का माना जाता है। तुलसी में, बड़े संयत रूप से ही सही, संस्कृत का आभिजात्य है, जिसका जायसी में अभाव है। फिर जायसी में फ़ारसीपन प्राय: उतना ही है जितना कि उस युग की भाषा में सामान्यत: प्रचलित था। इसलिए जायसी की भाषा में कुल मिलाकर ठेठपन अधिक है।'[2]

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है और ये अवधी अपनी स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। इसमें ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों से कई बातों में विभिन्नता है। जायसी की भाषा संस्कृत की कोमलकान्त पदावली पर अवलम्बित नहीं है। इसके विपरीत सरल, सीधी-सादी और बोलचाल की भाषा है। जायसी ने अपने वर्ण्य या प्रस्तुत को उत्कर्ष के स्तर पर पहुँचाने के लिए उसी के समान गुण धर्मवाले अप्रस्तुत को लाकर काव्य में स्थान दिया है और ये अप्रस्तुत योजना काव्य की वृद्धि में सहायक हुई है। कवि अपने अप्रस्तुतों को कभी तो स्थूल जगत से लेता है कभी अपने काल्पनिक जगत से और कभी प्रत्यक्ष रूप से। 'अप्रस्तुतों के चयन में कवि पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। इन अप्रस्तुतों या उपमानों का प्रयोग कवि भाषा के माध्यम से करता है, भाषा के द्वारा ही भावाभिव्यक्ति सम्भव है। कवि अनुभूति या कल्पना के सहारे अपनी सशक्त लाक्षणिक एवं व्यंजक भाषा में अलंकारों के माध्यम से काव्य लोकोक्तियों, सूक्तियों एवं शब्द-शक्तियों को भी लाता है। ये सभी उपमान भाषा के प्रमुख उपकरण हैं। अत: अप्रस्तुत विधान में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। बिना भाषा के साहित्य की रचना की ही नहीं जा सकती।'[3]

अत: हम यह स्वीकार करते हैं कि अप्रस्तुत योजना के लिए भाषा

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०
२. मध्यकालीन काव्यभाषा, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० ८१
३. विद्याधर, जायसी साहित्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० १६६ (शोधप्रबन्ध)

का महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि भाषा के माध्यम से ही हम अपने मन के भावों को प्रकाशित करते हैं । यद्यपि और भी कई माध्यम हैं जिनके सहारे हम अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकते हैं जैसे - नृत्य द्वारा, गायन द्वारा, चित्रकला द्वारा इत्यादि पर इसमें से कोई भी भाषा की बराबरी नहीं कर सकता है ।

काव्य-भाषा के सन्दर्भ में मध्यकालीन ब्रजभाषा को काव्यभाषा का सर्वश्रेष्ठ रूप माना गया है और इस ब्रजभाषा में सूर का स्थान सर्वोच्च है । देश और काल की दृष्टि से इसका प्रचार और प्रसार भी सर्वाधिक रहा है । सूर और तुलसी दोनों की भाषा में संस्कृत के प्रति आदर प्रदर्शित हुआ है तुलसी ने तो संस्कृत शब्दावली का प्रयोग भी तन्मयता से किया है पर कबीर इसके प्रति उदासीन दिखायी दिये हैं और जायसी में अनभिज्ञता है । सूर और तुलसी ने सांस्कृतिक सन्दर्भों के कारण नामवाची शब्दावली का विशेष रूप से प्रयोग किया है और इन सभी कवियों का अप्रस्तुत विधान मुख्यत: कमल, चन्द्र, भानु, मृग, चन्द्रिका, भँवर आदि शब्दावली पर विकसित हुआ है । इन कवियों ने अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग विशेष रुचि के साथ भी किया है । 'कृष्णभक्त कवियों की भाषा की सबसे मूल्यवान संपत्ति है उनके द्वारा प्रयुक्त अनुकरणात्मक शब्द जिनके द्वारा उन्होंने लीला-पुरुष कृष्ण की मनोरम लीलाओं में प्राण भर दिए हैं ; उन्हें साकार बना दिया है ।'[1] पर तुलसी ने इन अनुकरात्मक शब्दों का विशेष प्रयोग नहीं किया है ।

आगे के पृष्ठों में हमने इन कवियों के अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत रूपों का वर्णन किया है ।

---

१. सावित्री सिन्हा, ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प, पृ० ४७ ।

भक्ति काव्य के अप्रस्तुतों का वर्गीकरण

अप्रस्तुतों का वर्गीकरण अपने बाह्य रूप में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु यदि विश्लेषणात्मक और विवेकनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि अप्रस्तुतों के वर्गीकरण के बिना न तो काव्य की कलात्मक परिणति सम्भव है और न ही उसके अपेक्षित विश्लेषण के बिना उसका अन्तरंग विवेक । अप्रस्तुतों की योजना के अध्ययन के लिए उपमानों का वर्गीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है और वर्गीकरण के सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त सबल भी हैं ।

काव्य में वस्तु पक्ष और कला पक्ष दोनों का सम्बन्ध अन्योनाश्रित है । इन सम्बन्धों के निर्वाह के लिए कवि कल्पना और भावों के माध्यम से अप्रस्तुतों का प्रयोग करता है । अप्रस्तुतों का यह वर्गीकरण एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जोकि कवि को पुनरावृत्ति से बचाती है ।

अप्रस्तुतों का वर्गीकरण हम बिना किसी जटिलता में पड़े हुए निम्न चार आधारों पर करते हैं —

(१) मानव वर्ग

(२) प्राकृतिक वर्ग

(३) पशु-पक्षी एवं जीव वर्ग

(४) काल्पनिक वर्ग

इन अप्रस्तुतों के वर्णनों का वर्गीकरण हम निर्गुण और सगुण दोनों सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों के काव्य को लेकर करते हैं । संत काव्य में प्रमुख रूप से दादू, कबीरदास, सूफी काव्य से जायसी और मंझन तथा सगुण से सूरदास, नन्ददास, और तुलसीदास को लिया गया है । सर्वप्रथम हम संतकाव्य धारा के कवियों को लेते हैं ।

संत कवि

कबीरदास, दादूदयाल, सुन्दरदास—

कबीरदास निर्गुण ब्रह्म उपासक थे। 'मसि कागज छुयो नहीं' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए भी उनकी काव्य रचना में अत्यन्त स्वाभाविकता है। अत्यन्त गूढ़ रहस्यात्मक तथ्यों को भी उन्होंने इसी स्वाभाविक भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया है — परमात्मा को सतगुरु, पँच मनोविकार पाँचउ लरिके, विषय विकार को कांदो, आत्मकमल को पुहुपवास, सुष्मना को सिखर, पँचतत्त्व को तुलसी का बिरवा, प्रभु को अपने ही भीतर समाए हुए होने के लिए— कस्तूरी कुंडली बसे, प्रभु के चरणों के लिए— चरण कमल इस प्रकार के अनेक अप्रस्तुतों का वर्णन किया है। जिसके सहारे उन्होंने अपने काव्य के प्रस्तुतों को और भी अच्छे ढंग से मुखरित किया है।

इसी प्रकार दादूदयाल और सुन्दरदास ने भी परमात्मा के लिए बाजीगर— दारु, सांसारिक विषय विकारों के लिए —अगिनि की झाला, कुसमल, माया के लिए डाकिनी, कामवासना के लिए —मक्स, राक्षसी वदन इत्यादि का भी प्रयोग किया है।

अप्रस्तुत

मानव वर्ग

(१) चरन कमल चितु रहयो समाई
— कबीर ग्रन्थावली, पद २५

(२) चरन कमल चित लाइए राम नाम गुन गाइ
— कबीर ग्रन्थावली, पद १०

(३) ज्यों नैननि में पुतरी त्यूं खालिक घट मांहि
— कबीर ग्रन्थावली, साखी ७-२

(४) पांचों नाग पचीसों नागिनि सूंघत तुरत मरी
— कबीर ग्रन्थावली, पद २

(५) दादू पंच अभूषन पीव करि
— दादू ग्रन्थावली, सा० ८-२६

(६) यहु तन है कागद की गुड़िया - दादू ग्रन्थावली, पृ० १,२४,४

(७) यहु तन कांचा कुंभ है - कबीर ग्रन्थावली, साखी १५-५६

(८) नफ्स सैतान कूं आपने कैद कर, क्या दुनी मैं फिरे खाय गोता

- सुन्दर विलास - २,२,१

(९) दादू माया डाकनी - दादू ग्रन्थावली, सा० १२,२४

(१०) डाइनि एक सकल जग खायौ - कबीर ग्रन्थावली, पद -२

(११) सील संतोस पहिरि दोइ कंगन होइ रही मगन दिवानी

-कबीर ग्रन्थावली, पद -१७

(१२) दादू यह तन पिंजरा, माहीं मन सूवा - दादू ग्रन्थावली, सा० २,८२

(१३) ज्यूं जल मीन मीन तन तलपै, पिय बिन बजू बिहावैरे

- दादू ग्रन्थावली, पद ७,६,१

(१४) यह जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगीरी नाहि

- कबीर ग्रन्थावली, पद - ८७

(१५) बिबेक बिचार भरौं तन तरगस सुरति कमान चढ़ाऊ री

- कबीर ग्रन्थावली, पद -४

(१६) माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि मांहि पड़ंत

- कबीर ग्रन्थावली, साखी १-२-६

(१७) सतगुर मेरा सूरिवां, ज्यौं तातैं लोहि लुहार

कसनी दे कंचन किया ताइ लिया ततसार

- कबीर ग्रन्थावली, साखी १-३०

(१८) और अगनि की झाला, अंब रोवे है बनबाला

- दादू ग्रन्थावली, पद ८— ७, २

(१९) जिनि गुरू कूं बालक कीया, मेरी दारू सोइ

- दादू ग्रन्थावली, सा० ३, ११

(२०) भगति दुहेली राम की, जस खांडे की धार

- कबीर ग्रन्थावली, साखी १५-१६

(२१) कबीर माया मोहनी —कबीर ग्रन्थावली, साखी ३१-४

(२२) काया हांडी काठ की - ,, ,, ,साखी १५-१८

(२३) सब रग तांति रबाब तन, बिरह बजावे नित-- ,, ,, ,साखी २-१७

(२४) पांच जनां मिलि मंडप छायो तीनि जनां मिलि लगन लिखाई

सखी सहेली मंगल गावैं सुख दुख माथैं हलदि चढ़ाई

- कबीर ग्रन्थावली, पद १०६

(२५) प्रेम लहरि की पालिकी, आतम बैसे आइ ।

दादू खेलै पीव सौं यहु सुख कह्या न जाइ ।।

- दादू ग्रन्थावली, साखी, ४-२५३

(२६) ज्यौं रवि के प्रगटे निसि जात सु दूरि कियो भ्रम भानु अंधेरो

- सुन्दर विलास, १,१,२

(२७) राच्छसी बदन बाँढि साँढि री करतु है - ,, ,, ६, १, २

प्राकृतिक वर्ग

(१) बिरह जोवी लाकड़ी, सपचे औ धुंधुवाइ - कबीर ग्रन्थावली, साखी १-८

(२) आगि जु लागी नीर महिं, कादौं जलिया झारि - ,, ,, , साखी २-१३

(३) दादू बेली अमर फल लागे सहजि सदा रस पीवे - दादू ग्रन्थावली, पद ८-३६

(४) काल अहेड़ी बधिक ह्वै लागे ज्यूं जीव बाजरे - ,, ,, ,प० १,१०,४

(५) परपंच पाँच करै बहु वेरा, काल कुटब के ताई - ,, ,, ,प० १,४०,२

(६) दादू ऐसे आतुर बिरहनि, जैसे चंद चकोर - ,, ,, ,प० ५-३

(७) जैसा यहु संसार है, जैसा सैंवल फूल - कबीर ग्रन्थावली, साखी १५-४६

(८) कबीर मन निरमल भया, जैसा गंगा नीर - ,, ,, ,साखी १६-१०

(९) परनारी परतखि छुरी - ,, ,, ,साखी ३०-३

(१०) एक कनक अरु कामिनी, दोइ अगिनि की झाले - ,, ,, साखी ३०-१०

(११) माया मीठी जगत मैं, जैसी मीठी खांड़ - ,, ,, साखी ३१-७

(१२) नव ग्रह मारि रोगिया बैठे जल महिं बिंब प्रकासे - ,, ,, पद १२२

(१३) आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास
जैसे सीप समंद मैं, नहीं स्वाति बिन प्यास - ,, ,, साखी-१११

(१४) है कोई गुरु ग्यानी जगत महि उलटि बेद बूझै ।
पनियां महिं पावक बरै अंधे आंखिन सूझै ।।- ,, ,, पद -१३७

(१५) छांड्यो गेह नेह लगि तुमसें भई चरन लौलीन ।
तालाबेलि होत घट भीतर जैसे जल बिनु मीन ।।- ,, ,, पद १५

(१६) एकनि के बचन तौ, असि मानौ बरसत ।
स्रवण के सुनत, लगत अलसावने ।। - सुन्दर विलास, १४.५.३

पशु, पक्षी एवं जीव वर्ग —

(१) बिरखि बसेरो पंखि कौ तैसो यहु संसार
मैना नीभर छाड्या, रहट बहै निस याम - कबीर ग्रन्थावली, साखी १६-१०

(२) जब सूबै पंजर घर पाया, बाज रहया बन मांहि - दादू ग्रन्थावली, प० ८, २४,५

(३) कामिनी काली नागिनी, तीनिउ लोक मंझारि

- कबीर ग्रन्थावली, साखी ३०-२

(४) कबीर मन मधुकर भया - ,, ,, सा० ६-१६

(५) बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न मानै कोई - ,, ,, साखी २-१

(६) कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं - ,, ,, साखी ६-१

(७) सो साईं तन में बसै, मरम न जानै तास
कस्तूरी का मिरिगा ज्यौं फिर फिर ढूंढे घास

- कबीर ग्रन्थावली, साखी ७-६

(८) देहरी बैठी मेहरी रोवै द्वारै लगि सगी माइ
मरहट लौं सब लोग कुटुंब मिलि हंस अकेला जाइ

- कबीर ग्रन्थावली, पद १००

(९) आवत संग न जात संगाती, कहा भयौ दरि बांधे हाथी

- कबीर ग्रन्थावली, पद- ९९

(१०) पाव पलक की गमि नहीं करै काल्हि का साज
काल अचानक मारि है, ज्यौं तीतर कौं बाज

- कबीर ग्रन्थावली, साखी १५

(११) कामिनि सुंदर सर्पिनी, जो छेड़ै तिहिं खाइ

- कबीर ग्रन्थावली, साखी ३०-१८

(१२) पानी को सो घेर कियौ, पौन उरमेर कियौ।
चक्र को सो फेर कोउ, कैसे कै गहतु है। - सुन्दरविलास, १०,२११, २

(१३) लोटत पोटत व्याघ्रहि ज्यूँ नित, ताकत है पुनि ताहि कि पीठी ।।

- सुन्दर विलास, १०,२,१

काल्पनिक वर्ग

(१) सतगुरु संग होरी खेलिए

जातैं जरा मरन भ्रम जाइ - कबीर ग्रन्थावली,पद १४४

(२) बिनु चंदा उजियारी दरसै जंह तंह हंसा नजरि परै

- कबीर ग्रन्थावली, पद १४५

(३) बिनु जिभ्या गावै गुन रसाल । बिनु चरनन चालै अधर चाल ।।

बिनु कर बाजा बाजै बैन । निरखि देखि जंह बिना नैन ।।

- कबीर ग्रन्थावली, पद १४८

(४) हम बहनोई राम मोर सारा । हमहिं बाप रामं पूत हमारा

- कबीर ग्रन्थावली, पद १४०

(५) गाइ नाहर खाइयो, हरिनि खायो चीता - ,, ,, पद १३७

(६) मूसा खेवट नाव बिलइया, सोवै दादुर सर्प पहरिया- ,, ,, पद १२०

(७) दादू बहु गुणवती बेलि है ऊगी कालर माँहि ।

सींचि बारे नीर सौं तातैं निपजे नाहि ।। -दादू ग्रन्थावली,पद- ६-३६

(८) अजहु कामधेन गहि बाँधी रे - ,, ,, पद १-७०

(९) हरि मरिहै तौ हंमहू मरिहैं । हरि न मरै हंम काहे को मरिहैं

- कबीर ग्रन्थावली, पद -१०६

(१०) बसि चंदन बनखंडि बारा । बिनु नैननि रूप निहारा-,, ,, पद ११८

(११) केह बियाह बाझ भई बाँझ । बहरहिं दूहै तीनिउं साँझ ।।

-कबीर ग्रन्थावली,पद -१२०

(१२) बक की बछी तरवरि ब्याई । कुता कौं ले गई बिलाई ।।

- कबीर ग्रन्थावली, पद -११५

प्रस्तुत —

संत कवियों ने अलंकारों को काव्य का साध्य स्वीकार नहीं किया है, यही कारण है कि संत कवियों के काव्य में अलंकार की भरमार नहीं दिखायी पड़ती है। उनके काव्य में अलंकार अनायास रूप से जनसाधारण को सद्ज्ञान और सद्बुद्धि देने के सुउद्देश से सुबोध शैली तथा सरल भाषा के आश्रय से काव्य शोभा की श्रीवृद्धि में सहायक हुए हैं।

उपमा —

अलंकारों में उपमा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उपमा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि किसी भी भाषा साहित्य में इसका अभाव नहीं प्रतीत होता है। उपमा कवि के भावों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती है, ये उसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। उपमा केवल कवि तक ही सीमित नहीं है, हम परस्पर वार्तालाप करते हुए अपने भावों को और अधिक सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए भी इसका प्रयोग बराबर करते रहते हैं जैसे —वह ताड़ सा लम्बा है।
उसका मुख चाँद सा है।इत्यादि

यदि उपमेय का उत्कर्ष न दिखायी दे तो उपमा व्यर्थ दिखायी देती है। उपमा तभी पूर्णतः को प्राप्त करती है जब उपमान के द्वारा भाव तीव्र हो उठे या उपमेय का उत्कर्ष दिखायी देने लगे, तो समझना चाहिए कि कवि की अप्रस्तुत योजना सफल हुई।

उपमा का प्रयोग कबीर और दादू दोनों ने ही स्थान-स्थान पर किया है। माया की तुलना उन्होंने अ अनेक स्थलों पर पापिनी, डाकिनी, मोहनी, मीठी खाँड इत्यादि से की है। इस प्रकार मानव संसार को माया मोह के बन्धनों से भी दूर रहने की सलाह दी है—

(क) कबीर माया पापिनी, ले बैठी हाटि।
सब जन फंदे फंदिया, गया कबीरा काटि ।।[1]

---

1. कबीर ग्रन्थावली, साखी - ३१-१

(ख) कबीर माया पापिनी, लाले लाया लोग ।
पूरी कि नहूं न भोगिया, इनका इहै बिजोग ।।[1]

(ग) कबीर माया डाकिनी, सब काहू कूँ खाइ ।
दांत उपारूं पापिनी, जे संता नेड़ी जाइ ।।[2]
माया मीठी जगत में, जैसी मीठी खांड ।
सतगुर की किरपा भई, नहिंतर करती भांड ।।[3]

यहाँ कबीर प्राणी जगत को संकेत करते हुए कहते हैं कि -- माया पापिनी, डाकिनी तो है ही साथ ही साथ ये मीठी खांड के भी समान है जो अपनी मिठास में लोगों को सहज रूप में ही आकर्षित करके उन्हें अपनी मोह माया के जाल में फंसा लेती है, और इससे छूटने का सिर्फ एक ही साधन है-- गुरु की कृपा । गुरु की कृपा ही माया के बन्धन से मुक्ति दिला सकती है ।

यहाँ माया उपमेय है, खांड उपमान है, मीठी साधारण धर्म है तथा जैसे - वाचक शब्द है । इस प्रकार यहां उपमा अलंकार है ।

दादू झूठा जीव है, गढ़िया गोव्यंद बैन ।
मनसा मूंगी पंष सूं, सूरिज सरीषे नैन ।।[4]

दादू के अनुसार यहाँ- जीव झूठा है, सच्चा सिर्फ वह गोविन्द है,जिसने उसको वाणी दी उसकी मानसिक वृत्ति को मूंगी पक्षी के पंखों के समान सतरंगी बनाया और सूर्य के समान नेत्र दिए ।

सुन्दरदास द्वारा की गई उपमा का एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं —

देखन के नर सोभत हैं जस,
आहि अनूपम केलि कु खंभा ।

1-2. कबीर ग्रन्थावली, साखी - 31-1, 6, 8
3. कबीर ग्रन्थावली, साखी - 31-7
4. परशुराम चतुर्वेदी, दादूदयाल ग्रन्थावली, साषी 4-323

भीतर तौ कछु सार नहीं पुनि,
ऊपर छीलक डंबर डंभा ।।
बोलत हैं परि नाहिं कछू सुधि,
ज्यूहि बयार तें बाजत कुंभा ।
रूसि रहे कपि ज्यूं छिन मांहि सु,
याही तें सुंदर होत अचंभा ।।[1]

रूपक —

कबीर के रूपक अत्यन्त सुन्दर हैं । रूपकों की मनोरम छटा 'कबीर ग्रन्थावली' में द्रष्टव्य है । रूपकों के माध्यम से इन्होंने एक से सुन्दर और सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं । ग्रामीण जीवन के अत्यन्त मार्मिक एवं स्वाभाविक रूप को इन्होंने रूपकों के ही माध्यम से अभिव्यक्त किया है । रूपक सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान आरोपमूलक अर्थालंकार है ।

(क) कबीर भया है केतकी, भंवर भए सब दास ।
जंह जंह भगति कबीर की, तहं तहं राम निवास ।।[2]

x x x x x x

(ख) काया देवल मन धजा, विषै लहरि फहराइ ।
मन चाले देवल चलै, ताका सरवस जाइ ।।[3]

कबीर ग्रन्थावली का ४१ वां पद भी रूपक का सुन्दर उदाहरण है इसमें कबीर ने ग्रामीण जीवन का स्वाभाविक रूप खींचते हुए आध्यात्मिक संकेत किया है -

बाबा अब न बसउं यहि गांउ ।
घरी घरी का लेखा मांगै काइथ चेतू नाउं ।।
देही गांवां जिउधर महतौ बसहिं पंच किरसानां ।।
नैनूं नकटू स्रवनूं रसनूं इंद्री कहा न माना ।।

---

१. सुन्दरदास, सुन्दर विलास, उपदेश चिन्तामणि कौ अंग, छन्द २१, पृ० १८
२-३. कबीर ग्रन्थावली, साखी ३-८, २६-७

धरमराइ जब लेखा माँगे बाकी निकसी भारी ।।
पंच किसनवाँ भागि गए ले बांध्यो जिउ दरबारी ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतहु खेतहि करहु निबेरा ।
अब की बेर बटवसि बंदे कौं बहुरि न भौबलि फेरा ।।[1]

यहाँ शरीर को गांव, आत्मा को गांव का मुखिया, पाँचों इन्द्रियों को पाँच किसान और जमींदार को धर्मराज कहा गया है । इसमें नूनूं, नकटू, म्रवनूं, रसनूं आदि नामों के सहारे रूपक सजीव हो उठा है ।

इसी प्रकार एक और पद —

संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे ।
× × ×
कहै कबीर मनि भया प्रगासा उदै भानु जब चीनाँ ।[2]

इस ग्रामीण झाँकी के द्वारा उन्होंने रूपकों को प्रदर्शित किया है । कबीर कहते हैं — अरे भाई सन्तों ज्ञान की आँधी आ गई और भ्रम की सारी टाटियां उड़ गई हैं, माया का बंधन न रहा । दुविधा के दोनों स्तम्भ गिर गये, मोह की बल्ली टूट गयी, तृष्णा का छप्पर गिर गया जिससे कुबुद्धि का भांड़ा टूट गया । ज्ञान की आँधी के बाद भक्ति- जल की जो वर्षा हुई उसमें तुम्हारा दास लतपथ हो गया । कबीर कहते हैं कि भक्ति जल से जब आंधी का तूफान शान्त हुआ तो ज्ञान का उदय होता हुआ सूर्य पहचान पड़ा और मन में उसका प्रकाश हुआ ।

अब मोहि नाचिबो न आवै ।[3]

इसमें कवि ने नृत्य का रूपक सजाया है । जिसमें गंजा, बाजों तथा बोलना, बेहरा आदि 'सौंज' द्वारा उन्मनावस्था का वर्णन किया है । इस पूरे छन्द के अन्त में कवि ये सार प्रस्तुत करता है कि व्यर्थ के वाद-विवाद समाप्त हो चुके हैं और राम

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ५१
२. कबीर ग्रन्थावली, पद ५२
३. कबीर ग्रन्थावली, पद ५७

की कृपा से मैं पूर्ण तत्वज्ञानी हो चुका हूँ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि ने एक नृत्य के रूपक के द्वारा कितने सहजभाव से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है।

(क) दादू हरि का नाव जल, मैं मीन ता मांहि।
संगि सदा आनंद करैं, बिछुरत ही मरि जांहि ।।[१]

(ख) सबद दूध घृत राम रस, कोई साध विलोवणहार।
दादू अमृत काढिलो, गुरमुख गहै बिचारि ।।[२]

यहाँ कवि गुरु के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि गुरु के उपदेशों को ग्रहण करके आचरण करने पर रामरूपी अमृत निकाला जा सकता है। गुरु का शब्द ही दूध है जिसमें रामरस रूपी घृत छिपा हुआ है। कोई साधु पुरुष ही उस दूध को मथने की क्षमता रखता है जो कि उस दूध को मथ कर उसमें से रामरस रूपी घृत को निकालता है- गुरु के उपदेश द्वारा ही इस रहस्य का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उत्प्रेक्षा—

कबीर तेज अनंत का, मांनौं ऊगी सूरिज सेनि।[३]
पति संगि जागी सुंदरी, कौतिक दीठा तेनि ।।

कबीर कहते हैं कि अनंत का तेज ऐसा है कि मानों सूर्य की सेना उदित हो गयी हो, जो सुन्दरी (जीवात्मा) पति (परमात्मा) के साथ रात्रि में जागती रहती है (प्रेम भक्ति की साधना करती है) उसी के द्वारा यह कौतुक देखा गया है।

यहाँ कबीर ने उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा को वर्णित करते हुए कवि कहता है कि — परब्रह्म की अलौकिक कान्ति का वर्णन करने के लिए कबीर एक दो नहीं, वरन अनेकों सूर्यों की कल्पना करते हैं। इस 'सूरज सेनि'

---

१. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी २-६२
२. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी १-३०
३. कबीर ग्रन्थावली, साखी ६-१५

का प्रखर प्रकाश, सम्भवत: उस अनन्त परमेश्वर का तेज या प्रकाश ऐसा है कि मानो सूर्य की सेना का उदय हुआ हो। एक ही सूर्य का प्रकाश जब इतना प्रकट है तो सहस्त्रों सूर्यों का प्रकाश कैसा होगा ? यह तो केवल कल्पना का विषय है। इसलिए यहां प्रस्तुत में अप्रस्तुत की सम्भावना की गयी है। इसी रस के सन्दर्भ में एक और उदाहरण सुन्दर विलास से हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं -

एकनि के बचन सुनत अति सुख होइ।
फूल से झरत हैं, अधिक मनभावने ।।
एकनि के बचन तो, असि मानो बरसत
श्रवण के सुनत, लगत अलसाने ।।[1]

सांगरूपक अलंकार –

कबीर के काव्य में अलंकार सहजरूप में आए हैं, उन्हें अपने काव्य में साग्रह लाने का कवि ने प्रयास नहीं किया है। यों तो कबीर ग्रन्थावली में रूपकों की भरमार है, पर हम यहाँ सांगरूपक के कुछ द्रष्टव्य पद और दोहे ही प्रस्तुत कर रहे हैं–

है कोई संत सहज, सुख अंतरि जाको जप तप देउं दलाली ।
एक बूंद भरि देइ राम रस ज्यूं भरि देइ कलाली ।।
काया कलाली लाइ नि मेलेउं गुरु का सबद गुड़ कीन्हां ।
त्रिसना काम क्रोध मद मतसर काटि काटि कसि दीन्हां ।।
भवन चतुरदस भाठी पुरई ब्रह्म अगिनि पर जानी ।
मुद्रा मदक सहज धुनि लागी सुखमन पोतनहारी ।।
नीझर झरै अमीरस निकसै इहिं मदि रस छाका ।
कहै कबीर यहु बास विकट अति ग्यान गुरु ले बाका ।।[2]

यहाँ कवि ने सन्तों की गूढ़ साधना को सहज, साधारण रूप में प्रस्तुत करने

1. सुन्दर विलास, बचन विवेक को अंग, छन्द ५, पृ० ७५
2. कबीर ग्रन्थावली, पद – ५९

का प्रयास किया है । ये गूढ़ साधना रामरस की प्राप्ति हैं । इस पद में कवि ने मदिरा बनाने का रहस्य दिया है । इसमें लाहन मेलने से लेकर शराब चुआने तक की प्रक्रिया को वर्णित किया है । इस मदिरा के सहारे उन्होंने अध्यात्मिक मदिरा का परिचय दिया है ।

इसी प्रकार—

(क) माया तरवर त्रिविध का, साखा विरवे संताप
शीतलता सुपिनै नहीं, फल फीका तन ताप ।[१]

^ < <   ^ ^ <

(ख) कांईल पंजर मन भंवर, अरथ अनूपम बास
राम नाम सींचा अमीं, फल लागा वेसास ।[२]

सुन्दरदास ने अपने काव्य में सांगरूपक का भी प्रयोग किया है—

मदामन्त हाथी मन, राख्यौ है पकरि जिन ।
अतिहि प्रचंड वा मैं, बहुत गुमान है ।।
काम क्रोध लोभ मोह, बाँधे चारों पाँव पुनि ।
छूटने न पावैं नैक, प्राणा पीलवान हैं ।।
कबहु वो करैं जोर, सावधान साँझ भोर ।
सदा एक हाथ मैं, अंकुस गुरु ग्यान है ।।
सुन्दर कहत और, काहू के न वस होइ ।
ऐसो कौन सूर वीर, साधु के समान है ।[३]

सांग रूप के इस उदाहरण में मन मद मस्त हाथी, काम, क्रोध, लोभ, मोह उसके चारों पैर हैं, गुरु ज्ञान अंकुश है ये तीन रूपक यहाँ एक ही प्रकरण के हैं ।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, साखी ३१-२१

२. कबीर ग्रन्थावली, साखी ३२-१०

३. सुन्दर विलास, शूरातन को अंग, छन्द - १३, पृ० १३६-१३७

अर्थान्तरन्यास अलंकार—

इसमें सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से उदाहरण समर्थन होता है। इसमें इव, ज्यों, जैसे वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता।

(क) चंदन की कुटकी भली, नां बबूर लखरांव।
साधुन की झुपरी भली, नां साकत को बड़गांव।।[1]

(ख) कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।
जो है जाका भावता, सो ताही के पासि।।[2]

यहाँ कवि कुमुदनी और चन्द्रमा का आश्रय लेकर आत्मा और परमात्मा के मिलन की व्याख्या कर रहा है। कवि का मतलब है कि यदि आत्मा परमात्मा में एकीकार होना चाहती है तो भक्ति मार्ग के माध्यम से यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

अन्योक्ति अलंकार—

कबीर ने अन्योक्ति अलंकार का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है इसमें प्रस्तुत के सहारे अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है -

माली आवत देखि कै, कलियां करैं पुकार।
फूली फूली चुनि गई, कालि हमारी बार।।[3]

यहाँ माली को काल या मृत्यु कहा गया है और कलियाँ जीवात्मा की प्रतीक हैं। जो कलियां फूल गयी हैं उन्हें माली आज चुन ले जा रहा है और दूसरों की बारी कल है। तात्पर्य यह है कि यह संसार नश्वर है। इसमें मनुष्य को आसक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि आज जिनकी आयु पूरी हो चुकी, उन्हें मृत्यु अपना ग्रास बना रही है। इसी प्रकार कल उनकी भी बारी है जो इस संसार क में अपने को अमर समझकर बैठे हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, साखी ४-३७
२. कबीर ग्रन्थावली, साखी २-२६
३. कबीर ग्रन्थावली, साखी १६-३४

यहाँ कवि प्रस्तुत जगत के सहारे अप्रस्तुत की व्याख्या करता है—

रैनाईर बिछोडिया, रहु रे संख म भूरि ।
देवलि देवलि धाहडी, देसी (देई) उगे सूरि ।।[१]

यहाँ रैनाईर से तात्पर्य आध्यात्मिक पक्ष से है और संख (शंख) को जीवात्मा का प्रतीक बताया गया है । अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत का व्यंगात्मक वर्णन किया गया है । अन्योक्ति सदा व्यंग प्रधान होती है -

कबीर पांच पखेरुवा, राखे पोस लगाइ ।
एक जु आयौ पारधी, लै गयौ सबै उड़ाइ ।।[२]

यहाँ पाँच पखेरुवा तथा पारधी क्रमश: पाँचेन्द्रियाँ काल अथवा मृत्यु है । इसका सादृश्यविधान हमारे जीवन की दैनिक घटनाओं पर आधारित है ।

इसी प्रकार दादू ग्रन्थावली से एक उदाहरण —
संझया चले उतावला बटाऊ बनखंड माँहि ।
बारियाँ नाही ढील की, दादू बेगि घरि जाहिं ।।[३]

विभावना अलंकार—

विभावना अलंकार वहाँ होता है जहाँ बिना किसी कारण की कार्य की उत्पत्ति होती है । विभावना का अर्थ है, विशेष प्रकार की कल्पना अर्थात् कारण के आभाव में कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करना ।

(१) साईं मेरा बानिया, सहजि करै व्यौपार ।
बिन डांडी बिन पालरे, तोले सब संसार ।।[४]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, साखी २- ६

२. कबीर ग्रन्थावली, साखी १६-३७

३. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी २५-२६

४. कबीर ग्रन्थावली, साखी ८-१०

(२) कबीर मन मधुकर भया करै निरन्तर बास ।
कंवल ज फूला नीर बिनु निरखै कोइ निज दास ।।[१]

यहाँ उस कमल का खिलना द्रष्टव्य है जो पानी के बिना ही फूला है । प्रस्तुत पद में हठयोग के अनुसार सहस्त्रदल कमल का वर्णन है जिसमें परमात्मा का निवास माना गया है ।

इसी प्रकार—

वैसा एक अनूप फल, बीज बाकुला नाहिं ।
मीठा त्रिमल एकरस, दादू नैनहुं माहिं ।।[२]

उदाहरण अलंकार—

जहाँ सामान्य रूप से कहे गये अर्थ को भलीभाँति समझाने के लिए उसका एक अंश दिखाकर उदाहरण दिखाया जाता है वहां उदाहरण अलंकार होता है -

(क) पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जाति ।
देखत ही छिपि जाहंगे, ज्यौं तारे परभाति ।।[३]

(ख) क्या मागौं किछु थिर न रहाई।
देखत नैन चला जग जाई ।।

इक लख पूत सवा लख नाती । तिहि रावन घर दिवा न बाती ।।
लंका सा कोट समुंद सी खाई । तिहि रावन की खबरि न पाई ।।
आवत संग न जात संगाती । कहां भयो दरि बांधे हाथी ।।
कहै कबीर अंत की बारी । हाथ झगरि जैसे चला जुवारी ।।[४]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, साखी ६-१६
२. दादू ग्रन्थावली, साखी ४-८८
३. कबीर ग्रन्थावली , साखी १६-२१
४. कबीर ग्रन्थावली, पद - ६६

कवि कहता है कि मनुष्य इस संसार से देखते-देखते ही चला जाता है । कुछ भी उसके साथ नहीं जाता, सब कुछ यहीं रह जाता है । मनुष्य की स्थिति एक जुआरी-सी हो जाती है । जैसे जुएँ में सर्वस्व हारा हुआ जुआरी जितना असहाय होता है उतना ही मृत्यु प्राप्त मनुष्य भी असहाय और अकेला होता है जो जीवन की बाजी हारकर एक दिन चला जाता है ।

जुआरी का उदाहरण देते हुए कबीर ने बड़े ही सुन्दर ढंग से अपनी बात को उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है ।

इसी प्रकार दादूदयाल ने भी उदाहरण का अलंकार सुन्दर ढंग से किया है --

> दादू अगनि धौम ज्यूं नीकले, देषत सबै बिलाइ ।
> त्यूं मन बिछुड्या राम सौं, यह दिसि बीषरि जाइ ।।[1]

यहाँ दादू कहते हैं -- जिस प्रकार धुआँ अग्नि से निकल कर सर्वत्र फैल जाता है और फिर अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार राम से बिछुड़कर मनुष्य का मन दसों दिशाओं में बिखर जाता है अर्थात् वह मन, इधर-उधर भटकने लगता है । माया मोह में फंस जाता है और राम से अलग हो जाता है । यहां धुंवे का उदाहरण देकर दादू ने मन की गति को समझाने का प्रयत्न किया है ।

सुन्दरदास ने भी इस अलंकार को अपने काव्य में प्रयुक्त किया है—

> अपने न दोष देखे, पर के औगुण पेखे,
> दुष्ट को सुभाव, उठि निंदाही करतु है
> जैसे कोई महल, सँवारि राख्यो नीके करि,
> कीरी ब तहाँ जाय, छिद्र ढूंढत फिरतु है ।।
> भोरही तैं साँझ लग, सांझही तैं भोर लग,
> सुदर कहत दिन, ऐसे ही भरतु है ।

---

1. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी १०-६०

पांव के तरे की, नहीं सूझै आग मूरख कूँ
और सूँ कहत तेरे, सिर पे बरतु है ।।[1]

दृष्टान्त अलंकार —

उपमेय उपमान और साधारण धर्म का जहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है—

(१) कबीर यह तन जात है, सकहु त लेहु बहोरि ।
नागे हार्थों ते गए, जिह के लाख करोरि ।।[2]

कबीर कहते हैं कि यह तन तो व्यर्थ है इतना सब कुछ बटोर के रखने से क्या फायदा । इस संसार से तो प्रत्येक मनुष्य को खाली हाथ ही जाना है । जिन्होंने लाखों करोड़ों की सम्पत्ति भी एकत्रित की वह भी खाली हाथ ही गए, कुछ भी साथ न ले जा सके । अर्थात् इस संसार में कुछ भी सार तत्त्व नहीं है व्यर्थ के माया-जाल में फँसे रहने से क्या लाभ ? मनुष्य को चाहिए कि जगत की असारता को पहचानते हुए अपना अमूल्य समय राम स्मरण, भजन, कीर्तन में लगाए । इसी से मनुष्य का कल्याण सम्भव है । इस साखी के सहारे उन्होंने संसार की नश्वरता और राम नाम की सार्थकता का महत्त्व दिखाया है -

(२) सतगुर बपुरा क्या करै, जो सिख ही माँ है चूक ।
भावै त्यों परमोधिए, ज्यों बांसि बजाइए फूंक ।।[3]

सतगुरु बिचारा क्या करे जब सीखने वाले में (शिष्य) ही गलती है,क्योंकि अगर शिष्य उत्तम होगा तो उसे कैसा भी उपदेश दिया जायेगा वह ग्रहण कर लेगा । तात्पर्य यह है कि निर्मल हृदय मनुष्य को प्रबोधन देना उतना ही सरल है जितना

---

१. सुन्दर विलास, दुष्ट क जन को अंग, छन्द १, पृ० ५३
२. कबीर ग्रन्थावली, साखी १५-२०
३. कबीर ग्रन्थावली, साखी १-५

बाँसुरी बजाना ।

इसी प्रकार —

जे हम छांडे राम कौं, तौ राम न छाड़े ।
दादू अमली अमल थै, मन क्यूं करि काढ़े ।।[1]

उल्लेख अलंकार —

उल्लेख अलंकार में किसी वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख या वर्णन किया जाता है ।

(क) मन गोरख मन गोविंद मन ही औघड़ होइ ।
जौ मन राखे जतन करि, तौ आपैं करता सोइ ।।[2]

(ख) नारी नागणि राकसी, बाघणि बड़ी बलाइ ।
दादू जे नर रत भए, तिनका वस जाइ ।।[3]

यहाँ नारी का उल्लेख नागणि, राकसी और बाघणी के रूप में किया गया है ।

---

1. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी, ३-१३५
2. कबीर ग्रन्थावली, साखी २६-६
3. दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी १२-१५०

सूफी कवि

जायसी और मंझन—

उत्तर भारत विशेषत: अवध में पद्मावती रानी और हीरामन सुए की कहानी अब तक प्राय: उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने इसका वर्णन किया है — "इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यह है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया गया है।"[1]

पद्मावती को जायसी ने ब्रह्मज्योति के रूप में लिया है। उन्होंने इस अध्यात्मिक प्रेम कथा को लौकिक प्रेम कथा के माध्यम से व्यक्त किया है, तथा कुछ नये अप्रस्तुतों को भी अभिव्यक्त किया है - जैसे नायिका की कटि के लिए सिंह या सिंहनी की कमर, जाँघों की उपमा के लिए हाथी की सूँड इत्यादि।

प्राकृतिक अप्रस्तुतों का प्रयोग भी इन्होंने वृहद रूप में किया है जैसे - पदमावती को कमल-कंवल मुख, ससि बदन, मुख मानिक, भँवर अस भवै गँभीरु, रत्नसेन को भानु, एक सुन्दर उपमा "सीस चढ़े लोटहिं चहुं पासा।

कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण सुन्दर उपमाओं, अप्रस्तुतों का भी वर्णन किया है। जैसे—

(१) घूँट जो पीक लीक सब देखा

(२) हीर आहार न कर सुकुआँरा

(३) मानहु नाल खंड दुइ भए

इत्यादि मनोहर अप्रस्तुतों का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार दूसरे सूफी कवि मंझन ने, अपनी पुस्तक मधुमालती

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, (पँचम संस्करण की भूमिका), पृ० २६।

में अपने प्रेम-दर्शन को बहुत विस्तृत रूप से प्रकट करने का प्रयास किया है । इसमें नायिका और नायक का प्रत्यक्ष दर्शन कवि ने अप्सराओं की सहायता से कराया है । मधुमालिती की सम्पूर्ण कथा मर कर अमर होने की कथा है । कवि ने नायिका के सौन्दर्य वर्णन के लिए एक से एक सुन्दर अप्रस्तुतों का सहारा लिया है --

अप्रस्तुत --

मानव वर्ग

(१) कहाँ लिलार दुइज कै जोती दुइजहि जोति कहाँ जग ओती ।

-जायसी ग्रन्थावली,३, पृ० ४२

(२) तेहि लिलार पर तिलक बईठा । दुइज पाट जानहु घुप दीठा

- जायसी ग्रन्थावली, ३, पृ० ४२

(३) निह कलंक ससि दुईज लिलारा
- मधुमालती, ८१

(४) भौंहैं स्याम धनुक जनु ताना । जासहुं हेर मार विष बाना
- जायसी ग्रन्थावली, ४, पृ० ४२

(५) भौंहैं धनुक सीस तर घटैं - मधुमालती - ८३

(६) कुभर सरोवर नयन वै, मानिक भरे तुरंग - जायसी ग्रन्थावली, ५

(७) खंजन पलक पंख लेउं ढांकि - मधुमालती - ८३

(८) अधर दसन पर नासिक सोभा । दारिउँ बिंब देखि सुक लोभा
- जायसी ग्रन्थावली, ७,पृ० ४३

(९) अधर सुरंग अमी रस भरे । बिम्ब सुरंग लाजि बन फरे
- जायसी ग्रन्थावली ८,पृ०४३

(१०) जनु सारंग सारंग सर भिरम मीड़े जाइ - मधुमालती,

(११) करिल केस बिसहर बिस-भरे । लहरैं लेहिं कवँल मुख धरे ।
-जायसी ग्रन्थावली, ५, पृ० २४

(१२) पुनि बरनौं का सुरंग कपोला । एक नारँग दुइ किए अमोला ।
- जायसी ग्रन्थावली,११, पृ० ४५

(१३) अति सुरंग रस भरे अमोला - मधुमालती - ८६

(१४) बदन पसेउ बुंद जहुं पासा । कचपचियैं जनु चांद अरासा -- मधुमालती - ६१

(१५) अस भादौं निसि दामिनि दीसी । चमक उठे तस बना बतीसी ।
- जायसी ग्रन्थावली, ६,पृ० ४४

(१६) हसन चौक बैठे जनु हीरा - जायसी ग्रन्थावली, ६,पृ० ४४

(१७) नेक बिगसाइ नींद महं हंसी । जानहु मरण सेउ दामिनि लसी ।
- मधुमालती -८८

(१८) कनक दंड दुइ भुजा कलाई । - जायसी ग्रन्थावली, १४, पृ० ४५

(१९) बदन कुंद महं रसनां अमि सुरा कै ज्ञान - मधुमाली- ९०

(२०) कौंवर कुटिल केस नग कारे - जायसी, १, पृ० ४१

(२१) बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ । उंजियर पंथ रैनि महं कीआ ।
- जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४१

(२२) फूल झरहिं ज्यौं कह बाता - जायसी ग्रन्थावली ८, पृ० ४३

(२३) स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे - जायसी ग्रन्थावली १२, ४५

(२४) बरनौं गीउ कंबु कै रीसी । कंचन तार लागि जनु सीसी ।
- जायसी ग्रन्थावली, १३,पृ० ४५

(२५) बदन कुंद महं रसनां अमी सुरा कै ज्ञान - मधुमालती, ९०

(२६) कँवल चरन अति रात बिसेखी - जायसी ग्रन्थावली १६, पृ० ४८

(२७) नैन दीप आँसु तस भरे — जायसी ग्रन्थावली,७,पृ० २५

(२८) साम भुअंगिनि रोमावली। नामी निकसि कवँल कहँ चली

— जायसी ग्रन्थावली,१६,पृ० ४६

(२९) बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ — जायसी ग्रन्थावली,१५,पृ० १३८

(३०) गीउ सुराही कै अस भई — जायसी ग्रन्थावली,१५, पृ० २१४

(३१) राते कवँल करहिं अलि भवाँ, घूमहिं मानि चहहिं अपसवाँ।

— जायसी ग्रन्थावली, ५,पृ० ४३

प्राकृतिक वर्ग—

(१) औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा।

—जायसी ग्रन्थावली ३,पृ० ४२

(२) एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल-माँह।

— जायसी ग्रन्थावली ५,पृ० २४

(३) ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ बासा

— जायसी ग्रन्थावली ४, पृ० २४

(४) ससिर नाहि समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा

— जायसी ग्रन्थावली, ५,पृ० २४

(५) पदमावती सब सखी बुलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई

— जायसी ग्रन्थावली १७, पृ० २३

(६) कतहु कँवल कै फूली बूई। कतहुँ चाँद कै तारैं ऊई

— जायसी ग्रन्थावली, १७, पृ० १४७

(७) दिन सूरज निसि चाँद समाना — मधुमालती – ७१

(८) नैन चुवहिं जस महवट नीरु — जायसी ग्रन्थावली ११,पृ० १५५

(९) टप टप बूँद परहिं जस ओला — जायसी ग्रन्थावली,११, पृ० १५५

(१०) मोर दुइ नैन चुवँ जस ओरी — जायसी ग्रन्थावली, ६७, पृ०१५२

(११) गूँथि जो रतन माँग बैसारा । जानहुँ गगन टूटि निसितारा

— जायसी ग्रन्थावली, ८, पृ० १३१

(१२) पदमावति जो सँवारे लीन्हा । पूनिउँ राति दैउ ससि कीन्हा

— जायसी ग्रन्थावली, ८,पृ० १३१

(१३) वह जो मेघ गढ़ लाग अकासा । बिजुरी कनय-कोट चहुँ पासा ।।
— जायसी ग्रन्थावली २,पृ० ६८

(१४) सती होइ कहँ सीस उघारा । घन महँ बीजु घाव जिमि मारा ।
— जायसी ग्रन्थावली ६,पृ० १७७

(१५) हीर दसन सेत औ सामा । छपै बीजु जौ बिहँस बामा ।
— जायसी ग्रन्थावली,११,पृ० १६६

(१६) दसन दामिनी, कोकिल भाखी। भौहैं धनुख गगन लेइ राखी ।
— जायसी ग्रन्थावली, ४,पृ० २४

(१७) चातक होइ पुकारि पियासा । पीउ न पानि सेवाति कै आसा ।।

— जायसी ग्रन्थावली १८, पृ० १००

(१८) ओनई घटा चहूँ दिसि आई । छूटहिं बान मेघ-झरि लाई ।
— जायसी ग्रन्थावली १०, पृ० २८६
(१९) केस मेघावर सिर ता पाई । चमकहिं दसन बीजु कै नाई ।
— जायसी ग्रन्थावली ८,पृ० १२

(२०) बिछुरंता जब मैंटे सो जाने जेहि नेह ।
सुक्ख -सुहेला उग्गवै दुःख झरै जिमि मेह ।।
—जायसी ग्रन्थावली,१,पृ० ७६

(२१) अब यहि बिरह दिवस मा राती । जरौं बिरह जस दीपक बाती ।
- जायसी ग्रन्थावली ६,पृ० १५५

(२२) साँर सपेती आवैं जूड़ी, जानहु सेज हिवंचल बूड़ी
- जायसी ग्रन्थावली १०,पृ० १५५

(२३) अब भादौं-निसि दामिनि दीसी । चमकि उठै तस बनी बतीसी ।
- जायसी ग्रन्थावली ६, पृ० ४५

पशु पक्षी एवं जीव वर्ग -

(१) बेनी नागिनि चढ़ी जो कारी
- जायसी ग्रन्थावली,१७,पृ० ४७

(२) नैन खँजन दुइ केलि करेंही
- जायसी ग्रन्थावली,४, पृ० २४

(३) सरवर तीर पदमिनी आई । खोंपा छोरि केस मुकलाई ।।
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा । नागिन झाँपि लीन्ह चहुं पासा ।।
- जायसी ग्रन्थावली,४,पृ० २४

(४) मिरिग सका मइ चहुँ दिसि हेरइ
- मधुमालती - पृ० १००

(५) मनहुं चढ़ी भौरन्ह कै पाँती । चंदन खांम बास कै माती
- जायसी ग्रन्थावली, १६,पृ०५६

(६) कहुँ का कहैं अस बेनी कीन्हीं । चंदन बास भुअंग लीन्हीं
- जायसी ग्रन्थावली,१७,पृ० ४७

(७) अस वै भौंर कुच के बारा - ,, ,, ५, पृ० ४२

(८) रकत के आँसु परहिं भुइँ टूटी । रेंगि चलीं जस बीरबहूटी
- जायसी ग्रन्थावली, ५,पृ० १५२

(९) कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई । रकत आँसु घुँघुची बन बोई
- जायसी ग्रन्थावली,१६,पृ० १५८

(१०) नैन ज्यों चक्र फिरे चहुं ओरा - ,, ,, ,६ ,पृ० ७५

(११) अलक सुरंगिनि हिरदय परी । नारँग छुप नागिनि विष भरी
- जायसी ग्रन्थावली,३६,पृ० १४२

(१२) गीउ मयूर केरि जस ठाढ़ी - ,, ,, १५, पृ० २१४

कात्पनिक वर्ग—

(१) भूलि चकोर दीठि मुख लावा - जायसी ग्रन्थावली,४,पृ० २४

(२) ससिवर नहि समाइ संसारा । चाँद नहाई पैठ लेइ तारा
- जायसी ग्रन्थावली,५,पृ० २४

(३) हँसत सुवा पहँ आइ सो नारी
- जायसी ग्रन्थावली,१,पृ० ३४

(४) सुवा बानि कसि कहु कस सोना
- जायसी ग्रन्थावली,१, पृ० ३४

(५) हीरामन जो कँवल बखाना
- ,, ,, ३, पृ० ३८

(६) सहसौं करा रूप मन भूला । जँह जहँ दीठ कवँल जनु फूला
- जायसी ग्रन्थावली,५,पृ० ३६

(७) औरउ सहस घोड़ घोड़सारा । स्यामकरन अरु बाँक तुखारा ।
सात सहस हस्ती सिंघली । जनु कबिलास एरावत बली ।।
-जायसी ग्रन्थावली २,पृ० १०

(८) जब के मँदिर सँवारे जनु सिवलोक अनूप । -जायसी ग्रन्थावली, १२,पृ० १४

(९) परी रीढ़ जो तेहि के पीठी। सेतुबंध जस आवै दीठी ।
-जायसी ग्रन्थावली ८,पृ० १७५

प्रस्तुत —

जायसी ने शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। शब्द अलंकारों में अनुप्रास और श्लेष प्रमुख रूप से आए हैं और अर्थ अलंकार (सादृश्यमूलक अलंकारों) में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपातिशयोक्ति तथा अतिशयोक्ति, सांगरूपक, इत्यादि का उपयोग किया है। जायसी ने सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग ही अधिक किया है। इस सादृश्य विधान के द्वारा उन्होंने अपने काव्य को अर्थ-गाम्भीर्य के साथ-साथ भावोत्कर्षता भी प्रदान की है। जायसी के काव्य में परम्परानुगत उपमान ही अधिक मिलते हैं, पर इन उपमानों में कुछ ऐसे भी हैं, जो प्रसंग के अनुरूप भाव को व्यक्त करने में उचित नहीं प्रतीत होते हैं। जैसे - हाथी की सूंड, सिंह और सिंहनी की कमर।

यों तो जायसी के पूरे काव्य में ही अलंकारों के दर्शन होते हैं पर विशेषता इनके नखशिख वर्णन में तो अलंकारों की भरमार ही है। सर्वप्रथम हम जायसी की कुछ अति सुन्दर उपमाओं को लेते हैं, जिसमें उपमान तो प्राय: मौलिक ही हैं पर उपमेय और उपमानों का सुन्दर समन्वय देखते ही बनता है।

मंझन ने भी अनेक सुन्दर उपमाओं का प्रयोग किया है। जैसे - नेत्र, कान, भौंह, केश, हाथ इत्यादि। कहीं-कहीं तो कवि किसी अंग के लिए उपमा ढूंढने में अपने को असहाय सा महसूस करता है। जैसे --

(१) अस कपोल बिधि सिरे सोहाए, बे न जाहिं किछु उपमा लाए।

(२) भियं उपमा बरनों केहि ताईं।

(३) उपमां देख हबानेउँ सुनहु कहौं सति भाउ।

(४) तिल जो परा मुख ऊपर आई, बरनि न किछु उपमा लाई।

उपमा —

(क) कहाँनैर है कित्ती निकलंक अस चाँद[१]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, [illegible]-१८, पृ० ७

(क) दुतौ अकलु धुव डोलहिं नाहीं[१]

(ख) हिय हिंडोल अस डोलै मोरा ।[२]

(ग) रकत के आँसु परहिं भुइँ टूटी । रँगि चलीं जस बीर बहूटी ।[३]

(घ) बरसै मघा भकोरि भकोरी । मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी ।[४]

(ङ०) रकत के आँसु परहिं भुइँ टूटी । रँगि चलौ जस बीरबहूटी ।[५]

(च) कंचन-कोट जरे नगसीसा । नखतहिं भरी बीजु जनु दीसा ।[६]

यहाँ जायसी ग्रन्थावली से कुछ उपमायें प्रस्तुत की गई हैं जैसे - अचलता की उपमा ध्रुव से की गयी है । रक्त के आँसू की उपमा बीर बहूटी से की गई है तथा नैनों के चुने की उपमा ओरी से दी गयी है— माघ का माह लगते ही खूब झकाझोर बारिस होने लगी, पति विरह के कारण नायिका के नेत्रों से आँसू ऐसे झरने लगे जैसे - वर्षा के कारण ओरी का पानी गिरता है । यहाँ नायिका के नेत्रों से झरने वाले आँसुओं की उपमा बरसात में ओरी से चुने वाले पानी से दी गयी है ।

इसी प्रकार कँचन कोट के लिए - नगों से भरा हुआ परकोट ऐसा लगता है मानों नक्षत्रों से भरी हुयी विद्युत हो । यहाँ कंचन कोट की उपमा - नक्षत्रों से भरी हुयी विद्युत से दी गयी है ।

"जस चातक मुख बूँद सेवाती । राजा चाव बोलत तेहि भाँती ।"[७]

कवि ने राजा रत्नसेन की व्याकुलता की उपमा चातक से दी है—

---

१. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] १६, पृ० ७
२. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ५, पृ० १५२
३. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ५, पृ० १५२
४. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ६, पृ० १५३
५. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ५, पृ० १५२
६. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] १६, पृ० १५
७. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] २, पृ० १२८

जिस प्रकार चातक का मुख स्वाती बूँद पाने के लिए व्याकुल रहता है, उसी प्रकार सखियों द्वारा पद्मावती को छिपाए जाने पर उसकी बातें सुन कर राजा रत्नसेन के नेत्र पद्मावती को खोजते हुए व्याकुल हो उठे हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि कवि ने अपने भावों को प्रस्तुत करने के लिए इन उपमाओं का प्रयोग किया है और वह इस कार्य में सफल भी हुए हैं।

रूपक --

कवि ने रूपकों का प्रयोग भी बड़े मनोयोग से किया है। यहाँ हम कवि द्वारा प्रस्तुत कुछ रूपकों का वर्णन कर रहे हैं। जैसे --

(क) खंजन दुहुँ दिसी केली कराहीं।[१]

(ख) विरह सचान भए तन जाड़ा।[२]

(ग) पंचम विरह पंच सर मारै।[३]

(घ) जस वै घौंर चक्र के जोड़ा।[४]

यहाँ नेत्रों में घौंर चक्र का आरोप होने से रूपक अलंकार है। इसी प्रकार कवि ने पंचम विरह में रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया है।

रूपक अलंकार से ज्यादा रुचि कवि ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार के प्रयोग में ली है। रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग इन्होंने अत्यन्त मनोहारी ढंग से किया है। जैसे --

(क) भानु नावँ सुनि कँवल बिगासा। फिर के भँवर लीन्ह मधु बासा।।[५]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, चौ० ७, पृ० ४३

२. जायसी ग्रन्थावली, चौ० १०, पृ० ५४

३. जायसी ग्रन्थावली, चौ० १३, पृ० १५५

४. जायसी ग्रन्थावली, चौ० ५, पृ० ४२

५. जायसी ग्रन्थावली, चौ० १३ पृ० १०६

(ख) साम भुअंगिनि रोमावली । नाभीहि निकसि कँवल कहँ चली ।।[1]
आइ दुवौ नारँग बिच भई । देखि मयूर ठमकि रहि गई ।।

रोमावली में श्याम नागिन का आरोप करके कवि ने इस अलंकार को प्रदर्शित किया है । इसी प्रकार --

राते कँवल करहिं अलि भँवा । घूमहि माति चहहिं अपसवाँ ।।[2]

यहाँ कवि ने रतनारे नैयनों के बीच पुतलियों की भौरों के रूप में व्याख्या की है । नैनों को लाल कमल और पुतलियों में भौरों का आरोप करके इस अलंकार को दर्शाया है ।

उत्प्रेक्षा --

जायसी ने उत्प्रेक्षा अलंकार की स्थान-स्थान पर झड़ी लगा दी है । उत्प्रेक्षाओं में कल्पना का अद्भुत आकर्षण है ।

(क) सात सहस हस्ती सिंघली । जनु कबिलास इरावत बली ।[3]

(ख) घन अमराउ लाग चहुँ पासा । उठा भूमि हुत लागि अकासा ।[4]

यहाँ सिंहल द्वीप वर्णन प्रसंग के सम्बन्ध में, कवि ने यह उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है कि-- उसके चारों ओर घनी आम्र वाटिका है । उसके वृक्ष इतने ऊंचे हैं, मानो पृथ्वी से उठकर आकाश से जा लगे हों ।

मानहुँ कँवल सरोवर फूले ।[5]

यहाँ कवि कहता है कि वह सभा ऐसी जान पड़ रही है मानो सरोवर में फूल खिल रहे हों ।

---

१. जायसी ग्रन्थावली, दोहे १६, पृ० ५६
२. जायसी ग्रन्थावली, दोहे ५, पृ० ४३
३. जायसी ग्रन्थावली, दोहे २, पृ० १०
४. जायसी ग्रन्थावली, दोहे ३, पृ० १०
५. जायसी ग्रन्थावली, दोहे ३२, पृ० १८

सकल दीप महँ जेती रानी । तिन्ह महँ दीपक बारह बानी ।।[१]

यहाँ सिंहल दीप की चँपावति रानी का वर्णन करते हुए कवि उत्प्रेक्षा अलंकार का वर्णन करता है— सिंहल द्वीप में जितनी भी रानियां हैं उन सबके मध्य वह द्वादश वर्णी अर्थात् बारह कलाओं के स्वर्ण की दमक या बारह आदित्यों के समान ज्योति वाली है ।

सादृश्यमूलक अलंकारों में कवि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा का प्रयोग तो किया है पर सर्वाधिक रुचि हेतूत्प्रेक्षा के प्रयोग में ली है । ये उनका प्रिय अलंकार मालूम पड़ता है । हेतूत्प्रेक्षा के सहारे उन्होंने अपनी कल्पना को प्रवाहित किया है, उसे सुन्दर और मनोरम बनाने के साथ-साथ दूर तक खींचा भी है । जैसे —

(१) दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि ।[२]

(२) सहस किरिन जो सुरुज छिपाई । देखि लिलार सोउ छपि जाई ।[३]

इन हेतूत्प्रेक्षाओं में कवि नें प्रथम में दाँत का, और दूसरे में सूरज के छिपने का वर्णन किया है ।

अतिशयोक्ति—

जायसी ने अपने काव्य में अतिशयोक्ति का वर्णन वृहद रूप में किया है । अतिशयोक्ति का एक खूबसूरत उदाहरण है —

"घूँट जो पीक लीक सब देखा"[४]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, चौ० २५, पृ० १८

२. जायसी ग्रन्थावली, दोहा ६, पृ० ४४

३. जायसी ग्रन्थावली, चौ० ३, पृ० ४२

४. जायसी ग्रन्थावली, चौ० १३, पृ० ४५

इसी प्रकार --

'उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा । बेधि रहा सगरौ संसारा ।'[1]

इन वाणों से कौन मारा नहीं गया ? अर्थात् सारा संसार ही इनसे बिधा हुआ है ।

'गगन नखत जो जाहि न गने । वे सब बान ओ ही के हने ।।
धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ।।
रोवं रोवं मानुष तन ठाढ़े । सूतहि सूत बेध अस गाढ़े ।।'[2]

आकाश में अविराम प्रकाश करने वाली नक्षत्र माला क्या है ? 'उनके द्वारा छोड़े हुए वाण हैं '। चप्पा चप्पा जमीन इन्हीं वाणों से बिंधी पड़ी है ।

मानव शरीर के अन्तताप अंग-अंग में मारे गये उसी के वाण हैं ।

(क) चीर अहार न कर सुकुवाँरा ।[3]

(ख) मानहुँ नाल खण्ड दुइ भए ।[4]

(ग) पिउ-बियोग अस बाउर जीऊ । पपिहा निति बोलै'पिउ-पिउ' ।
अधिक काम दाधै सो रामा । हरि जिउ लइ सो गएउ पिउ नामा ।।
बिरह बान तस लाग,न डोली । रकत पसीज, भीँजि गइ चोली ।।
सूखा हिया, हार भा भारी । हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी ।
खन एक आव पेट महँ सासा । खनहिं जाइ जिउ, होइ निराला ।।
पवन डोलावहिं, सींचहिं चोला। पहर एक समुझहिं मुख बोला ।।
प्रान पयान होत को राखा ? को सुनाव पीतम कै भाखा ? ।।

---

1. जायसी ग्रन्थावली, दो० ६, पृ० ४३

2. जायसी ग्रन्थावली, दो० ६, पृ० ४३

3. जायसी ग्रन्थावली, दो० १६, पृ० ४६

4. जायसी ग्रन्थावली, दो० १८, पृ० ४७

आहि जो मारैं बिरह कै, आगि उठै तेहि लाहि ।[1]
हंस जो रहा सरीर महं, पाँख जरा, गा भागि ।।

इस पूरे छंद में अतिशयोक्ति अलंकार की भरमार है ।

भ्रम —

जहाँ एक वस्तु को देखकर किसी दूसरी वस्तु का भ्रम हो वहां भ्रम अलंकार होता है ।

(क) भूलि चकोर दीठि मुँह लावा ।[2]

(ख) कहं बिजुरि पुकारे । कहाँ मिली हो नाहैं
एक चाँद निसि सारंग महँ, दिन दूसर जल माहँ ।।[3]

श्लेष अलंकार —

(१) "हंस जो रहा सरीर महँ, पाँख जरा, गा भागि "[4]

(२) रतन छुआ जिन्ह हाथन्ह सेंती । और न छुआे सो हाथ संकेती ।

यहाँ प्रथम में "हंस" में और दूसरे में "रतन" में श्लेष अलंकार है ।

यमक —

कवि ने यमक अलंकार का भी प्रयोग किया है । हम यहाँ उसका

---

१. जायसी ग्रन्थावली, छंद २, पृ० २५०
२. जायसी ग्रन्थावली, छं०४, पृ० २४
३. जायसी ग्रन्थावली, छं०१, पृ० २४
४. जायसी ग्रन्थावली, दोहा २, पृ० १५१

एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

मैं छठि राति छठीं सुख मानी ।[1]

छठे दिन और छठि में यमक अलंकार है ।

पद्मावति के जन्म के पश्चात् छठे दिन की रात्रि को धूम-धाम और प्रसन्नता से उसकी छठी का उत्सव मनाया गया ।

इसी प्रकार — हार देइ जो खेलत हारा ।[2]

यहाँ हार और हारा में यमक अलंकार है ।

अनुप्रास अलंकार —

आवहिं झुंड सो पाँतिहिं पाँती । गवन सोहाइ सुभाँतिहि भाँती ।।[3]

यहाँ पाँतिहि-पाँती और भाँतिहि-भाँति में अनुप्रास अलंकार है ।

इसी प्रकार —

(क) कनक कलस मुखचंद दिपाहीं ।[4]

(ख) करइं कमला केलि कराहिं ।[5]

(ग) ताल तलाव बरनि नहिं जाहीं । सूझै वार पार किछु नाहीं ।[6]

यहाँ कनक कलस में, केलि कराहिं में और ताल तलाव, वार-पार में अनुप्रास अलंकार मिलता है ।

---

1. जायसी ग्रन्थावली, ग्रन्थौ. ३, पृ० १६
2. जायसी ग्रन्थावली, ग्रन्थौ. ६, पृ० ५४
3. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ८, पृ० १२
4. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ८, पृ० १२
5. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ६, १३
6. जायसी ग्रन्थावली, [illegible] ६, १३

'राम-काव्य'

तुलसीदास

रमणीयता को अभिव्यक्त करने के लिए जब साधारण भाव उपयुक्त न हो तो भावों को और अधिक सफल एवं रमणीय बनाने के लिए कवि प्रस्तुतों की श्री वृद्धि हेतु अप्रस्तुतों का सहारा लेता है । तुलसीदास में ये अप्रस्तुत अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रकट हुए हैं । जैसे —

'नील सरोवर नील मनि नील नीर धर स्याम
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम'

यहाँ पर गोस्वामी जी ने एक साथ तीन अप्रस्तुतों को सुन्दरतम रूप में पिरोया है । कमलोम्भव ब्रह्म के लिए सरोरुह का विशिष्ट चिन्ह, विष्णु के लिए मणि का चिन्ह और भगीरथी धारी शंकर के लिए नीरधर का संकेत किया गया है ।

चरणों के लिए पँद अँबुज, चरण कमल, पद पंकज, नवल-कँवलहू इत्यादि । इसी प्रकार सीता के लिए —पर्वशर्वनीका वदनि, चन्द्रवदनि, ससि बदनि,ससिमुख, नैन के लिए जलज नयन, राजीव लोचन, भानु कुल भूषन, रवि तड़ित विनिंदक, खेमकरी, लोभा, नकुल, मीन इत्यादि अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है ।

अप्रस्तुत-

मानव वर्ग

(१) देखिअउँ जाइ चरन जलजाता । अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ।।

- मानस, दौ० ३

(२) नवल कँवलहू ते कोमल चरन हैं— कवितावली, अयोध्याकाण्ड, दोहा -१७

(३) अहोभाग्य मम अमित अति राम कृपा सुख पुंज ।
    देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद कंज ।।

- मानस, दोहा ४७

(४) निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन । — मानस, सुन्दर का० दो० ८

(५) तरुन अरुन अंभोज बरन मृदु -- विनय पत्रिका - ६३

(६) कुलिस- केतु-जव-जलज रेख बर -- ,, ,, - ६३

(७) सेवत पद- पंकज- अज- महेस -- ,, ,, - ६३

(८) भव - जलधि- पोत चरनार बिंद -- ,, ,, - ६४

(९) सेवहु सिव - चरन- सरोज-रेनु — ,, ,, - १३

(१०)मुख पंकज, कंज बिलोचन मंजु -- कवितावली,अयोध्या का०२५

(११)मनोज- सरासन - सी बनीं भौहैं - ,, ,, का० २५

(१२) सुंदर बदन सरसीरुह सुहाए नैन - ,, ,, ,, १६

(१३) जयति बालार्क बर-बदन, पिंगल,कपिल-कर्कश- जटाजूटधारी ।

—कवितावली, अयोध्याकाण्ड,२८

(१४) प्रभु कर पंकज कपि के सीसा -- मानस,सुन्दरकाण्ड, चौ० १

(१५) कर सरोज जयमाल सुहाई -- मानस, बालकाण्ड, चौ० १

(१६) जलज नयन, गुन-अयन, मयन-रिपु, महिमा जान न कोई — विनयपत्रिका-९

(१७) राज-राजेन्द्र राजीवलोचन, राम, — ,, -४४

(१८) बाल-शशि-भाल, सुविशाल लोचन-कमल, काम-शतकोटि-लावण्य-धाम

-- विनय पत्रिका -१०

(१९) अरुन बरन पंकज नख जोती । कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ।।

-- मानस, दो० ११८

(२०) कविगन मध्य महाकवि जैसे— -मानस, बालकाण्ड, चौ० १

(२१) अरुन पदकंज-मदाकिनी मधुप मुनि वृंद कुर्वन्ति पानं - विनयपत्रिका -६०

(२२) कली रासि उर स्यामल मूरति - मानस, बालकाण्ड, चौ० १

(२३) जे पद जनक सुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए।
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई।।

- मानस, सुन्दरकाण्ड, चौ० ४

(२४) सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक तापत्रय मोचन।।

- मानस,बालकाण्ड, चौ० ३

(२५) सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई।।

- मानस, बालकाण्ड, चौ० ४

प्राकृतिक वर्ग—

(१) सुनि मृदु बचन भूप हियँ सोक ससि कर छुअत बिकल जिमि कोक -

- मानस,अयोध्याकाण्ड,चौ० ३

(२) उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग - मानस, बालकाण्ड, दो० २५४

(३) तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा - मानस, बालकाण्ड, चौ० १

(४) अरुन पराग जलजु भरि नीकें - ,, ,, , चौ० - ५

(५) प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर

- ,, सुन्दरकाण्ड, चौ० २

(६) चन्द्रहास हरु मम परितापं

- ,, ,, चौ० ३

(७) सनमाने प्रिय बचन कहि रघुकुल कैरव चन्द

- मानस, अयोध्याकाण्ड,दो० १०

(८) सोनित स्रवत सोह तनु कारे, जनु कज्जल गिरि गेरु पनारे।

- मानस, लंकाकाण्ड, चौ० ५

(९) मानहुँ कनक पंकज की कली

- मानस, लंकाकाण्ड, छं० २

(१०) मेरु शृंग जनु घन दामिनी

- ,, ,, चौ० ३

(११) मानो रोष तरंगिनि बाढ़ी - ,, अयोध्याकाण्ड, चौ० २

(१२) उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही । जनु बिच रोहिनि सोही ।।

- मानस, अयोध्याकाण्ड,

(१३) सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं ।
जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं ।।

- मानस,लंकाकाण्ड,छंद २

(१४) भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी । कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी ।।

- मानस, अयोध्याकाण्ड,चौ० १

(१५) भरत दुखित परिवारु निहारा । मानहुँ तुहिन बनज बनु मारा ।।

- मानस, अयोध्याकाण्ड,चौ० २

पशु, पक्षी एवं जीव वर्ग—

(१) सुनि सुनि सोच बिकल सब लोगा । मानहुं मीनगन नव जल जोगा ।

- मानस, अयोध्याकाण्ड,चौ० ३

(२) सरद चंद चंदिनि लगत जनु चकई अकुलानी - ,, ,, , चौ० ७८

(३) देखि मृगा मृगनैनी कहे प्रिय बैन, ते प्रीतम के मन भाए

- कवितावली,अरण्यकाण्ड १

(४) बाढ़ दीख रघुबंसमनि नयति निपट कुबाजु
जनि परेउ कबि बिंधिसिंह मनहुँ बृद्ध गजराजु

- मानस,अयोध्याकाण्ड,दोहा ३६

(५) रघुनायक सायक कठे मानहुँ काल फनीस - मानस, लंकाकाण्ड, दो० १०२

(६) भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने ।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने ।

- मानस, लंकाकाण्ड, छंद २

(७) कहहिं परसपर कोकिलबयनीं । एहि बिआहँ बड़ लाभु सुनयनी

- मानस, लंकाकाण्ड, चौ० ४

(८) रघुनायक सायक कठे मानहुँ काल फनीस ।।- ,, ,, दो० १०२

(९) कहहिं यह सुनि सुमंगु सिय सीतलि बानी । भयउ बिकल जनु फनि मनि हानी

- मानस, अयोध्याकाण्ड, चौ० २

(१०) जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियं तासु ।।

- मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा १२८

काल्पनिक वर्ग—

(१) प्रतिमा स्तवहिं नयन मग बारी

- मानस, लंका का०, चौ० १

(२) हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू । सुनि उपजसु मोहि देहहि लोगू ।
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली । जिअइ कि लवन पयोधि मराली ।।

- मानस, बालका० ५३१

(३) प्रतिमा रुदहिं पबिपात नभ अति बात बह डोलति मही ।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही ।।

- मानस, लंका का०, छंद

(४) मंदोदरी उर कंपति भारी । प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी ।।

- मानस, लंकाकाण्ड, चौ० ५

प्रस्तुत --

अलंकार की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास स्वतन्त्र अभिमत के कवि हैं । अलंकारवादी आचार्यों की कोटि में इन्हें नहीं रखा जा सकता है । वैसे तो अलंकारों का प्रयोग इनके महाकाव्य में सर्वत्र दृष्टिगत होता है, पर सहज और स्वाभाविक रूप में । इनके महाकाव्य में शब्द और अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों एवं उनके विविध रूपों के, कलात्मक विन्यास का आभाव नहीं है । अलंकारों के विनयोग का जितना सुन्दर रूप इस प्रबन्धकाव्य में उपलब्ध है उतना किसी दूसरे काव्य में नहीं । इसी अलंकार विधान की विशेषता को डा० शम्भुनाथ सिंह ने अभिव्यक्त किया है --

`मानस की अलंकार योजना का उद्देश्य है। अर्थ को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करना, भावों के सौन्दर्य में वृद्धि करना, रूप चित्रण और वस्तु-वर्णन में रमणीयता उत्पन्न करना और सूक्ष्म गुणों, अनुभूतियों और क्रियाओं को मूर्तरूप में उपस्थित करके उन्हें सहज बोधगम्य बनाना । इसलिए `मानस` में अलंकार रमणीयता की वृद्धि करते हैं, वे उसके भार नहीं, बल्कि सौन्दर्य के वाहन या साधन है ।'[1]

गोस्वामी जी के काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकार के अलंकारों का वर्णन होता है । अर्थालंकारों में मानस के अन्तर्गत विशिष्ट अलंकारों की श्रेणी में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, रूपकातिशयोक्ति ही विशेष उल्लेखनीय है । इसके अतिरिक्त हमें अतिशयोक्ति, सन्देह, भ्रम, विभावना, निदर्शना इत्यादि अलंकारों के भी दर्शन होते हैं ।

उपमा --

मानस में पूर्ण और लुप्त दोनों ही प्रकार की उपमायें हमें प्राप्त होती हैं । ये उपमायें अत्यन्त हृदयस्पर्शी मार्मिक एवं खूबसूरत हैं, मात्र कोरे प्रदर्शन

---

१. डा० शम्भूनाथ सिंह, महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ५५८

हेतु नहीं --

नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन ।
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन ।।[1]

इस एक दोहे में कवि ने एक साथ दो उपमाओं का वर्णन किया है । भगवान नारायण के शरीर की उपमा नील कमल से और नेत्रों की उपमा लाल कमल से दी है ।

तुलसीदास कहते हैं कि जो नील-कमल के समान श्याम वर्ण हैं, और जो पूर्ण खिले हुए लाल कमल के समान नेत्रों के धारी हैं और जो सदा क्षीर सागर में शयन करते हैं, वे भगवान (नारायण) मेरे हृदय में निवास करें ।

झलका झलकत पायन्ह कैसे
पंकज कोस ओस कन जैसे[2]

यहाँ तुलसीदास ने एक अत्यन्त सुन्दर उपमा का प्रयोग किया है -- भरत के चरणों में पड़े हुए छालों की उपमा उन्होंने ओस की चमकती हुयी बूंदों से दी है ।

भरत के चरणों में पड़े हुए छाले ऐसे चमक रहे हैं जैसे कमल की कली पर ओस की बूंदें चमकती हों । छालों के चमकने की उपमा ओस की बूंदों से दी गई है ।

सुन्दरता कहुँ सुंदर करई । छबिगृहं दीप सिखा जनु बरई ।[3]

यहाँ सीता जी की सुन्दरता की उपमा कवि दीपक की लौ से देता है । सीता जी सुन्दरता को भी सुन्दर करने वाली हैं - वह ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो सुन्दरता रूपी घर में दीपक की लौ जल रही हो । अब तक सुन्दरता रूपी भवन में अँधेरा था, वह भवन मानो सीता जी की सुन्दरता रूपी दीप-शिखा को पाकर जगमगा उठा ।

----

१. रामचरित मानस, बालकाण्ड, पृ० ३

२. रामचरित मानस, अयो०, पृ० ५६४

३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २३८

स्याम्ल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नैन[1]

यहाँ कवि श्री राम और लक्ष्मण की सुन्दरता की उपमा शरदपूर्णिमा के चाँद और शरद् ऋतु के कमल से दी है । यहाँ तुलसीदास उपमा देते हैं कि इनके मुख शरद्पूर्णिमा के समान सुन्दर हैं और इनके नेत्र शरद्-ऋतु के कमल के समान हैं । दोनों ही भाई श्याम और गौर वर्ण के सुन्दर अवस्था को प्राप्त हैं और दोनों ही परम सुन्दर और शोभा के धाम हैं ।

उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही । जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही ।[2]

यहाँ तुलसीदास सीता जी के लिए एक और खूबसूरत उपमा खोजकर लाये -- सीता जी राम और लक्ष्मण के बीच में उसी प्रकार सुशोभित हो रही हैं जैसे -- बुध (चन्द्रमा के पुत्र) और चन्द्रमा के बीच में रोहिणी (चन्द्रमा की स्त्री) शोभा पा रही हो ।

रूपक --

तुलसीदास ने रूपक अलंकार का प्रयोग भी अत्यन्त सुन्दरता के साथ किया है । इनकी रूपक योजना की सुन्दरता को स्पष्ट करते हुए डा० राजपति दीक्षित ने कहा है कि "वे केवल परम्परागत उपमानों और अप्रस्तुतों की क्षुद्र परिधि में ही नहीं बँधे रहते, अपितु वे विशेषांश में अपनी सूक्ष्म प्रकृति पर्यवेक्षण शक्ति के सहारे प्रकृति के व्यापारों से ही ऐसे अप्रस्तुतों का चयन करते हैं कि उनसे रूपक में प्रभावादि के अतिरिक्त बड़ी ही स्वाभाविकता आ जाती है"[3] ।--

श्री गुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि ।[4]

यहाँ तुलसीदास ने रूपक के सहारे गुरु-महिमा का वर्णन किया है -- श्री गुरु जी

---

१. रामचरित मानस, अयो० ११६
२. रामचरितमानस , अयो० ११७
३. डा० राजपति दीक्षित, तुलसी और उनका युग, पृ० ४२१
४. रामचरितमानस, अयो०, पृ० ३०२

के चरण कमलों की रज से अपने मन रूपी दर्पण को स्वच्छ करके मैं श्री राम के उस निर्मल यश का वर्णन करता हूँ जो चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) को देने वाला है ।

(क) नृप सब नखत करहिं उजियारी । टारि न सकहिं चाप तम भारी ।।
कमल कोक मधुकर खग नाना । हरषे सकल निसा अवसाना ।।[1]

(ख) ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे । होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ।।
उभय भानु बिनु श्रम तम नासा । दुरे नखत जग तेजु प्रकासा ।।[2]

तुलसीदास कहते हैं कि जब राजा लोग मन्द प्रकाश कर रहे हैं -- ये प्रकाश तारों के समान है जैसे तारों का प्रकाश मन्द होता है उसी प्रकार इन राजा लोगों का प्रकाश है और ये अपने मन्द प्रकाश से धनुष रूपी महान अन्धकार को हटाने में असमर्थ हैं । जिस प्रकार रात्रि का अन्त होने से कमल, चकवे, भौंरे और नाना प्रकार के पक्षी हर्षित हो रहे हैं । वैसे ही हे प्रभो आपके सब भक्त धनुष टूटने पर सुखी होंगे । सूर्य उदय हुए बिना ही अर्थात् बिना परिश्रम के ही अन्धकार का नाश हो गया, तारे छिप गए और संसार में तेज का प्रकाश हो गया । सूर्य के उदय होने से उनका तात्पर्य श्री राम के प्रताप से है जो धनुष तोड़कर अंधकार का नाश करते हैं और उसके फलस्वरूप तेज का प्रकाश उत्पन्न होता है ।

मानस की तरह ही हम तुलसीदास द्वारा रचित अन्य पुस्तकों में भी रूपक अलंकार के दर्शन करते हैं—

राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर[3]

लीन्हें अयमाल करकंज सोहैं जानकी के[4]

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २४६

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २४६

३. दोहावली, ध्यान १

४. कवितावली, १३

विषया परनारि निसा-तरुनाई सो पाइ परयो अनुरागहिं रे ।
जमके पहरू दुख रोग, वियोग बिलोकत हू न बिरागहि रे ।
ममता बस तैं सब भूलि गयो, भयो भोरु, महाभय, भागहि रे ।
जरठाइ-दिसाँ रबि कालु उठ्यो, अजहुँ जड़ जीव न जागहि रे ।[१]

यहाँ तुलसीदास एक खूबसूरत रूपक के माध्यम से मनुष्य जाति को सम्बोधित करते हुए बताते हैं कि — हे मनुष्य तू तरुणाईरूपी निशा पाकर विषयरूपी परस्त्री की प्रीति में फंस गया है । यमराज के पहरेदार दुख, रोग और वियोग को देखकर भी तुझे वैराग्य नहीं होता । ममतावश तू सब भूल गया । अब भोर हो गयी है, इस महान भय से भाग जा । बुढ़ापारूपी (पूर्व) दिशा में काल (मृत्यु) रूपी सूर्य का उदय हो गया है । हे जड़ जीव तू अब भी नहीं जागता

एक रूपक और रामचरित मानस से —

बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई । जनु मधु मदन मध्य रति लसई ।।
उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही । जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही ।।[२]

राम और लक्ष्मण के बीच सीता जी ऐसी शोभा पा रही हैं मानों ब्रह्म और जीव के बीच में माया हो । तुलसीदास कहते हैं कि उनकी छवि मेरे मन में बस गयी है ऐसा प्रतीत होता है मानों बसन्त ऋतु और कामदेव के बीच में रति सुशोभित हो रही है ।

<u>उत्प्रेक्षा अलंकार—</u>

तुलसीदास ने एक से एक सुन्दर उत्प्रेक्षाओं को चुन-चुन कर अपने काव्य में रखा है । सर्वप्रथम हम मानस से एक उत्प्रेक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।।[३]

प्रभु श्री रामचन्द्र जी पर्णकुटी में ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो वैराग्य,भक्ति और

---

१. कवितावली, उत्तरकाण्ड -३१
२. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४८७
३. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा - [illegible] ३२१

ज्ञान शरीर धारण करके शोभित हो रहे हैं।

जातरूप मनि-जटित मनोहर, नूपुर जन-सुखदाई
जनु हर-उर हरि विविध रूप धरि, रहे बर भवन बनाई ।।[1]

यह दोहा हमने विनयपत्रिका से लिया है। इसमें तुलसीदास कहते हैं कि सोने के रत्न जड़ित नूपुर मन को मोहने वाले और भक्तों को सुख देने वाले हैं, मानों शिव जी के हृदय में अनेक रूप धारण करके भगवान् विष्णु सुन्दर मन्दिर बनाकर वास कर रहे हों।

कटितर रटति चारु किंकिनि-रव, अनुपम बरनि न जाई।
हेम जलज कल कलित मध्य जनु, मधुकर मुखर सुहाई ।।[2]

यह उदाहरण भी हमने विनयपत्रिका से ही लिया है। यहाँ एक सुन्दर उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की गयी है सोने के कमल से। तुलसीदास कहते हैं - जो कमर में तगड़ी का शब्द हो रहा है, वह अनुपम है, उसका वर्णन अवर्णनीय है फिर भी हम ऐसा कह सकते हैं मानों सोने के कमल की सुन्दर कलियों में भ्रमरों का सुहावना शब्द गुंजार कर रहा हो।

जिन्हको पुनीत बारि धारैं सिरपे पुरारि,
त्रिपथगामिनि - जसु बेद कहैं गाइ कै।
... ...
तेई पाय पाइकै चढ़ाइ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वैहौं न हँसाइ[3]

यह उदाहरण हमने कवितावली से लिया है। केवट कहता है कि जिन चरणों का पवित्र जल, श्री गंगा जी को शिव जी अपने सर पर धारण किए हुए है और जिन गंगा जी का यश वर्णन वेद भी गा-गा कर करते हैं उन पैरों को बिना धोए हुए अपनी नाव पर चढ़ाकर मैं अपने लाभ को नहीं खोऊँगा।

यहाँ हमने कवि द्वारा प्रस्तुत कुछ सुन्दर उत्प्रेक्षाओं का वर्णन किया है।

---

१. विनयपत्रिका, ६२।४
२. विनयपत्रिका, ६२।५
३. कवितावली, अयोध्याकाण्ड, ६

अतिशयोक्ति अलंकार—

अतिशयोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु का बढ़ा-चढ़ा कर अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया जाता है । मानस में भी कई अवसर ऐसे आए हैं जहाँ यह अलंकार दृष्टिगोचर हुआ है -

राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार ।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाष तुम्हार ।।

हे राजन् आपका नाम और यश ही इस संसार में सम्पूर्ण मनचाही वस्तुओं को देने वाला है । हे राजाओं में सर्वश्रेष्ठ राजा आपकी तो अभिलाषा ही समस्त फल का अनुगमन करती रहती है । अर्थात् आपकी इच्छा करने से पहले ही फल प्राप्त हो जाता है ।

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बे समुद्र-सर ।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ।।
दिग्गयंद लरखरत परत दसकंधु मुक्खभर ।
सुर-बिमान हिमभानु भानु संघटत परस्पर ।।
चौंकि बिरंचि संकर सहित, कोलु कमठु अहि कल मल्यौ ।
ब्रह्मंड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिव धनु दल्यौ ।।[1]

यह उदाहरण हमने कवितावली से लिया है । कवि यहाँ उस समय का वर्णन कर रहा है जब श्री राम ने शिवजी का धनुष तोड़ा था । धनुष तोड़ते समय उसका प्रचण्ड शब्द स्वर ब्रह्माण्ड को फाड़कर गया और उसके आघात से सारे
सारे पर्वत, समुद्र और तालाब सहित सारी पृथ्वी डगमगाने लगी, सर्प बहिरे हो गये, सम्पूर्ण चराचर एवं इन्द्रादि दिक्पाल गण व्याकुल हो उठे, दिग्गज लड़खड़ाने लगे, रावण मुँह के बल गिरने लगा, देवताओं के विमान चन्द्रमा और सूर्य आकाश में परस्पर टकराने लगे, महादेव जी सहित ब्रह्मा जी चौंक पड़े और वाराह, कच्छप तथा शेष जी भी कलमला उठे ।

---

1. कवितावली - 11

अनुप्रास अलंकार --

अनुप्रास अलंकार के भी हम एक दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं -

प्राकृतं, प्रकृत परमात्मा, परमहित,प्रेरकानंत बंदे तुरीये ।।[1]

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरितधरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल ।।[2]

यहाँ भी कवि श्री राम का वर्णन कर रहा है- वही कृपालु श्री रामचन्द्र जी भक्त-भूमि, ब्राह्मण, गौ और देवताओं के हित के लिए मनुष्य-शरीर धारण करके लीलाएं करते हैं जिनके सुनने से जगत के जंजाल मिट जाते हैं ।

लुप्तोपमा अलंकार--

बार-बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनी
कारन मोहि सुनाउ गज गामिनि निज कोप कर[3]

राजा दशरथ बार-बार कहते हैं - हे सुमुखी, हे सुलोचनी, हे कोकिलबयनी, हे गजगामिनी मुझे अपने क्रोध का कारण तो सुना । यहाँ लुप्तोपमा अलंकार है ।

साँवरे-गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी-सी ।
मुनिपट धारैं, उर फूलनि के हार हैं ।।[4]

साँवरे (श्रीरामचन्द्र) और गोरे (लक्ष्मण जी) के मध्य में बिजली के समान आभावाली रमणी सुशोभित हो रही है । ये तीनों मुनियों के वस्त्र धारण किए हुए हैं और इनके हृदय पर फूलों की माला है ।

---

१. विनयपत्रिका, पृ० ८६
२. रामचरितमानस, पृ० ४५६
३. रामचरितमानस, पृ० ३६३
४. कवितावली, अयोध्याकाण्ड, १६

दृष्टान्त अलंकार —

दृष्टान्त अलंकार वहाँ द्रष्टव्य होता है, जहाँ उपमेय, उपमान और साधारण धर्म बिम्बप्रतिबिम्ब रूप में वर्णित होते हैं ।

सोये सीता राम नहिं भजे न शंकर गौरि ।
जनम गंवायो बादिहीं परत पराई पौरि ।।[1]

कवि कहता है, अगर किसी ने इस संसार में आकर सीता-राम का भजन नहीं किया और शंकर गौरि की पूजा नहीं की तो उसका जीवन व्यर्थ है ।

हंसगवनि तुम्ह नहि बन जोगू । सुनि उपजहु मोहि देहहि लोगू ।।
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली । जिअइ कि लवन पयोधि मराली ।।[2]

हे हंसगमनी ! तुम वन के योग्य नहीं हो । तुम्हारे वन जाने की बात सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे । मानसरोवर के अमृत के समान जल से पाली हुई हंसिनी कहीं खारे समुद्र में जी सकती है ।

नव रसाल बन बिहरन सीला । सोह कि कोकिल बिपिन करीला ।[3]
रहहु भवन अस हृदयँ बिचारी । चंदवदनि दुखु कानन भारी ।।

नवीन आम के वन में विहार करने वाली कोयल क्या करील के जंगल में शोभा पाती है ? हे चन्द्रमुखी ! हृदय में विचार कर तुम घर ही पर ही रहो वन में बड़ा कष्ट है ।

निम्नलिखित दोहे दृष्टान्त अलंकार को प्रदर्शित कर रहे हैं ।

---

१. दोहावली, पृ० ३२

२. रामचरितमानस, पृ० ४३१

३. रामचरितमानस, पृ० ४३१

कृष्ण काव्य धारा के कवि

सूरदास और नन्ददास -

ये कवि सगुण उपासक हैं । इन्होंने अपने-अपने आराध्य की उपासना सख्य भाव से की है । अपने आराध्य श्री कृष्ण की बाल्यावस्था से लेकर तरुणावस्था तक के चित्र खींचे हैं । सूरदास ने अपने काव्य का आरम्भ ही अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है --

"चरन- कमल बंदौं हरि राइ "

चरणों के लिए उपमा, प्राय: सभी कवियों ने दी है । इसी प्रकार --

"अविगत गति कछु कहत न आवै "

सूरदास ने अपने आराध्य की महिमा का गुणगान अनेक प्रकार के अप्रस्तुतों के सहारे किया है -- विधु, मुख, बदन चंद, अरुन अम्बर, सरोरुह लोचन, बंधूक-कुसुम उपर अलि बैठयो इत्यादि सुन्दर अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है ।

नन्ददास ने भी राधा-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य और लीलाओं को काव्य-वर्ण्य के रूप में प्रस्तुत करने के लिए अनेक सुन्दर अप्रस्तुतों का सहारा लिया है । नायक-नायिका के लिए अप्रस्तुतों का प्रयोग करने के साथ ही साथ उन्होंने विट्ठलनाथ की तुलना भी कमल और चन्द्रमा से की है --

"प्रात समै श्री वल्लभ सुत कै, बदन-कमल को दरसन कीजै "

अप्रस्तुत -

मानव वर्ग

(१) अधर अरुन-अनूप नासा, निरखि जन-सुखदाई ।
मानौं सुक, फल बिंब कारन, लेन बैठ्यो आइ ।

- सूरसागर, पद - ८५२

(२) अधर मधुर मधि रेख सुधारी । अरुन पाट जनु दुई पवारी ।

- नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, ११७

(३) नासिका चंपककली कौं अली मार - सूरसागर, पद- १६६४

(४) बिकसत ज्यौ चंपकली भोर भएं भवन की - सूरसागर पद, २३१२

(५) सोभित सुमन-मयूर-चंद्रिका, नील नलिन तनु स्याम - सूरसागर पद ७७२

(६) बिधु मुख, मृदु मुसुक्यानि अमृत सम, सकल लोक लोचन प्यारी - सूरसागर, पद -६६

(७) बदन-सुधा सरसीरुह लोचन, भृकुटी दोउ रखवारी -सूरसागर, पद २४२७

(८) बंदौं चरन- सरोज तिहारे - सूरसागर, पद - ४०

(९) रोमावली सुंडतिरनी लौं - ,, पद - २०५७

(१०) सुन्दर कर राजत रंग भीने । एक कमल के जनु बिबि कीने -,, - १०४

(११) चरन-कर-कमलानि - सूरसागर, पद - ५०७

(१२) निकस्यौ अलि सिसु कंज तैं, मनहुँ बासि परभात - सूरसागर, पद - ५०७

(१३) गौर बदन तन सोभित नीकौं और कंचन कौं रंग कीनौं

- सूरसागर, पद - ५०७ १२२

(१४) बेनी बनी कि सर्पनि सुहाई - नन्ददासग्रन्थावली, रूपमंजरी -१०४

(१५) भाल लाल-सिंदूर-बिंदु पर, मृगमद दियौ सुधारि ।
मानौं बंधूक-कुसुम ऊपर अलि बैठ्यौं, पंख पसारि ।।

- सूरसागर, पद - २७३६

(१६) कमल नैन बलि जाउँ - सूरसागर, पद ८१३

(१७) कुटिल अलक मुख-कमल मनौं अलि-अवलि बिराजै

- नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी- ३

(१८) रूपमंजनी बदन - बिधु बिधना जग मैं टेकि - रूपमंजरी-दोहा - १२६

(१६) छोटी-छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी,
नख-ज्योती, मोती मानों कमल-दलनि पर ।
- सूरसागर, पद - ७६६

(२०) पुनि तिनकी पद-पंकज-रज अज अजहुँ छिछे - नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण
सिद्धान्त पंचाध्यायी, पद -४२

(२१) सुंदर बरन सरोज सोज निकटहिं पायो तब— नन्ददास ग्रन्थावली,पद -८१

(२२) कमल नैन-प्रापचि उपाइ सब लोक सिखाए
- नन्ददास ग्रन्थावली,पद -७७

(२३) जो पद-पदुम रमत पांडव-दल दूत भए, सब काज संवारे ।
सूरदास तेई पद-पंकज त्रिबिध-ताप-दुख-हरन हमारे ।
- नन्ददास ग्रन्थावली, पद ६४

(२४) सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे ।
- नन्ददास ग्रन्थावली,पद ६४

(२५) इक कों आनि ठेलत पाँच
करुनामय कित जाउँ कृपानिधि, बहुत नचायो नाच ।
- नन्ददास ग्रन्थावली,पद १६६

प्राकृति वर्न -

(१) मनि गन खचित मनोहर कुंडल राजत लोल कपोल ।
कालिंदी मैं रवि प्रतिबिंबित, चंचल पवन हिंडोल ।
- सूरसागर,पदसंख्या १८२३

(२) चंपक-बरन, चरन-कर कमलनि, दाड़िम दसन लरी ।
- सूरसागर, पद ५०७

(३) कच-भर कुटिल-सुदेस अँबुकनि चुवत अग्र गति मंदन ।
मानहु भरि गंडूष कमल तैं डारत अलि आनंदन ।

- सूरसागर, पद १७७६

(४) लीला गुन अमृत रस स्त्रवनि पुट पीवै - सूरसागर, पद ७२

(५) देखियत नहिँ मदन माँझ बैसोइ तन तैसि साँझि
- सूरसागर, पद ८६४

(६) हरि कर राजत माखन-रोटी ।
मनु वारिज ससि बैर जानि जिय गह्यो सुधा ससु धौती ।

- सूरसागर, पद ४६

(७) चरनोदक स कौं छाँडि सुधारस, सुरा-पान अँचयौ ।

-

(८) सूर मधुप निसि कमल-कोश बस, करौ कृपा-दिन-मान ।

- सूरदास, पद १००

(९) अधर बिंब बिच दसन बिराजत, दुति दामिनि चमकारि

- सूरसागर, पद ७३६

(१०) ललित लट छिटकाति मुख पर, देति सोभा दून ।
मनु मयंकहिँ अंक लीन्हो सिंहिका कैँ सून ॥

- सूरसागर, पद ८०२

(११) चपला तैं चमकाति अति प्यारी ।

- सूरसागर, पद १३३६

(१२) बदन चंद पर रचि तारा-गन - सूरसागर, पद २११६

(१३) तिय तन रूप बढ़त चल्यो ऐसे । दुतिया चंद कलानि करि जैसे ॥

- नंददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, चौपाई- ६१

(१४) भाल लाल-सिंदुर-बिंदु पर, मृगमद दियौ सुधारि ।
मनौं बंधूक-कुसुम ऊपर अलि बैठ्यौ, पंख पसारि ।।

- सूरसागर, पद- २७३६

(१५) सुभग सुदेस सीस सेंदुर कौं, देखि रही पचिहारि ।
मानौं अरुन किरन दिनकर की, पसरी तिमिरबिदारि ।

- सूरसागर, पद - २७३२

(१६) बीच बीच दामिनी कौंधति है, मानौं चंचल नारी ।

- सूरसागर, १८०६

(१७) दूध-धार मुख पर छबि लागति, सो उपमा अति भारी ।
मानौं चंद कलकिहिं धोवत, जहँ-तहँ बूँद सुधा री ।

- सूरसागर, पद - १३५१

(१८) कंचन से तनु सोहै नीलांबर धारी ।
कुहू - निसा- मध्य मनौं दामिनी उज्यारी ।।

- सूरसागर, पद १६६५

(१९) अरुन - अधर -दसननि दुति राजति

- सूरसागर, पद २२८५

(२०) अपने ही अज्ञान तिमिर मैं, बिसर्यौ परम ठिकानौ

- सूरसागर, पद -४७

पशु पक्षी एवं जीव वर्ग--

(१) ना हरि-हित, ना तु-हित, इनमैं एकौ तौ न भई ।
ज्यौं मधुमाखी सँचति निरंतर, बन की ओट लई ।

- सूरसागर, पद ५०

(२) यह धन-प्रीति सुआ-सेमर ज्यौं, चाखत ही उड़ि जात ।।

- सूरसागर, पद ३१३

(३) बार-बार निसि दिन अति आतुर, फिरत दसौं दिसि धाए ।
ज्यौं सुक सेमर-फूल बिलोकत, जात नहीं बिनु खाए ।।

- सूरसागर, पद १००

(४) यह जग प्रीति सुवा-सेमर ज्यौं, चाखत ही उड़ि जात ।

- सूरसागर, पद ३१३

(५) काढ़त-गुहत न्हावत जैहै नागिनि सी भुइँ लोटी ।

- सूरसागर, पद ७९३

(६) काल फिरत बिलार- तनु-धरि, अब धरी तिहिं लेत ।

- सूरसागर, पद ७९३

(७) विषय भजै, विरक्त न सेए, मन धन-धाम धरै
ज्यौं माखी, मृगमद-मंडित-तन परिहरि, पूय परै । - सूरसागर, पद ११८

(८) सूरदास भगवंत भजन बिनु, मनौ ऊँट-वृष-भैंसौ

- सूरसागर,पद ३५७

(९) सूरदास प्रभु तुम्हारे बिनु जैसैं सूकर-स्वान-सियार - सूरसागर,पद ४१

(१०) मृग की मानौं बंक छौनी । पवन करति फिरति छबि बौनी ।

- नन्ददास ग्रन्थावली,रूपमंजरी -५३

(११) कृष्ण दरस लालसा सु तरफें मीन की नाईं ।- नन्ददास ग्रन्थावली,श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, ६५

(१२) कुंतल कुटिल, मकर कुंडल, भुव नैन बिलोकनि बंक ।

- सूरसागर, ७७२

(१३) केत्यौ नाहिं, भयौ टरि बौसर, मीन बिना जल जैसैं ।
अब गति भई सूर की ऐसी, स्याम मिलैं धौं कैसैं ।।

- सूरसागर, पद २९३

(१४) कमल मुख, कर भरे भँवुआ, कहत हरि-हरि बात
कमल जल पर सीप है मानि, मीन मन अकुलात ।

- सूरसागर, पद ६७८

(१५) मेल्यो जाल काल जब खैंच्यो, भयो, मीन जल-मायो।
- सूरसागर, पद ६७

(१६) चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।
- सूरसागर, पद ३३७

(१७) चपल नैन नासा बिच सोभा, अधर सुरंग सुठारि
मानों मध्य खंजन सुक बैठ्यो, लुब्ध्यो बिंब बिचारि
- सूरसागर, पद २७७२

(१८) चक्र तरयौना, नैन मृग, रथ बैठ्यो जनु इंदु- सूरसागर, पद ३२३१

(१९) कंबु तरयौना, नैन मृग, रथ बैठ्यो जनु इंदु--सूरसागर, पद ३२३०

(२०) देखि बदन के रूप कौं, मोहन रह्यो लुभाइ।
इकटक रहा चकोर ज्यौं, दृष्टि न इत-उत जाइ।
- सूरसागर, पद ३२३१

(२१) चलत मग, पग बजति पैजनि, परसपर किलकात।
मानौं मधुर मराल- छौना बोलि बैन सिहाति ।।
- सूरसागर, पद ३२३१

काल्पनिक वर्ग--

(१) बिरह अगिनि प्रचंड उनकैं, जरैं हाथ लुहार - सूरसागर, पद -४७२६

(२) सकल लोचन स्रवत उनके, बहति जमुना धार - सूरसागर, पद- ४७२६

(३) बैकुंठ मणि मुकुत है जिते। सब वृन्दावन ठाँ ठाँ तिते--नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध,पृ०३१६

(४) मगन हौं भव-अंबुनिधि मैं, कृपासिन्धु मुरारी - सूरसागर,पद ६६

(५) चित्रगुप्त जम द्वार लिखत हैं मेरे पातक भारि - सूरसागर, पद १६७

(६) मन राखें तुम्हरे वर नि पै,नित नित जो दुख पावैं।
मुकरि जाइ, कै दीन बचन सुनि, जमपुर बाँधि पठावैं।।
- सूरसागर,पद १६६

(७) सुनो स्याम, तुमकौं ससि डरपत, यहै कहत मैं सरन तुम्हारी।
- सूरसागर, पद -८१४

प्रस्तुत —

सूर ने अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है । ये अलंकार चाहे सादृश्य विधान के लिए प्रयुक्त हुए हों या काव्य में वैचित्र्य की उत्पत्ति के लिए सबका प्रधान लक्ष्य काव्य के भावपक्ष को उत्कर्ष प्रदान करना ही रहा है ।

उपमा अर्थालंकारों में मूल अलंकार है । इसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है । यह इतना व्यापक अलंकार है कि किसी भी भाषा के साहित्य में इसका अभाव नहीं दिखायी पड़ता । कवि उपमेय की व्याख्या करते समय जिस भाव को व्यक्त करने की इच्छा करता है, यदि उपमान के द्वारा भाव तीव्र हो जाए या उपमेय का उत्कर्ष दिखायी देने लगे तो समझना चाहिए कि कवि की अप्रस्तुत योजना सफल हुई । श्री राम दहिन मिश्र कहते हैं कि उपमा के सम्बन्ध में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

'हमें सर्वप्रथम अप्रस्तुतों की योजना करते समय यह देखना चाहिए कि जो वस्तु, व्यापार या गुण लाया जाता है, वह उस भाव के अनुकूल है कि नहीं । अप्रस्तुत भी वैसा ही भावोत्तेजक हो जैसा कि प्रस्तुत ।

दूसरी बात ये कि उपमा में तुलना के लिए दो वस्तुयें होनी चाहिए । क्योंकि इसके बिना काव्य में सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं होता । तीसरी बात ये कि उपमेय की तुलना ऐसी वस्तुओं से होनी चाहिए जिससे उपमेय का सुविशद ग्रहण हो, अर्थ चमत्कार को उत्कर्ष प्राप्त हो । चौथी बात ये कि उपमेय के जिस साधारण धर्म से उपमान की तुलना की जाए उसमें उपमेय से उपमान बढ़ा चढ़ा हो । क्योंकि अप्रस्तुत योजना का यही प्रमुख उद्देश्य है । यदि उपमेय से उपमान हीन हुआ तो वह उपमेय की सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक ही कैसे होगा । पांचवी बात ये कि उपमेय और उपमान का साधारण धर्म कवि सम्मत और लोकविरुद्ध न हो । छठवीं बात ये कि उपमान का यथार्थ होने पर भी भाववर्द्धक और सुरुचि का परिचायक होना चाहिए ।'[१]

---

१. रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० १५१-१५२

सूरसागर में यों तो उपमाओं की भरमार है पर यहाँ हम कुछ रमणीय उपमाओं को ही वर्णित कर रहे हैं ।

इसी प्रकार नन्ददास ने भी उपमाओं का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है । उपमा तथा उपमान के संयोजन में इन्होंने प्राय: अप्रत्यक्ष रूप विधान व्यक्त करने में अधिक रुचि ली है ।

अपने आराध्य के लिए उपमा उपमान खोजने के साथ ही साथ इन्होंने अपने दीक्षा गुरु श्री विट्ठलनाथ जी की मुख छवि के लिए भी निम्न पद कहा है --

'तीन लोक वंदित,परसोत्तम,उपमा कहा जो पटतर दीजे '

उपमा—

सूर ने अपने काव्य में एक से सुन्दर उपमाओं का वर्णन किया है जैसे—

देखि री हरि के चंचल तारे ।
कमल मीन कौं कहँ ए ती छवि, खंजन हू न जात अनुहारे ।।
वह लखि निमिष नचत मुरली पर,कर मुख नैन भए इक चारे ।
मनु जलरुह तजि बैर मिलत बिधु,करत नाद बाहन चुचकारे ।
उपमा एक अनूपम उपजति, कुंचित अलक मनोहर भारे ।
विहरत बिझुकि जानि रथ तैं मृग, जनु ससंकि ससि लंघर सारे ।।
हरि-प्रति-अंग बिलोकि मानि रुचि,ब्रज-बनितानि प्रान-धन वारे ।
सूर स्याम-मुख निरखि मगन भई, यह बिचारि चित अनत न टारे ।।[१]

लोक-सकुचि कुल-कानि तजी ।
जैसे नदी सिंधु कौं धावै, वैसैं हि स्याम भजी ।।
मातु पिता बहु त्रास दिखायौ, नैकु न डरी-लजी ।
हारि मानि बैठे, नहिं लागति, बहुतै बुद्धि सजी ।।

---

१. सूरदास, सूरसागर, काशी नागरी प्रचारणी सभा, पद सं० २४१५

मानती नहीं लोक-मरजादा, हरि के रंग मजी ।
सूर स्याम कौं, मिलि, चूनौ-हरदी ज्यौं रंग रची ।।[1]

इन पदों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि उपमानों को प्रस्तुत करने में अत्यन्त सिद्धहस्त है । गोपियाँ श्री कृष्ण की ओर ऐसे भागती हैं जैसे-नदी समुद्र की ओर, श्री कृष्ण से मिलकर गोपियां ऐसे एक रंग हो गयीं जैसे - चूना और हल्दी मिलकर एक हो जाता है । एक ही पद में कई-कई उपमाओं को सुन्दरता के साथ पिरोया गया है । जैसे प्रथम पद में "हरि के खंजन तारे" "कमलमीन", "खंजन", "मनु जलरुह तजि बैर मिलत बिधु" इत्यादि ।

नन्ददास ने भी इस अलंकार का प्रचुरता से प्रयोग किया है —

खंजन प्रगट किये दुख दैना, संजोगिनि तिय के से नैना ।।[2]

तब लीनी कर-कमल जोगमाया सी मुरली ।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधराजन रली ।।[3]

ज्यौं चकोर बस सरद चंद्र कैं, चक्रवाक बस-भान ।
जै सैं मधुकर-कोष-बस, त्यौं बस स्याम सुजान ।।
ज्यौं चातक बस स्वाति बूंदकैं, तन कैं बस ज्यौं जीय ।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन कवियों ने राधा कृष्ण के लिए अनेक पारम्परिक उपमाओं का वर्णन किया है । जैसे -- खंजन, कर कमल, चंद्र देह बस, चकोर बस सरद चंद्र, चक्रवाक, बस भान, मधुकर कमल-कोष, चातक बस स्वाति बूंद इत्यादि ।

ये उपमायें पारम्परिक होने के साथ ही साथ प्रभावपूर्ण भी हैं ।

१, सूरसागर, पद सं० २२४६
२ नन्ददास, नन्ददास ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, विरहमंजरी, ६२
३, नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, मुरली वर्णन, ४६
४, सूरसागर, पद सं० २४८७

वरुन नैन राजत प्रभु मोरे ।

रति मुख सुरति किये ललना संग, जात समद मनमथ सर बोरे

अति अनींदें, अलसात, मरमगति, गोलक चपल सिथिल कछु थोरे ।

मनहुं कमल के कोष तमी तम, उठत रहत छवि रिपु दल दोरे ।।

सोभित सुभग सबल प्रति कोरैं, संगम छवि तारेऽरुन डोरे ।

मनु भरति के भँवर मीनसिसु, जात तरल कितवत कित चोरे ।।

बरनि न जाइ, कहां लगि बरनौं, प्रेम-जलधि-बेला वर बोरे ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर ने अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है । यह अलंकार चाहें सादृश्य स्थापना के लिए (उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षा) प्रयुक्त हुए हों या काव्य के वैचित्र्य के लिए इनका प्रधान लक्ष्य काव्य के भाव पक्ष को सुन्दरता प्रदान करना ही रहा हो । सूर ने इन्हीं सब भावों को अभिव्यक्त करने के लिए अलंकारों का प्रयोग किया ।

सूर की उपमाएं स्थान-स्थान पर शास्त्र एवं पुराण पर आधारित भी हैं । हरि के द्वारा मुख में माखन रोटी का वर्णन करते हुए कवि वाराह भगवान द्वारा पृथ्वी को उठा लेने की उपमा देता है । इसी प्रकार विविध रंग की मणियां जो श्री कृष्ण के गले में या मुकुट में शोभा दे रही हैं उनके लिए बृहस्पति, शुक्राचार्य, मंगल, शनि, आदि नक्षत्रों की उपमा कवि ने प्रस्तुत की है ।

उत्प्रेक्षा—

सूर उत्प्रेक्षा और रूपक के सम्राट कहे जाते हैं । क्योंकि रूप वर्णन और वस्तु वर्णन कर जहाँ भी प्रसंग आता है सूर उत्प्रेक्षा का सहारा लेते रहे हैं । नई-नई उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत करने में, उत्प्रेक्षाओं के त्वरित विधान में तथा एक ही उत्प्रेक्षा को नवीनता के साथ प्रस्तुत करने में सूरदास सिद्धहस्त हैं । ये उत्प्रेक्षाएँ कल्पना शक्ति सापेक्ष हैं, और जिस कवि में यह शक्ति जितनी अधिक होती है

---

1. सूरसागर , पृ० ११८३,पद ३३०५

वह उतनी ही सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ किया करता है। परम्परागत प्रयोग से, प्रकृति से, निजी कल्पना शक्ति से, पौराणिक ज्ञान से दूर सूर ने ये उत्प्रेक्षाएँ प्राप्त की और अपने वर्ण्य-विषय के लिए उनका व्यवहार किया है।

सूर की भाँति नन्ददास ने भी सुन्दर उत्प्रेक्षाओं का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए रुक्मिणी मंगल का एक पद —

भरि आए जल नैन, प्रेम रस ऐन सुहाये।
जनु सुन्दर अरबिंद अलिंदन बैठ छलाये ।।[1]

यहाँ कवि ने अरबिंद अलिंदन के माध्यम से उत्प्रेक्षा को प्रस्तुत किया है।

सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ प्रेम मगन तन की सुधि भूली ।।
बाहिर ते तब नंद बुलाए देखौ धौं सुंदर - सुखदाई।
तनक तनक सी दूध-दँतुलिया, देखौ, नैन सफल करौ आई ।।
आनंद सहित महर तब आए, मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यौ, मनौ कमल पर बिज्जु जमाई ।।[2]

सूर ने यहाँ श्री कृष्ण के दूध के दाँतों की सुन्दरता का वर्णन किया है तथा उनको किलकते हुए देखकर कमल पर बिज्जु की कल्पना की है।

मुख आँसु अरु माखन-कनुका, निरखि नैन छबि देत।
मानो स्रवत सुधानिधि मोती, उडुगन अवलि समेत ।।

श्रीकृष्ण के मुख पर माखन इस प्रकार सुशोभित हो रहा है मानों चन्द्रमा मोती और तारे चुरा रहा हो।

---

1. नन्ददास ग्रन्थावली, रुक्मणीमंगल, ५
2. सूरसागर, पद सं० ७००

'देखत आँसु गिरत नैन तैं यौं सोभित ढरि जात ।
मुक्ता मानो चुगत खग खंजन, चोंच पुरीन समात ।'

नेत्रों से आँसू ढरते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों खंजन मोती चुग रहा हो, किन्तु मोती उसकी चोंच में न समा पा रहे हों । यहाँ कवि ने एक सुन्दर उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है ।

सांग रूपक--

रूपकों के प्रयोग में भी सूर का वैशिष्ट स्वीकार किया गया है । सुन्दर रूपकों को बाँधने की सामर्थ्य भी कुछ ही कवियों को प्राप्त हुई है । यह अवश्य है कि रूपक भाव को आच्छादित कर लेते हैं, परन्तु काव्य को गौरव भी वही प्रदान करते हैं । हिन्दी काव्य के प्राय: सभी कवियों ने सांगरूपक को बाँधा है पर तुलसी और सूर को इस दिशा में जो विशिष्टता प्राप्त हुई है वह मध्य युग के किसी अन्य कवि को नहीं । सूर ने प्राय: लोकजीवन से सम्बन्धित रूपकों को लिया है । इससे सूर के काव्य को विशेष गरिमा प्राप्त हुई है ।

रे मन राम सौं करि हेत
हरि-भजन की बारि करि लै, उबरै तेरौ खेत ।
मन-सुवा, तन पींजरा, तिहिं माँझ राखै चेत ।।
काल फिरत बिलार-तनु धरि, अब धरितिहिं लेत ।
सकल विषय-विकार तजि, तू उतरि सायर सेत ।।
सूर भजि, गोविंद की गुन गुर बताए देत[1] ।

स्याम मुख बाम भरि संभुख आने
भले जु भले में भली भाँति रही, मूँदि लोचन अति पिराने
जोरि पेंठे भवन, कबहिं कीन्हौं गवन, नारि-मन-रमन तुम हो कान्हाई
'सूर' प्रभु हरषि भरि अंक प्यारी लई, मुकुर की कथा तब कहि सुनाई[2]--

---

1. सूरसागर, पद सं० ३११
2. सूरसागर, पद सं० २२०६

इस प्रकार सूर ने एक से एक सुन्दर रूपक बाँधे हैं जिनके कारण उनके काव्य में असाधारण गरिमा आ गई है। ये सभी रूपक अत्यन्त भावव्यंजक, रमणीय और काव्योत्कर्षकारक हैं।

सन्देह —

किसी वस्तु को देखकर जब संशय उत्पन्न हो, उसका सही ज्ञान ही न हो वहाँ सन्देह अलंकार होता है।

इसमें किसी वस्तु को देखकर उसी के समान अन्य वस्तुओं की प्रतीत होने लगती है।

नन्ददास ग्रन्थावली से इसका एक उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत है —

(१) कनु घन तें बिछुरी बिछुरी मानिनि- तनु काहें।
किधौं चन्द सों रुसि चंद्रिका रहि गइ पाहें।।[१]

(२) कैधौं नव जलद स्वाति, चातक मन लाए।
किधौं बारि-बूँद सीप हृदय हरष पाए।।
रवि-छबि कैधौं निहारि, पंकज बिकसाने।
किधौं चक्रवाकि निरखि, पतिहीं रति माने।।
कैधौं मृग-जूथ जुरे, मुरली- धुनि रीझे।
सूर स्याम-मुख-मंडल-छबि, के रस भीजे।।[२]

विदर्शना अलंकार—

काव्यगत भाव की उत्पत्ति किस प्रकार तीव्रतर हो, कवि का यही लक्ष्य होता है, और इसके लिए कवि अलंकारों का प्रयोग करता है परन्तु यह अलंकार अगर भाव को भाषित करने में सहायक नहीं हो पाते तो विद्रूप रूप

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, ३३
२. सूरसागर, पद सं० १२६०

धारण कर लेते हैं । सूर ने अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त उचित रूप से किया है। और अलंकारों के साथ-साथ इन्होंने निदर्शना अलंकार का भी प्रयोग किया है । जैसे—

जबहिँ स्याम तन, अति विस्तारयो ।
पटपटात टूटत अँग जान्यो, सरन सरन सु पुकारयो ।।
यह बानी सुनतहिँ करुनामय, तुरत गए सकुचाइ ।
यहै बचन सुनि द्रुपद-सुता- मुख, दीन्हों बसन बढ़ाइ ।।
यहै बचन गजराज सुनायो, गरुड़ छाँड़ि तहँ धाए ।
यहै बचन सुनि लाखा -गृह मैं पांडव जरत बचाए ।।
यह बानी सहि जात न प्रभु सौं, ऐसे परम कृपाल ।
सूरदास प्रभु अंग सकोरयौ, व्याकुल देख्यौ व्याल ।।[1]

प्रतीप अलंकार—

प्रतीप अलंकार के माध्यम से श्री कृष्ण के अंग सौन्दर्य की कैसी उत्कृष्ट व्यंजना हुई है ।

उपमा हरि तनु देखि लजानी
कोउ जल मैं, कोउ बननि रहीं दुरि, कोउ कोउ गगन समानी
मुख निरखत ससि गयौ अम्बर कौ, तड़ित दसन छबि हेरि
मीन कमल कर चरन, नयन उर, जल उर मैं कियौ बसेरि
भुजा देखि अहिराज लजाने, बिवरनि पैठे धाइ
कटि निरखत केहरि डर मान्यौ, बन बन रहे दुराइ

सूर ने रूप-चित्रण में सादृश्य विधान का प्रधान लक्ष्य, चित्रित रूप के सौन्दर्य को उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत करना चाहा है । तथा इसको व्यंजित करने के लिए एक से एक कल्पनाएँ सामने लाए हैं । जिससे वस्तु के प्रति प्रेम की टीस जागृत होती है ।

---

1. सूरसागर, पद सं० ११७५

दृष्टान्त अलंकार—

दृष्टान्त अलंकार में, वाक्य में उपमेय और उपमान के बिना वाचक शब्द की समता दिखायी जाती है ।

बे लोभी ते देहिं कहा री
ऐसे निठुर नहीं मैं जाने, जैसे नैन महारी ।।
मन अपनो कबहूँ बरु है, ये नाहिं होहिं हमारे ।
जब तैं गए नंद नंदन-ढिग, तब तैं फिरि न निहारे ।।
कोटि करो वे हमहिं न मानै गीथे रूप अगाध ।
सूर स्याम जो कबहूँ त्रासे, रहे हमारी साध ।।[1]

प्रेम एक इक चित सौं, एकहिं संग समाय ।
गंधी को सौंधौ नहीं, जन जन हाथ बिकाय ।।[2]

इस प्रकार इस अध्याय में हमने भक्तिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वर्गों का वर्णन किया है ।

---

१. सूरसागर, पद सं० २८८६

२ नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी - ३२५

निष्कर्ष --

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि इन सभी भक्तिकालीन कवियों ने अपने अति गहन और अति तीव्र मनोवेगों को सहज और सुग्राह्य बनाने के लिए प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सहारा लिया है । ~~अप्रस्तुतों को प्रस्तुत बनाकर देखा ही तो अलंकार है~~ ।

संत कवियों की रचनाओं में अलंकार अत्यन्त स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, इनमें दुरुहता कहीं भी नहीं आने पाई है, तथा यह उनके भावों को भी अभिव्यक्त करने में सर्वत्र सहायक दिखायी दिए हैं । सन्त परम्परा के कवियों ने काव्य के शास्त्रीय मूल्यों की ओर उतनी रुचि नहीं ली थी जितनी कि वह आध्यात्मिक तत्वों की ओर झुके हुए थे, परन्तु फिर भी वह इस ओर से विमुख नहीं दिखायी दिए हैं । हिन्दी साहित्य में सन्त कवियों के अलंकारों के विषय में कहा गया है --

जब संत कवियों में काव्योत्कर्ष ही नहीं था तो अलंकारों का साभिप्राय प्रयोग उनकी रचनाओं में आ ही नहीं सकता । किन्तु उन्होंने अलंकारों का प्रयोग अपने विचार निरूपण में अवश्य किया है । जिस विचार को वह जनता के सामने प्रकट करना चाहते थे अथवा किसी वस्तुस्थिति से उसका साम्य उपस्थित करते थे तो उनके इस प्रयोग में उपमा, रूपक, यमक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार सहज ही आ जाते थे किन्तु वे इन अलंकारों में काव्य-सौन्दर्य देखने की अपेक्षा अपने भावों का स्पष्टीकरण ही देखते हैं । अत: हम देखते हैं कि इन कवियों ने अपने अमूर्त विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए अप्रस्तुतों का सहारा स्थान-स्थान पर लिया है । उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त अलंकारों का प्रयोग तो उन्होंने सर्वत्र किया है ।

सूफी कवियों ने भी अपने काव्य में अप्रस्तुत विधान को प्रश्रय दिया है । इन अप्रस्तुतों के द्वारा ही उन्होंने लौकिक तत्त्व में अलौकिक के दर्शन किए हैं । इन कवियों ने अध्यात्म को दिशा दी, उनका उद्देश्य ही लौकिक में अलौकिक तत्त्व की छवि के दर्शन कराना था और इन भावों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों तत्वों का सहारा लिया है । मंझन और

जायसी इन दोनों सूफी कवियों ने मधुमालती और पदमावती को ब्रह्म का प्रतीक माना है इसलिए इनका सौन्दर्य अनिर्वचनीय है फिर भी उन्होंने व अप्रस्तुत के सहयोग से उसे धरती पर उतारने की सफल चेष्टा की है । इन कवियों का उद्देश्य न केवल शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण और न केवल आन्तरिक सौन्दर्य का चित्रण है वरन् ये सम्पूर्ण मानवीयता को विभिन्न कोणों से प्रस्तुत करते हैं और ऐसा करने के लिए इन्होंने अलंकारों का प्रचुर मात्रा में सहयोग लिया है ।

सगुण भक्तिधारा के कवियों ने अप्रस्तुतों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है । 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' की भाँति इन कवियों के अप्रस्तुत और उनके स्त्रोत भी अनन्त हैं । सूर की रचना शैली का लक्ष्य उनकी सीमित रसानुभूतियों को अधिकाधिक रमणीय रूप में प्रस्तुत करना था । उन्होंने अपने आराध्य के सौन्दर्य को उनकी अनेकानेक भंगिमाओं की श्रीवृद्धि हेतु अप्रस्तुतों के माध्यम से कोटि रूपों में अभिव्यक्त किया है । परम्परागत अलंकारविधान से परिचित होते हुए भी सूर-शास्त्रीय परिधि में बँधकर नहीं चले । सूर के सादृश्य विधान का मुख्य कार्य सौन्दर्य-बोध है । उनके उपमान, वर्ण्य का चित्र खींचने में बहुत समर्थ हैं । सूर की उपमाएँ सौन्दर्यबोध के साथ-साथ सौन्दर्य-सृष्टि में भी सहायक हैं । उत्प्रेक्षा और रूपक के तो सूर सम्राट कहे जाते हैं । नई-नई उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत करने में, उत्प्रेक्षा के त्वरित विधान में तथा एक ही उत्प्रेक्षा को नये-नये ढंग से प्रस्तुत करने में सूर सिद्धहस्त हैं । रूपवर्णन या वस्तुवर्णन के प्रयोग में तो सूर उत्प्रेक्षाओं के सहारे ही चले हैं । अप्रस्तुतों के प्रयोग में कवि पूर्णरूप से स्वतन्त्र रहता है । तुलसीदास ने भी इसका आश्रय लिया है । एक से एक सुन्दर अप्रस्तुतों के माध्यम से अपने आराध्य के रूप-वर्णन और वस्तु वर्णन की व्याख्या की है । कवि अपने वर्ण्य या प्रस्तुत के उत्कर्ष के लिए उसी के समान गुण धर्म वाले अप्रस्तुत को लाकर काव्य में स्थान देता है । इन अप्रस्तुतों की योजना के द्वारा काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि होती है । कवि अपने अप्रस्तुतों को कभी तो स्थूल जगत से लेता है और कभी काल्पनिक जगत से अपनी आवश्यकतानुसार ग्रहण करता रहता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी कवियों ने अप्रस्तुतों का प्रयोग सुन्दरतम् रूप में किया है ।

चतुर्थ अध्याय

(क)

काव्यरूप

काव्यरूप और उसके लक्षणों से सम्बद्ध परिपाटी

संस्कृत काव्यशास्त्र तथा रचना की प्रारम्भिक स्थिति के अनेक अवशेष भक्ति काव्य में दिखायी पड़ते हैं । यह सत्य है कि भक्तिकाव्य की मूल संवेदना लोकात्मक है, तथा जीवन की सामान्य सहजताओं से उसका अनिवार्य सम्बन्ध है फिर भी भक्तिकाव्य रचनात्मकता की दृष्टि से संस्कृत के काव्यगत सन्दर्भों से अनिवार्यत: जुड़ा हुआ है ऐसी स्थिति में लोकात्मक मूल चेतना के होते हुए भी यह सम्पूर्ण काव्य भारतीय काव्यशास्त्र से अपने को मुक्त नहीं कर सका है । इस युग के सूर और तुलसी जैसे महत्वपूर्ण कवि रचनात्मक धरातल पर अपने को शास्त्र से जोड़े हुए हैं । शास्त्र की दृष्टि से इनके काव्य का जब भी अध्ययन किया गया उसमें अनेक ऐसे तत्वों के दर्शन हुए जो भारतीय काव्यशास्त्र और काव्य-रचना के तत्वों को अनिवार्यतम उपकरण के रूप में जोड़े हुए हैं । इनका काव्य परम्परा का अनुगणन मात्र नहीं है । शास्त्रीय चेतना से ओत-प्रोत इन कवियों ने अपने अभिव्यक्ति कौशल के लिए इसका भरपूर उपयोग किया है । इस उपयोग से उनकी काव्य चेतना और उनकी कलात्मक प्रवृत्ति सुव्यवस्थित हुई है और यही शास्त्रीयता की पहचान है । शास्त्रीयता का अर्थ शास्त्र को रचना में उतारना मात्र नहीं है वरन् रचनात्मक अभिव्यक्ति की परिपूर्णता के लिए उसका समन्वयतया उपयोग है । इस दृष्टि से भक्तिकाल के प्रमुख कवि शास्त्रीय चेतना से जुड़े हुए दिखायी पड़ते हैं । भक्त कवियों में मात्र कबीर ही इसके अपवाद हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति नितान्त लोकात्मक रही है किन्तु दूसरी ओर भक्तिकाल के वे प्रमुख कवि जैसे - सूर, तुलसी, जायसी आदि ने कलात्मक भंगिमा से प्राय: अपनी कविता को आवेष्टित करने का प्रयत्न किया है । यहाँ काव्यरूप की विविध वर्णन गत रूढ़ियों, वर्णनों, कवि समयों आदि के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति का निरूपण किया जा रहा है ।

महाकाव्य

मध्यकालीन चेतना से प्रभावित प्राय: प्रत्येक कवि महाकाव्य लिखने

की अभिलाषा रखता है ।' साहित्य में सबसे ऊँचा स्थान काव्य का है और काव्य के भीतर महाकाव्य को शीर्षस्थ पद दिया गया है । यही कारण है कि प्रत्येक महत्वाकांक्षी कवि महाकाव्य लिखने की अभिलाषा करता है । महाकाव्य की इस महत्ता को देखते हुए यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि महाकाव्य की रचना करना कितना कठिन और काव्य-शक्ति सापेक्ष कार्य है ।'[1]

इस सम्बन्ध में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन मत अग्निपुराण का है परन्तु इसके समकालीन भामह का वर्णन अधिक प्रसिद्ध हुआ है । उनके द्वारा दी गई महाकाव्य की परिभाषा परवर्ती आचार्यों की भाँति संकीर्ण नहीं है । उनके अनुसार महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए, वह महान चरित्र से युक्त आकार में बड़ा हो, उसे अलंकार से युक्त और अर्थ सौष्ठव से सम्पन्न होना चाहिए तथा पंच सन्धियों से युक्त अनावश्यक तत्वों से रहित कथा प्रवाह से युक्त होना चाहिए ।'[2]

भामह के बाद दूसरे आचार्य दण्डी आते हैं जिन्होंने काव्यादर्श में महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण प्रस्तुत किए हैं— महाकाव्य सर्गों में निबद्ध एक रचना है जिसका प्रारम्भ आशीर्वचन, नमस्कार अथवा वस्तुनिर्देश द्वारा होता है । तत्पश्चात् नायक के गुणों को प्रस्तुत करते हुए उसके द्वारा शत्रुओं के विनाश अर्थात्

---

१. डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, प्राक्कथन

२. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत् ।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम् ॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥

भामह, काव्यालंकार, पृ० २४, व्याख्याकार, देवेन्द्रनाथ शर्मा

नायक का उत्कर्ष प्रतिपादित किया है।[1]

परवर्ती आचार्यों से अलग उन्होंने महाकाव्य में उद्देश्य के महत्व की जगह चमत्कार और रसानुभूति को ही प्रधानता दी है। दण्डी की परिभाषा ही आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई। आचार्य विश्वनाथ इत्यादि ने इन्हीं की परिभाषा को आधार मानकर साथ में कुछ और बातें जोड़कर नई परिभाषा प्रस्तुत की।

रुद्रट ने भी महाकाव्य के लक्षणों की ओर संकेत किया है - उत्पाद्य या अनुत्पाद्य कथा से युक्त कोई लम्बी पद्यबद्ध रचना होती है। महाकाव्य में विभिन्न प्रकरणों का नाम सर्ग रखा जाता है और सुरुचानुसार सन्धियों का भी प्रयोग होता है। उत्पाद्य महाकाव्य के प्रारम्भ में श्रेष्ठ नगरों का वर्णन और तत्पश्चात् नायक के वंश की परम्परा होती है।[2] उसका नायक द्विजकुलोत्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न होता है। नायक के अन्त में विजयी दिखाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रुद्रट ने महाकाव्य के व्यापक लक्षणों का वर्णन किया है पर रुद्रट की परिभाषा का इतना प्रचार नहीं हुआ जितना दण्डी और आचार्य विश्वनाथ कविराज की।

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।१४।।
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृति सुन्दरः ।।२१।।
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ।। १५।।
- दण्डी, काव्यादर्श, व्याख्याकार - आचार्य रामचन्द्र मिश्र

२. सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये ।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ।। २।।
तत्राभिधानि यस्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत ।
सर्गानपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्यसंबन्धात् ।। १६।।
तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये ।
कुर्वीततदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसां च ।। ७ ।।
- रुद्रट, काव्यालंकार, षोडशो ध्यायः व्याख्याकार- डा० सत्यदेव चौधरी

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के लक्षणों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों को अपने में समेट लिया है, परन्तु मुख्यत: दण्डी की परिभाषा को लिया है और उसी को विकसित और परिवर्द्धित रूप में प्रस्तुत किया है।

(१) महाकाव्य का नायक कोई देवता या क्षत्रिय होता है या एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी हो सकते हैं।

(२) विश्वनाथ के अनुसार शृङ्गार, वीर और शान्त इन तीनों में से एक रस होना आवश्यक है और अन्य रस सहायक रूप में होना चाहिए।

(३) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार फलों में से एक फल महाकाव्य का उद्देश्य रूप होना चाहिए।

(४) विश्वनाथ ने सर्गों की संख्या निर्धारित की है। उनके अनुसार कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए और सर्गों का नाम उनसे सम्बन्धित प्रसंगों के आधार पर ही रखा जाना चाहिए।

(५) सर्गों की लम्बाई के सम्बन्ध में इन्होंने कहा है कि वह न तो बहुत बड़े ही हों और न बहुत छोटे ही।

(६) प्रत्येक सर्ग में प्राय: एक ही छन्द का प्रयोग माना है और सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन भी।

कविराज विश्वनाथ के इन्हीं लक्षणों को आधार मानकर हम तुलसी के 'मानस' में महाकाव्यगत लक्षणों का वर्णन करेंगे।[१]

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर: ।।
   सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित: ।
   एकवंशभवा भूपा: कुलजा बहवोऽपि वा ।।
   शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
   अङ्गानि सर्वेऽपि रसा: सर्वे नाटकसन्धय: ।।

.... कृपया अगले पृष्ठ पर देखें

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा, वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामस्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि ।।
अपभ्रंश निबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि ।।
भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम् ।।

– साहित्यदर्पण, विश्वनाथ कविराज, पृ० ५५६, षष्ठ परिच्छेद

काव्य लक्षण एवं भक्तिकाव्य

भक्तिकालीन सभी कवियों ने अपने काव्य में काव्यगत सभी रूपों को अभिव्यक्त किया है और इन्हीं काव्य-रूपों पर, काव्य की कथा अधिष्ठित रहती है। काव्य-रूपों के प्रयोग की मुख्य दृष्टि रचनात्मक होती है। इसके अतिरिक्त जो विविध दृष्टियाँ होती हैं जैसे - लोकभावना, नैकट्य स्थापित करना इत्यादि ये भी आगे चलकर रचनाशीलता में ही निमग्न हो जाती है। उनकी दृष्टियां कथा के निर्माण, चरित्र तथा भाव चित्रण में सर्वत्र निहित रहती हैं। रामचरितमानस और सूरसागर इसके प्रमुख उदाहरण हैं। काव्यरूपों का प्रयोग इनमें अत्यन्त प्रचुर मात्रा में किया गया है। तुलसी ने विविध काव्यरूपों की रचना की है और उनके काव्यरूप विधान में रीतिमयता का स्पष्ट आभास मिलता है।

भक्तिकालीन कवियों के काव्यरूप तो मूलत: रीतियों और रूढ़ियों के सहयोग से निर्मित हुए हैं, ऐसे कवियों में तुलसीदास का स्थान सर्वप्रथम है। तुलसी साहित्य के काव्यरूपों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है।

(१) शास्त्रीय काव्यरूप

(२) स्वतन्त्र काव्यरूप

शास्त्रीय काव्यरूप के अन्तर्गत प्रबन्धकाव्यरूप तथा मुक्तक काव्य के शास्त्रीय लक्षणों का आधार लेकर लिखे गए ग्रन्थ आते हैं। प्रबन्ध काव्य के भी दो अनुभाग हो जाते हैं -- (१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य।

स्वतन्त्र विकसित काव्यरूपों के अन्तर्गत हम उन काव्यरूपों को लेंगे जो शास्त्रीय नियमों और बन्धनों से मुक्त हैं, किन्तु स्वतन्त्र रीति से विकसित होकर एक काव्य-परम्परा का निर्माण करते हैं-- जैसे, गीतिकाव्य, मंगलकाव्य, स्तोत्रकाव्य, चरितकाव्य इत्यादि।

प्रस्तुत अध्याय में हम भक्तिकालीन कवियों में से तुलसीदास की रचनाओं में काव्यरूपों का वर्णन कर रहे हैं।

सर्वप्रथम हम तुलसीदास के काव्य में प्रयुक्त महाकाव्यगत लक्षणों

की व्याख्या कर रहे हैं--

१- <u>मंगलाचरण</u>--

यह एक पुरानी प्रथा है, विश्वनाथ ने भी इसका वर्णन किया है। मंगलाचरण की प्रवृत्ति ग्रन्थकार ग्रन्थ के निर्विघ्न समाप्ति के लिए करता है। मानस की रचना में तुलसीदास ने भी इस प्रथा को पूर्ण रुचि के साथ सम्पन्न किया है। आरम्भ में इन्होंने वाणी विनायक, भवानी शंकर, सीता, राम इत्यादि की वन्दना संस्कृत श्लोकों में की है --

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।।१

तत्पश्चात् विष्णु, गुरु, संत इत्यादि की वन्दना हिन्दी में की है। बालकाण्ड के प्रारम्भ से ही वह सबकी श्रद्धापूर्वक वन्दना करते देखे गए हैं -

(क) भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
यांभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ।।२

(ख) वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रो पि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ।। ३

इसी प्रकार सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में भी --

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ।। ४

संस्कृत के पश्चात् इन्होंने हिन्दी में भी गुरु, संत, साधु, सज्जन सबकी वन्दना की है। सर्वप्रथम इन्होंने गणेश जी की वन्दना की है --

---

१,२,३ मानस, बालकाण्ड, श्लोक १,२,३, पृ० १
४ मानस, सुन्दरकाण्ड, श्लोक १, पृ० ६३

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिबर बदन ।
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुन सदन ।।[1]

हर काण्ड के प्रारम्भ में तुलसीदास ने संस्कृत में वन्दना की है तत्पश्चात् हिन्दी में । बालकाण्ड में वन्दना का क्रम काफी देर तक अनेक दोहों में सम्पन्न हुआ है । रघुनाथ और जानकी की वन्दना कवि ने अनेकानेक बार की है । ग्रन्थ की समाप्ति भी उन्होंने राम नाम की वन्दना करते हुए ही की है।

२- सर्ग बन्धन--

इस लक्षण का प्रयोग प्राय: सभी आचार्यों ने किया है । आचार्य विश्वनाथ ने तो सर्गों की संख्या भी निर्धारित कर दी है । महाकाव्य मानस के काण्ड ही उसके सर्ग हैं । सम्पूर्ण मानस सात काण्डों में विभाजित है । सर्ग बन्धन महाकाव्य के लिए इतना अनिवार्य हो गया कि ये शब्द महाकाव्य का पर्याय ही समझा जाता है । दण्डी ने तो इस शब्द का प्रयोग ही महाकाव्य के अर्थ में किया है । मानस के सभी काण्डों का नाम भी कथानुसार ही है और सभी काण्डों में नायक का निर्देश भी है ।

३- नायक-वंश-प्रशंसा--

महाकाव्य के वर्णन में वंश-प्रशंसा का वर्णन भी प्रचलित है लेकिन तुलसी ने वंशपरम्परा की परिपाटी को नहीं दुहराया है । उन्होंने नमस्कार के प्रकरण में राम के माता-पिता, भाई,पत्नी आदि की वन्दना की है -

(क) प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना । जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ।
राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।।[2]

(ख) रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ।
महावीर बिनवउँ हनुमाना । राम जासु जस आप बखाना ।।[3]

---

१. मानस, बालकाण्ड, सोरठा १, पृ० २
२. मानस, बालकाण्ड, सोरठा १७, पृ० २७
३. ,, ,, , चौपाई ५ , पृ० २७

४- इतिहास-पुराण प्रसिद्ध कथानक—

महाकाव्य की कथा इतिहास अथवा पुराणप्रसिद्ध होनी चाहिए जैसा लक्षणकारों का नियम है। मानस की कथा तो इतिहास पर आधारित है ही क्योंकि वाल्मीकि रामायण में इस कथा का वर्णन हो चुका है और इस राम-कथा को परम्परा से कई संस्कृत, हिन्दी के प्राचीन काव्यों में ग्रहण भी किया जा चुका है।

५- धीरोदात्त नायक—

मानस के नायक श्रीराम भी क्षत्रियकुलोत्पन्न और धीरोदात्त हैं। गोस्वामी जी ने इस लक्षण का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है।

६- चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति—

इस लक्षण का भी प्रायः सभी आचार्यों ने वर्णन किया है। चतुर्वर्ग में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में से किसी एक का होना महाकाव्य में अभीष्ट माना जाता है। मानस में तुलसीदास ने धर्म अथवा लोकधर्म का प्रतिपादन किया है।

७- नाट्य सन्धियाँ—

यह मुख्यतः नाटक के तत्व हैं परन्तु महाकाव्य में भी कुछ प्रमुख तत्वों को ग्रहण किया गया है। इन सन्धियों की संख्या पाँच मानी गयी है। इन पाँचों सन्धियों का निर्वाह मानस में भी हुआ है। मुख सन्धि का वर्णन मानस के बालकाण्ड में वहाँ पर हुआ है जहाँ राक्षसों के अत्याचार से दुखी होकर पृथ्वी और देवगण ब्रह्मा जी के पास जाते हैं और भगवान आकाशवाणी द्वारा उन्हें सांत्वना देते हैं।

जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह।
गगनगिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह ॥[1]

---

१. मानस, बालकाण्ड, दो० १८६, पृ० १६६

प्रतिमुख सन्धि का वर्णन रावण द्वारा सीता हरण के समय होता है । गर्भसन्धि का वर्णन राम-सुग्रीव मित्रता के समय होता है और विमर्शसन्धि सेतु-निर्माण, युद्धाभियान में होती है । अन्त में निर्वहण सन्धि का प्रयोग रावण-वध से, अयोध्या में रामराज्य स्थापना तक में हुआ है ।

८- अंगीरस का वर्णन--

मानस का अंगीरस शान्तरस अथवा भक्तिरस है । यद्यपि इसमें वात्सल्य, करुण, रौद्र, अद्भुत सभी रसों का वर्णन हुआ है किन्तु मानस का अंगीरस तो भक्तिरस ही है ।

६- वस्तु निर्देश--

साहित्यदर्पणकार के अनुसार महाकाव्य में वस्तु निर्देश भी होना चाहिए -- 'आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा'[१]

वस्तु निर्देश का अर्थ है काव्य के आरम्भ में काव्य का सम्पूर्ण परिचय संक्षेप में वर्णित करना है । मानस में भी इस वस्तुनिर्देश को दो स्थलों पर वर्णित किया गया है--

उमा महेस बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहुभाँती ।
रघुबर जनम अनंद बधाई । भवँर तरंग मनोहरताई ।।[२]

दूसरा प्रसंग उत्तरकाण्ड में वहाँ पर आता है जहाँ कागभुशुण्डि और गरुण के मध्य हुयी वार्ता के माध्यम से मानस की समस्त घटना की चर्चा की गयी है -

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं ।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ।।[३]

---

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ५५०
२. मानस, बालकाण्ड, चौ० ४, पृ० ५४
३. मानस, उत्तरकाण्ड, दो० २१, पृ० १०५६

१०- अलंकार एवं रस—

आचार्यों के अनुसार यह भी लक्षण रूप में ग्रहण किया गया है। मानस में प्रमुख रूप से सभी अलंकार देखने को मिलते हैं। अर्थालंकार और शब्दालंकार इन दोनों का वर्णन गोस्वामी जी ने प्रचुरता से किया है। मानस में यद्यपि सभी रसों का चित्रण प्रसंगानुकूल किया गया है तथापि शान्तरस की इसमें प्रधानता देखी गयी है।

अभी तक हमने महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षणों का वर्णन किया है लेकिन कुछ परम्परागत लक्षण भी हैं जो परम्परा में प्रचलित होने के कारण लक्षण रूप में ग्रहण किए गए हैं।

११- आत्म लघुता—

ग्रन्थकार ग्रन्थ के आरम्भ में आत्मलघुता का प्रदर्शन करता है अर्थात् अपने को अत्यन्त लघु दिखाते हुए वह एक महान कार्य प्रारम्भ करता है। आत्म लघुता द्वारा अपनी क्षुद्रता, अल्पता और तुच्छता को प्रदर्शित करता है। गोस्वामी जी ने भी इस परिपाटी को निभाया है।

आत्मलघुता—

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ।
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा।।[1]

कवि की तुच्छता—

बरनौं तुलसीदास किमि अति मतिमंद गवाँर।[2]

क्षुद्रता —

जो अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ।।
ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने।।[3]

---

1. मानस, बालकाण्ड, चौ० ५, पृ० २०
2. मानस, बालकाण्ड, दो० १०२, पृ० ११७
3. मानस, बालकाण्ड, चौ० २-३, पृ० २३

१२- पूर्व कवियों का स्मरण--

ग्रन्थकार ग्रन्थ के आरम्भ में अपने पूर्व कवियों का कृतज्ञता एवं श्रद्धापूर्वक स्मरण करता है । मानसकार ने इस लक्षण को भी समादर के साथ ग्रहण किया है -

चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे । पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे ।।
कलि के कबिन्ह करउँ परनामा । जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा ।।[1]
जे प्राकृत कबि परम सयाने । भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने ।।
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगें । प्नवउँ सबहि कपट सब त्यागें ।।[2]

१३- ग्रन्थ की रचना और महत्व--

तुलसीदास ने इस परिपाटी को भी सार्थक किया है ग्रन्थ की रचना के विषय में वह कहते हैं ।

संबत सोरह से एकतीसा । करउँ कथा हरिपद धरि सीसा ।[3]

ग्रन्थ के नाम के विषय में वह कहते हैं--

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ।।
तातें रामचरितमानस बर । धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ।।[4]

तुलसीदास इस ग्रन्थ की अपनी मति के अनुरूप व्याख्या करते हैं --

करइ मनोहर मति अनुहारी । सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ।[5]

१४- सज्जन प्रशंसा और खल निन्दा--

साहित्यकार ने इसे लक्षण रूप में ग्रहण किया है हाँलाकि प्रारम्भ में यह परम्परा रूप ही जीवित था । तुलसीदास ने इस परम्परा को भी कुशलता द्वारा सम्पन्न किया है ।

१,२. मानस, बालकाण्ड, चौ० २-३, पृ० २३
३. मानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० ४३
४-५. मानस, बालकाण्ड, चौ० ६, पृ० ४८

सज्जन प्रशंसा —

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग ।।[1]

खल निन्दा —

जे जनमे कलिकाल कराला । करतब बायस बेष मराला ।।
चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े । कपट कलेवर कलि मल भाँड़े ।।[2]

ये क्रम सम्पूर्ण मानस में देखने को मिलता है ।

१५- ग्रन्थ के नाम का महत्व —

महाकाव्य के नाम का महत्व भी अपने आप में महत्वपूर्ण है । श्री रामचरित मानस में मानस शब्द ही सबसे महत्वपूर्ण है । इस ग्रन्थ को दो अर्थों में ग्रहण किया गया है ।

(१) सरोवर (२) मन

ये दोनों ही इस ग्रन्थ के नाम के आधार हैं ।

रामचरित मानस एहि नामा । सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा ।।
मन करि विषय अनल बन जरई । होइ सुखी जौं एहिं सर परई ।।[3]

इसका नाम रामचरितमानस इसलिए भी रखा गया कि महादेव जी ने इसे रचकर अपने मन में रखा और सुअवसर प्राप्त होते ही पार्वती जी को सुनाया ।

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ।।
तातें रामचरितमानस बर । धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ।।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस में महाकाव्यगत सभी लक्षण पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होते हैं ।

खण्ड काव्य —

लक्षण ग्रन्थकारों ने खण्ड काव्य की चर्चा बहुत कम की है ।

१-२. मानस, बालकाण्ड, दो० ११- चौ० १, पृ० १६
३-४. मानस, बालकाण्ड, चौ० ५-६, पृ० ५८

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने खण्डकाव्य के लक्षण को सूक्ष्म रूप में एक ही पंक्ति में पूर्ण कर दिया है—

'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च'[१]

अर्थात् काव्य अथवा महाकाव्य के कतिपय लक्षणों से युक्त जो पद्य प्रबन्ध है उसे खण्ड काव्य कहा करते हैं । खण्डकाव्य को महाकाव्य का एक संकुचित रूप भी कहा जा सकता है । लक्षणकारों ने महाकाव्य को जितना लक्षणों में बांध दिया है, खण्डकाव्य को उतना ही उन्मुक्त रखा है । आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा के अनुसार एक देश या एकांश का अनुसरण करने वाला काव्य ही खण्डकाव्य है । संस्कृत कवि बाल्मीकि द्वारा रचा गया काव्य मेघदूत भी खण्डकाव्य की ही कोटि में आता है ।

तुलसीदास द्वारा रचित खण्ड काव्यों की व्याख्या—

भक्तिकालीन खण्डकाव्यों में मुख्यरूप से रुक्मिणी मंगल, पार्वती-मंगल, जानकीमंगल और रूपमंजरी हैं । इनमें से तुलसीदास द्वारा रची पार्वतीमंगल, जानकीमंगल इन दोनों रचनाओं की हम यहां व्याख्या करेंगे । इन दोनों रचनाओं में राम अनुपस्थित नहीं है पर केन्द्र उन्होंने सीता को ही बनाया है । ये दोनों काव्य विवाह और स्वयंम्वर पर ही आधारित है । इसीलिए इसका नाम भी उन्होंने श्री राम के आधार पर न रख कर सीता के ही आधार पर रखा है जानकी-मंगल ।

(१) मंगलाचरण—

इन दोनों खण्डकाव्यों में कवि पहले मंगलाचरण की परिपाटी को परिपूर्ण करता है ।

श्री जानकीमंगल —

गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति ।
सारद सेष सुकवि श्रुति संत सरल मति ।।

---

१. साहित्यदर्पण, षष्ठः परिच्छेदः, पृ० ५५५

हाथ जोरि करि बिनय सबहि सिर नावौं ।[1]
सिय रघुबीर बिबाहु कथा मति गावौं ।।

पार्वतीमंगल --

बिनइ गुरहि गुनिगनहि गिरिहि गननाथहि ।
हृदयँ आनि सिय राम धरे धनु माथहि ।।
गावउँ गौरि गिरीस बिबाह सुहावन ।[2]
पाप नसावन पावन मुनि मन भावन ।।

गोस्वामी जी प्रारम्भ में गुरु की गणेश, शिव, पार्वती, जानकी, श्रीराम, विष्णु, वेद इत्यादि की वन्दना करते हुए काव्य का प्रारम्भ करते हैं ।

(२) कथा की ऐतिहासिकता--

ये दोनों कथाएं ऐतिहासिक हैं । मानस में इन कथाओं का वर्णन किया गया है । जानकी मंगल में सीता स्वयंम्बर, तत्पश्चात् विवाह का वर्णन आया है -

सुभ दिन रच्यौ स्वयम्बर मंगलदायक ।[3]

बेद बिहित कुलरीति कीन्हि दुहुँ कुलगुरु ।[4]
पठ जोहि बरात जनक प्रमुदित मन ।।

पार्वती मंगल में जानकी मंगल की ही तरह शिव पार्वती के विवाह का वर्णन हुआ है -

अरघ देइ मनि आसन बर बैठायउ
पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अचवायउ ।[5]

---

१. जानकी मंगल - पृ० ५ १,२
२. पार्वती मंगल - पृ० ५ १,२
३. जानकी मंगल - पृ० ५ ३
४. जानकी मंगल - पृ० ३७ १२७
५. पार्वती मंगल - पृ० २८ १२१

मानस से पार्वती मंगल की कथा में सिर्फ इतना अन्तर है कि मानस में ऋषिगण पार्वती जी की परीक्षा लेने जाते हैं और पार्वती मंगल में स्वयं शिव जी ब्रह्मचारी का रूप धारण करके जाते हैं ।

(३) रचना की वस्तुनिर्देशिता—

इन रचनाओं का वस्तुनिर्देश इनके नाम से ही प्रत्यक्ष हो जाता है ।

(४) काल निर्देश —

पार्वती-मंगल में रचनाकार ने अपनी कृति का काल-निर्देश किया है -

> जय संवत फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु ।
> अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु ।।[१]

(५) एकदेशीयता—

खण्डकाव्यों की सम्पूर्ण कथा एकांश रूप में रहती है । खण्डकाव्य सर्गों में विभाजित नहीं रहता इसमें एक ही कथा को लेकर उसका विस्तार किया जाता है और अन्तिम फल के रूप में इसमें भक्ति को ही प्रमुखता मिलती है ।

(६) धीरोदात्त या उच्चकुलीन नायक—

इसका नायक उच्चकुलीन वंशज आलौकिक व्यक्तित्व से परिपूर्ण मनुष्य या देवता होता है । पार्वती मंगल के नायक शिव और जानकी मंगल के नायक श्री राम हैं ।

(७) रस की प्रधानता—

प्रधानतः दोनों काव्यों में शृंगार रस का वर्णन हुआ है । अन्य रसों का भी आवश्यकतानुसार वर्णन हुआ है । पार्वती मंगल में प्रधानता शृंगार के विशेष पक्ष का वर्णन हुआ है । "प्रधानतः इसमें शृंगाररस का वर्णन है और

१. पार्वती मंगल, पृष्ठ ५-६

उसमें भी वियोग का । क्योंकि पार्वती की शिव-प्राप्त्यर्थ तपस्या तक की अनुरक्ति वियोग-शृङ्गार की परिधि में ही आती है । हास्य और भयानक रसों का चित्रण हमें क्रमश: बरातियों की वेश-भूषा एवं भयानकता में दृष्टिगोचर होती है ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य के सारे लक्षण सूक्ष्म रूप में हमें खण्डकाव्य में देखने को मिल जाते हैं, पर खण्डकाव्य में सर्ग बहुलता और प्रतिनायक का होना आवश्यक नहीं माना जाता है । इसमें सभी सन्धियों का भी प्रयोग नहीं होता है । खण्डकाव्य में चतुर्वर्ग फल में से किसी एक की प्राप्ति उद्देश्य रूप में होती है और एक रस समग्र रूप में व्याप्त होता है । खण्डकाव्य में सिर्फ एक कथा होती है ।

एकार्थ काव्य --

आचार्य विश्वनाथ एकार्थ काव्य के बारे में लिखते हैं --

'भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्
एकार्थप्रवणै: पद्यै: संधिसामग्र्यवर्जितम् ।'[2]

तुलसी की रचनाओं में 'बरवै रामायण' और रामाज्ञा प्रश्न इन दोनों को एकार्थ काव्य की कोटि में रखा जा सकता है । ये एक प्रबन्धात्मक कृतियां हैं । इसमें सम्पूर्ण रामकथा को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में रखा गया है । यह एकार्थ काव्य सात खण्डों में समाप्त हुआ है । बरवै रामायण में सिर्फ ६६ बरवै हैं । बरवै रामायण का प्रारम्भ बालकाण्ड के इस दोहे के साथ होता है --

बड़े नयन कुटि भृकुटी भाल बिसाल ।
तुलसी मोहत मनहि मनोहर बाल ।।[3]

इसमें मानस की तरह बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड है । इसके आखिरी उत्तरकाण्ड में भक्ति

---

१. विमलकुमार जैन, तुलसीदास और उनका साहित्य, पृ० १५५
२. साहित्यदर्पण, पृ० ५५४
३. बरवै रामायण, पृ० १- १

और विनय सम्बन्धी बरवै मिलते हैं। इस काव्य की समाप्ति भी श्री राम की प्रार्थना और स्मरण करते हुए सम्पन्न हुई है -

जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु ह[1]
तहँ तहँ राम निबाहिब नाथ सनेहु ।।

रामाज्ञा प्रश्न में भी सात सर्ग हैं और मानस की कथा ही इसमें वर्णित है किन्तु सर्गों का क्रम भिन्न है। इसका प्रारम्भ भी वह सबकी वन्दना करते हुए करते हैं।

गीतिकाव्य --

गीतिकाव्य की मुख्यत: गेयता होती है। यह गेयता अनिवार्य भी होती है। गीतिकाव्य का अर्थ होता है जिसमें दोहों को रागरागनियों के साथ गाया जा सकता हो। गीतिकाव्य में कृष्णगीतावली, गीतावली और विनयपत्रिका का उल्लेख आता है।

'गेय काव्य गीति होता है इसे ही गीति कहते हैं। व्यक्ति की निजी सुख-दुखात्मक अनुभूति के उस प्रकाशन का नाम गीति है जिसमें स्वर ताल और लय मिला हो। काव्य गुणोपेत गीति काव्य कहलाती है। रसात्मक, अलंकारपूर्ण, सगुणा एवं निर्दोष शब्दार्थ को काव्य कहते हैं, परन्तु गीति काव्य में स्वर के साथ ताल और लय का होना अनिवार्य है। इससे गीतात्मक काव्य और काव्य में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।'[2]

गीतावली की गीतात्मकता और काव्यत्व का सुन्दरतम रूप इस पद से दृष्टिगोचर होता है।

खेलन चलिये आनँदकंद।
सखा प्रिय नृप द्वार ठाढ़े विपुल बालक बृन्द ।।

---

१. बरवै रामायण, पृ० ६९-६६

२. डा० विमल कुमार जैन, तुलसीदास और उनका साहित्य, पृ० १६०

तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक-दास ।।
बपुष-बारिद बरषि छबि-जल हरहु लोचन-प्यास ।।[1]

इसी प्रकार विनयपत्रिका के पदों में गीतात्मकता देखने को मिलती है—

सुमिरु सनेहसों तू नाम रामराय को ।
संबल निसंबल को, सखा असहाय को ।।[2]
< > <
भाग है अभागे हूं को, गुन गुनहीन को ।
गाहक गरीब को, दयाल दानि दीनको ।।[3]

मुक्तक काव्य—

मुक्तकों की रचना भी काफी प्राचीन मानी गयी है । 'मुक्तकों की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास से आरम्भ हुई, उत्तरोत्तर प्रबन्धों की प्रतिद्वंद्विता में आगे बढ़ती गयी ।'[4]

मुक्तक, काव्यरूप की मुक्त विधा का नाम है । इसमें प्रबन्ध काव्य जैसा कोई बन्धन नहीं होता । प्रत्येक मुक्तक अपने आप में परिपूर्ण होता है । मुक्त शब्द में कन् प्रत्यय के योग से उसी अर्थ में मुक्तक शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है कि अपने आप में सम्पूर्ण अन्य निरपेक्ष मुक्त वस्तु । काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी ने मुक्तक का उल्लेख इस प्रकार किया है ।

मुक्तकं कुलकं कोष: संघात इति तादृश:[5]

हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध और मुक्तक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'यदि प्रबन्धकाव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ

---

१. गीतावली, पद ४०, पृ० ८३
२,३ विनयपत्रिका, पद १, २, पृ० १२५
४. जितेन्द्रनाथ पाठक, हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, भूमिका
५. दण्डी, काव्यादर्श, १३, पृ० १५

गुलदस्ता। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटितपूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।[1]

इस प्रकार ये स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तक अपने आप में सम्पूर्ण होता है। ये अपना अर्थ प्रदर्शित करने की स्वत: सामर्थ्य रखता है। इसका सम्बन्ध इसके आगे पीछे के पदों से अनिवार्य नहीं होता है।

ये मुक्तक कई प्रकार के होते हैं जैसे विशुद्ध मुक्तक, संघात मुक्तक, प्रबन्ध मुक्तक।

विशुद्ध मुक्तक —

ये वह होते हैं जिसमें एक बात एक ही छन्द में पूर्ण हो जाती है। इसे छन्दमूलक मुक्तक भी कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत तुलसीदास की दोहावली को रखा जा सकता है।

संघात मुक्तक —

संघात मुक्तक वे मुक्तक होते हैं जिसमें एक ही व्यक्ति एक ही विषय को अनेक पदों में लिखता है।

प्रबन्ध मुक्तक —

वह लघुकाव्य जिसे किसी कथा के, किसी एक प्रसंग को आधार बना कर लिखा जाता है वह प्रबन्ध मुक्तक कहलाता है।

तुलसी के मुक्तक काव्य —

निम्नलिखित काव्य तुलसी के मुक्तक काव्य है। कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा प्रश्न और दोहावली।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६

हम इन मुक्तकों को दो श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं --

(१) प्रबन्ध मुक्तक - इसमें बरवैरामायण, कवितावली, गीतावली, कृष्ण-गीतावली ।

(२) विशुद्ध मुक्तक - रामाज्ञा प्रश्न, वैराग्य संदीपनी, दोहावली और विनयपत्रिका ।

मुक्तक रचनाओं में निम्नलिखित लक्षण देखे जाते हैं --

(१) नाम मुद्रा--

कवि अपने मुक्तकों में अपना नाम अवश्य डालते थे । ये नाम पद या छन्द की आखिरी पंक्ति में होता है । डा० शम्भूनाथ के अनुसार -- कवि अपनी कविता को चोरी से बचाने के लिए कोई विशेष शब्द, मुद्रा के रूप में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम छन्द में रखता था या अपना नाम ही उसमें जोड़ देता था । इस तरह काव्यों में सर्गान्त में अंक और नाममुद्रा देने की प्रथा थी ।[1]

तुलसी जौ लौं विषय की मुधा माधुरी मीठि ।
तौ लौं सुधा सहस्त्र सम राम भगति सुठि सीठि ।।[2]

(२) उक्ति वैचित्र्य--

इसमें उक्ति वैचित्र्य द्वारा लक्ष्य की ओर संकेत किया जाता है --

'तुलसी बिलसत नखत निसि सरद सुधाकर साथ
मुकुता झालरि झलक जनु राम सुजसु सिसु हाथ'[3]

---

१. डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ३२०

२. दोहावली, ८१, पृ० ३७

३. दोहावली, ११०, पृ० ४७

(३) सांकेतिकता —

सांकेतिकता में संकुचित रूप से शब्दों को ग्रहण किया जाता है। अर्थात् शब्द का संकेत के द्वारा अर्थ प्रकट किया जाता है। जैसे --

'अगुन पगुन वि अब कुम आ म अ मु गुनु साथ
हरो धरो गाड़ो दियो धन फिरि कछु न हाथ'[१]

(४) सूक्तिमयता --

सूक्तिमयता का अर्थ होता है उपयोगिता पर बल देना। दोहावली का यह दोहा इस बात को सार्थक करता है।

'रीझि आपनी बूझि पर खीझि बिचार बिहीन
ते उपदेस न मानहीं मोह महोदधि मीन।'[२]

मंगल काव्य--

मंगल काव्यों की परिभाषा डा० रामदत्त भारद्वाज इस प्रकार देते हैं --'मंगल-अभीष्ट सिद्धि, कल्याण, विवाह आदि शुभ कार्य, पतिव्रता पार्वती। अतएव 'मंगल काव्य' वह है जिसमें किसी देवता या किसी व्यक्ति की कृपा से किसी प्रकार का कल्याण हो। 'सोहर' अथवा 'सोहला' शब्द भी मंगल का पर्याय है।'[३]

मंगल काव्य इसका नाम इसलिए भी है क्योंकि यह प्राय: किसी मंगल से ही सम्बन्धित होते हैं और इसके साथ ही इसमें किसी देवतुल्य मनुष्य की कीर्ति भी प्रदर्शित की जाती है।

तुलसीदास कृत मंगल काव्यों में - जानकीमंगल, पार्वती मंगल और रामलला नहछू का नाम आता है। जानकी मंगल, पार्वती मंगल तो विवाह से सम्बन्धित काव्य है किन्तु रामलला नहछू में 'रामचन्द्र जी का नखच्छेदन' का वर्णन है।

---

१. दोहावली, ४५७, पृ० २५३
२. दोहावली, दो० ४८५, पृ० १६२
३. डा० रामदत्त भारद्वाज, पृ० १२३

पार्वती मंगल में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन आता है, यह तुलसी का सर्वोत्कृष्ट मंगल काव्य है और जानकी मंगल में राम और सीता के विवाह का वर्णन आता है ।

तुलसी ने अपने मंगल काव्यों में विवाह का ही वर्णन किया है परन्तु डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया ने मंगलकाव्य के अन्तर्गत विवाह और स्तुति दोनों का उल्लेख किया है । सामान्य दृष्टि से तो मंगल काव्य का आशय दोनों से है पर प्रस्तुत सन्दर्भ में हम मंगल काव्य का अर्थ विवाह के सम्बन्ध में ग्रहण करना समीचीन समझते हैं, क्योंकि तुलसी के तीनों मंगल काव्यों में वैवाहिक क्रियाओं का ही वर्णन हुआ है ।

-

(ख)

भक्ति काव्य एवं वर्णन रूढ़ियाँ

भक्तिकाव्य एवं वर्णन रूढ़ियाँ

परम्परा एवं व्याख्या -

डा० रविन्द्र भ्रमर इस विषय में लिखते हैं -- विभिन्न कथा-कहानियों में बार-बार व्यवहृत होने वाली एक जैसी घटनाओं अथवा एक जैसे विचारों को कथानक रूढ़ि की संज्ञा दी जा सकती है। उक्त प्रकार की घटनाएँ या विचार सम्बद्ध कथानक के निर्माण अथवा उसके विकास में योग देते हैं और कथा काव्यों में उनके उपयोग की एक सुदीर्घ परम्परा होती है।[1] ये परम्परा समाज के आन्तरिक विधानों पर टिकी रहती है और ये आन्तरिक विधान मुख्यत: लोकवार्ता के आस-पास ही घूमते रहते हैं। ये कथानक रूढ़ियाँ किसी कवि की नवीन कल्पना नहीं होती वरन् किसी प्राचीन कल्पना का ही नवीनीकरण या रूपान्तर होती है। कथानक रूढ़ियाँ कवि को, उसके काव्य को गति देने में सहायक होती हैं। इसके द्वारा कवि अपनी इच्छानुसार कथानक को मोड़ दे सकता है। "हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे 'अभिप्राय' बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आए हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल जाते हैं।"[2]

इन कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हम तुलसी के काव्य में करेंगे। तुलसी की रचनाओं में श्री रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली, गीतावली इन रचनाओं को ही हमने तृतीय अध्याय में लिया है अत: इन्हीं रचनाओं को हम यहाँ भी आधार स्वरूप लेते हैं।

कवितावली में कथानक रूढ़ियाँ मानस की अपेक्षा कम हैं। यह एक मुक्तक काव्य है परन्तु कथा को प्रवाहित करने के लिए मुक्तकों के बीच-बीच से कथानक रूढ़ियाँ प्रयुक्त की गयी हैं।

---

१. डा० रवीन्द्र भ्रमर, हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्व, पृ० ७५

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ८१

विनयपत्रिका कथा रूढ़ियों से रहित काव्य है और दोहावली के कुछ ही दोहों में कथानक रूढ़ियों की आभा पायी जाती है ।

कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से तुलसी की समस्त रचनाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कृति श्री रामचरितमानस ही है । रामकथा की प्राचीनता के कारण तुलसी के मानस की रामकथा में भी कथाभिप्रायों का प्राचुर्य है । मानस में चार वक्ता और चार श्रोता हैं ।

(१) शिव-पार्वती
(२) काकभुशुण्डि-गरुण
(३) याज्ञवल्क्य - भारद्वाज
(४) तुलसीदास - समस्त सज्जन समाज

ये सभी उपक्रम कथानक रूढ़ियों के आधार पर हैं ।

इस तरह तुलसीदास इस राम कथा को जन-समाज के सामने अपनी मति के अनुसार मनोहर बनाकर रखने का उद्देश्य रखते हैं -

मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी।।[1]
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई । सुनिहहिं बालबचन मन लाई ।।

इसके नाम का कारण क बताते हुए तुलसीदास लिखते हैं —

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ।।
तातें रामचरित मानस बर । धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ।।[2]

तुलसीदास के काव्य में आए हुए विभिन्न कथानक रूढ़ियों को हम निम्न वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं -

(१) लोक प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ ।
(२) देवी देवता तथा अन्य अलौकिक प्राणियों से सम्बद्ध घटनाएँ ।
(३) पशु-पक्षी से सम्बद्ध ।
(४) भूत-प्रेत राक्षस तथा अन्य अमानवीय शक्तियों से सम्बन्धित ।

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १४
२. रामचरितमानस, चौ०६ ३, पृ० ३८

(५) कवि कल्पित तथा लोकप्रिय कथानक रूढ़ियाँ ।

(६) स्फुट कथानक रूढ़ियाँ ।

१- लोक प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ--

(१) कानों के समीप सफेद बालों का दिखना - वृद्धा अवस्था का सूचक

कानों के समीप सफेद बालों का दिखना वृद्धा अवस्था को प्रदर्शित करता है । आचार्य केशवदास ने भी अपनी कविप्रिया में इसका वर्णन किया है -

'निबहुत अमृत धरा के किधौं,अकताली धरा कलाइक के '[१]

राजा दशरथ अपना मुकुट ठीक करने के लिए सहजभाव से दर्पण उठाकर मुख के सामने करते हैं कि सहसा उनकी दृष्टि कानों के समीप सफेद बालों पर पड़ती है --

श्रवन समीप भए सित केसा । मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा ।।
नृप जुबराजु राम कहुँ देहु । जीवन जनम लाहु किन लेहु ।।[२]

(२) भविष्य सूचक स्वप्न-

यह बहुत ही लोकप्रचलित रूढ़ि है । मानस में भी भविष्य-सूचक स्वप्नों का प्रयोग हुआ है जोकि भावी घटनाओं का पूर्वाभास दे देते हैं और फिर बाद में घटित होते हैं ।

भरत का ननिहाल में भयंकर स्वप्न देखना, इस बात का उत्तम उदाहरण है--

देखहिं राति भयानक सपना । जागि करहिं कटु कोटि कलपना ।।[३]

इसी प्रकार सीता भी चित्रकूट में स्वप्न देखती हैं मानो भरत भी समाज-सहित यहाँ पधारे हैं --

उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा ।।
सहित समाज भरत जनु आए । नाथ बियोग ताप तन ताए ।।[४]

---

१. केशवदास,कविप्रिया,पृ० ५७, व्याख्याकार श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी
२. रामचरितमानस,चौ० ४,पृ० ३७७ ३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ५२०
४. रामचरितमानस,चौ० २, पृ० ५८५

(३) आकाशवाणी -

मानस में कई जगह आकाशवाणी द्वारा पात्रों की प्रशंसा या शिक्षा दी गयी है --

आकाशवाणी द्वारा शिवजी की प्रशंसा --

(१) कहत गगन भै गिरा सुहाई । जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ।।[१]

आकाश से ब्रह्मा जी की वाणी सुनते ही पार्वती जी प्रसन्न हो उठती हैं--

(२) सुनत गिरा बिधि गगन बखानी । पुलक गात गिरिजा हरषानी ।।[२]

आकाशवाणी द्वारा लक्ष्मण की प्रशंसा एवं शिक्षा--

(३) जय भय मगन गगन भइ बानी। लखन बाहुबलु बिपुल बखानी ।
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा । को कहि सकइ को जान निहारा ।।[३]

आकाश से ब्रह्मा जी की वाणी सुनते ही देवता प्रसन्न हुए --

(४) जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउं नर बेसा ।।[४]

(४) पुनर्जन्म -

मानस में तुलसीदास ने इस कथानक रूढ़ि का व्यापक रूप से प्रयोग किया है । यह पुनर्जन्म अधिकतर शाप के कारण हुए हैं । प्रताप भानु नाम का राजा ही समय आने पर परिवार सहित रावण नामक राक्षस हुआ --

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा । भयउ निसाचर सहित समाजा ।।
दस सिर ताहि बीस भुज दंडा । रावन नाम बीर बरिबंडा ।।[५]

अरिमर्दन नामक जो राजा का छोटा भाई था वह बल का धाम कुम्भकर्ण हुआ ।

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ७७
२. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ८६
३. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ५८०
४. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १६०
५. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १८४

उसका जो मन्त्री था जिसका नाम धर्मरुचि था वह रावण का सौतेला भाई हुआ—

भूप अनुज अरिमर्दन नामा । भयउ सो कुंभकरन बलधामा ।।
सचिव जो रहा धरम रुचि जासु । भयउ बिमात्र बंधु लघु तासु ।।[1]

कश्यप और अदिति ही दशरथ और कौशल्या के रूप में प्रकट हुए हैं --

कस्यप आदिति तहाँ पितु माता । दसरथ कौसल्या बिख्याता ।।[2]
एक कलप एहि बिधि अवतारा । चरित पवित्र किए संसारा ।।

(५) प्रतिज्ञा पर आधारित विवाह -

प्रतिज्ञा में कन्या का पिता कोई ऐसी प्रतिज्ञा कर लेता है जो असम्भव होती है और उस प्रतिज्ञा को जो पूरा करता है उसी के साथ कन्या का विवाह होना निश्चित रहता है । मानस में राजा जनक भी ऐसी ही एक प्रतिज्ञा करते हैं कि शिव जी का यह कठोर धनुष जो राजा तोड़ेगा उसी के साथ सीता जी का विवाह होगा -

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा । राज समाज आजु जोइ तोरा ।।[3]
त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही ।।

इसी तरह पार्वती जी यह प्रतिज्ञा करती हैं कि विवाह करूँगी तो शिव जी के साथ अन्यथा आजन्म कुआँरी रहूँगी ।

(क) जन्म कोटि लगि रगर हमारी । बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी ।।[4]

(ख) हठ न छूट छूटै बरु देहा ।।[5]

(ग) जनक कौ पनु क्यौ, सबको भावतो भयो ।[6]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १८४
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ~~१३~~ १३६
३. रामचरितमानस, चौ० ?, ? २४२
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ६२
५. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ६१
६. कवितावली, पृ० १५

(६) स्वयंवर पर आधारित विवाह -

राजा जनक सीता जी के विवाह के लिए एक स्वयंवर आयोजित करते हैं। इसी सन्दर्भ में विश्वामित्र राम से कहते हैं —

सीय स्वयंबरु देखिअ जाई। ईसु काहि धौं देइ बड़ाई ।।[1]

(७) नजर —

माताएँ अपने पुत्रों की सुन्दर रूप छटा देखकर नजर न लग जाए इसलिए तृन तोड़ती हैं --

(क) स्याम गौर सुंदर दोउ जोड़ी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी ।।[2]

(ख) पुर नारि सुर सुंदरी बरहि बिलोकि सब तिन तोरही।[3]

(ग) साँवरो किसोर गोरी सोभापर तृन तोरी
जोरी जियो जुग-जुग जुवती-जन जाकहीं ।।[4]

(८) वस्तु को देखकर सम्बन्धित व्यक्ति का स्मरण -

सुग्रीव द्वारा राम को दिए गये सीता के आभूषण, राम को सीता के प्रेम में विभोर कर देते हैं—

मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा ।।[5]

(९) सहिदानी —

इसका अर्थ होता है निशानी। इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग तुलसीदास ने कई स्थलों पर किया है - जैसे हनुमान का सीता की खोज में जाते समय श्रीराम का

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २४७
२. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० २०७
३. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ३३६
४. कवितावली, पृ० १५
५. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ७४१

अपनी मुद्रिका देना -

(क) तब देखी मुद्रिका मनोहर । राम नाम अंकित अति सुन्दर ।।
चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदयँ अकुलानी ।।[1]

(ख) मातु ! कृपा कीजै, सहिदानि दीजै ।[2]

भरत का राम से वन में मिलने जाते समय अशोक वृक्ष को देखकर राम का स्मरण हो जाना -

जहँ सिंसुपा पुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु ।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु ।।[3]

(१०) सौतिया डाह -

मंथरा द्वारा कैकेयी की मति फिराकर तुलसीदास ने कथा को एक नया मोड़ देते हुए इस कथानक रूढ़ि को प्रदर्शित किया है -

(क) करि तुम्हारि चह सवति उखारी । रुँधहु करि उपाउ बर बारी ।।[4]

(ख) सेवहिं सकल सवति मोहि नीके । गरबित भरत मातु बल पी के ।।[5]

(ग) राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी । सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी ।।[6]

(घ) तहँ नये मद मोह लोभ अति, सरगहुँ मिटत न सावत ।।[7]

(११) वरदान -

यह एक लोकप्रचलित रूढ़ि है । प्राचीन कथाओं में इसका प्रचुर मात्रा

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ८०७
२. कवितावली, पृ० ५५
३. रामचरितमानस, दो० १९८, पृ० ५५६
४. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३८८
५. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३८२
६. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ३८८
७. विनयपत्रिका, पद ४, पृ० २९७

में दर्शन होता है। मानस में कैकेयी राजा दशरथ द्वारा दिए गए अपने दोनों वरदानों को, श्री राम के राजतिलक के पूर्व मान करके उसका सदुपयोग अपने पुत्र भरत को राज देने के लिए करती है। इस कथानक रूढ़ि द्वारा कवि कथा को दूसरी ही दिशा में प्रवाहित कर देता है -

(क) दुइ बरदान भूप सन थाती । मागहु आजु जुड़ावहु छाती ।।
सुतहि राजु रामहि बनबासू । देहु लेहु सब सवति हुलासू ।।[1]

(ख) सुनहु प्रानप्रिय भावत जीका । देहु एक बर भरतहि टीका ।।
मागउं दूसर बर कर जोरी । पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ।।[2]

(ग) कस्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन्ह कहुं मैं पूरब बर दीन्हा ।।[3]
ते दसरथ कौसल्या रूपा । कोसलपुरी प्रगट नरभूपा ।।

(१२) सन्तानहीन राजा-रानी का आशीर्वादस्वरूप सन्तान प्राप्ती -

सन्तानहीन राजा-रानी सन्तान के लिए अत्यन्त दुखी रहते हैं, ऐसे में किसी योगीपुरुष, महाराज, साधु-सन्यासी से प्राप्त प्रसाद ग्रहण करने से या जप तप करने से रानियाँ गर्भवती होती थीं। ऐसे राजाओं के एक से अधिक रानियां हुआ करती थीं।

राजा दशरथ के भी तीन रानियाँ थी किन्तु सन्तान न होने की वजह से वह भी अत्यन्त दुखी थे। उन्होंने गुरु वशिष्ठ जी को अपना दुख सुनाया, गुरु वशिष्ठ ने शृंगी ऋषि से पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ कराया उसके माध्यम से (हविष्यान्न खीर) को प्रसाद स्वरूप ग्रहण करने से सब रानियाँ गर्भवती हुईं—

एहि बिधि गर्भसहित सब नारी । भईं हृदयँ हरषित सुख भारी ।।
जा दिन तें हरि गर्भहिं आए । सकल लोक सुख संपति छाए ।।[4]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३६२
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३६६
३ रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १६६
४. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १६६

और इस तरह समस्त लोकों को शान्ति देने वाले श्री राम प्रगट हुए —

जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम ।[1]

(१३) शकुन-अपशकुन —

लोक जीवन से इस रूढ़ि का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । तुलसीदास ने इन दोनों शकुन-अपशकुन का वर्णन किया है । शकुन का अर्थ है - शुभ कार्यों के सम्पन्न होने से पूर्व शकुनों का होना और अशुभ या अप्रिय कार्यों के होने से पूर्व अपशकुनों का होना ।

शकुन :—

शुभ शकुनों में तुलसीदास ने बरात का अयोध्या से प्रस्थान करते समय अनेक शुभ शकुनों का उल्लेख किया है —

(क) दाहिन काग सुखेत सुहावा । नकुल दरसु सब काहूँ पावा ।।
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी । सघट सबाल आव बर नारी ।।[2]

(ख) लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा । सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा ।।
मृगमाला फिरि दाहिनि आई । मंगल गन जनु दीन्हि देखाई ।।[3]

(ग) छेमकरी कह छेम बिसेषी स्यामा बाम सुतरु पर देखी ।
सनमुख आयउ दधि अरु मीना । कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना ।।[4]

प्रभु आगवन से पूर्व अयोध्या में शुभ शकुनों का होना—

सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर ।।
प्रभु आगवन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर ।।[5]

---

१. रामचरितमानस, दो० १९१, पृ० २

२,३,४ रामचरितमानस, चौ० २, ३, ४, पृ० ३०६

५. रामचरितमानस, दो० १, पृ० १०१६

दोहावली में तुलसीदास के अनुसार सबसे बड़ा शकुन, श्री राम का स्मरण है ।

राम लखन कौसिक सहित सुमिरहु करहु पयान ।
लच्छि लाभ लै जगत जसु मंगल सगुन प्रमान ।।[1]

अपशकुन:-

भरत ने नगर में प्रवेश करते ही अपशकुनों के दर्शन किए -

असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ।।[2]

रावण की मृत्यु होने से पूर्व नाना प्रकार के अपशकुन होने लगे थे —

(क) असुभ होन लागे तब नाना । रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना ।।
बोलहिं खग जग आरति हेतु । प्रगट भए नभ जहँ तहँ केतु ।।[3]

(ख) दस दिसि दाह होन अति लागा । भयउ परब बिनु रबि उपरागा ।।[4]

(ग) प्रतिमा रुदहिं पबिपात नभ अति बात बह डोलति मही ।।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही ।।[5]

लोक में शुभ शकुन, अपशकुन के साथ-साथ साहित्य में भी इसको विशेष रूप से लिया गया है -

जासु सकल मंगलमय कीती । तासु पयान सगुन यह नीती ।।

(१४) एकनिष्ठ प्रेम -

मानस में इस प्रेम को प्रदर्शित करने वाली दो घटनाएं हैं --
(१) पार्वती का प्रेम, (२) सीता की अग्नि-परीक्षा ।

साहित्य में एकनिष्ठ प्रेम की अनेक कथाएं देखने को मिलती हैं । इसमें

---

१. दोहावली, ४६३, पृ० १५५
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ५२१
३-४. रामचरितमानस, चौ० ४-५, पृ० ६८४
५. रामचरितमानस, छन्द , पृ० ६८५

प्रेमी को अपने प्रेम पात्र से विमुख करने का प्रयत्न किया जाता है । अनेक प्रकार से उसके मार्ग में बाधा उत्पन्न की जाती है ।

ऋषि लोग पार्वती की परीक्षा लेते हैं उन्हें नाना प्रकार से समझाते हैं -

तेहिं के बचन मानि बिस्वासा । तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा ।
निर्गुन निलज कुबेष कपाली । अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ।।[1]

पार्वती जी उत्तर देती हैं —

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम ।।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ।।[2]

रावण विजय के पश्चात् श्री राम सीता की अग्नि-परीक्षा लेने के बाद उन्हें ग्रहण करते हैं —

(क) सीता प्रथम अनल महुँ राखी । प्रगट कीन्हि चह अन्तर साखी ।।[3]
< < <
(ख) पावक प्रबल देखि बैदेही । हृदयँ हरष नहिं भय कछु तेही ।।[4]

(१५) गुरु के लिए शिष्य का पुष्प चयन करने जाना—

मानस में श्री राम अपने गुरु के लिए पुष्प चयन करने के लिए वाटिका जाते हैं । यह प्रसंग कवि द्वारा राम-सीता के साक्षात्कार के लिए सम्पन्न किया गया है —

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन । लगे लेन दल फूल मुदित मन ।।[5]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ६०

२. रामचरितमानस, दोहा ८०, पृ० ६१

३. रामचरितमानस, चौ० ७, पृ० ६६३

४. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ६६४

५. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २३६

२- देवी देवता तथा अन्य अलौकिक प्राणियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ

(१) सरस्वती जी द्वारा मती परिवर्तन -

इस कथा रूढ़ि द्वारा तुलसीदास ने कथा को एक दूसरी ही दिशा में मोड़ दिया । राजा दशरथ द्वारा श्री राम का राज्याभिषेक करने का दृढ़ संकल्प करने के पश्चात् सरस्वती द्वारा मती परिवर्तन करके कवि कथा को एक नया मोड़ दे देता है -

(क) सारद बोलि बिनय सुर करहीं । बारहिं बार पाय लै परहीं ।।[1]

(ख) नामु मंथरा मंदमति चेरी कैकइ केरि ।।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि ।।[2]

(२) पाषाण का स्त्री रूप धारण करना—

श्री राम के पैरों का स्पर्श पाते ही पाषाण बनी हुयी अहल्या का उद्धार होता है -

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही ।।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही ।।[3]

(३) शिवजी का धनुष—

राजा जनक की प्रतिज्ञा अनुसार सीता स्वयंवर में जहाँ हजारों राजा शिव जी के धनुष को हिला तक नहीं पाते वहीं श्री राम द्वारा सहजता से धनुष तोड़ दिया जाता है -

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े । काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़े ।।
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा । भरे भुवन धुनि घोर कठोरा ।।[4]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३८२
२. रामचरितमानस, दोहा १२, पृ० ३८३
३. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० २२०
४. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० २६८

(४) सुधा वृष्टि—

राम रावन युद्ध के समय मृतक वानरों को पुन: जीवित करने के लिए आकाश से सुधा वृष्टि होती है ।

सुधा बरषि कपि भालु जिआए । हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए ।।[१]

(५) गणेश पूजन—

किसी भी शुभ कार्य को सम्पन्न करने से पूर्व पार्वती पुत्र गणेश जी का पूजन । तुलसीदास मानस में श्रद्धा के साथ ऐसा करते हुए देखे गए हैं --

(क) मुनि अनुसासन गनपतिहिं पूजेउ संभु भवानि ।।[२]

(ख) आचारु करि गुर गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं ।।[३]

(६) पाषाण का जल में तैरना -

समुद्र पार करने के लिए नल-नील और वानरों ने मिलकर सेतु तैयार किया उस सेतु की महिमा अनन्त है—

श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान ।।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन ।।[४]

पशु-पक्षी से सम्बद्ध कथानक रुढ़ियाँ -

तुलसी के मानस में इस तरह के दो कथानक देखने को मिलते हैं—

(१) काकभुशुण्डि और गरुड़

(२) सम्पाती द्वारा वानरों को अपनी कथा सुनाना

उत्तरकाण्ड में श्री राम के राज्याभिषेक के समय काकभुशुण्डि और गरुड का प्रसंग

---

१. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १००२

२. रामचरितमानस, दोहा १००, पृ० ११२

३. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ३२७

४. रामचरितमानस, दोहा ३, पृ० ८६३

आया है -

सुनु खगेस तेहि अवसर ब्रह्मा सिव मुनि बृन्द ।।[1]
चढ़ि बिमान आए सब सुर देखन सुखकंद ।।

बानरों से जटायु की कथा सुनकर सम्पाती, समुद्र के किनारे जटायु को तिलांजलि दे देने के बाद अपनी कथा बानरों को सुनाता है—

हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई । गगन गए रबि निकट उड़ाई ।।[2]

सम्पाती के द्वारा ही वानर सीता जी का पता ज्ञात कर पाते हैं -

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका । तहँ रह रावन सहज असंका ।।[3]
तहँ असोक उपवन जहँ रहई । सीता बैठि सोच रत अहई ।।

४- भूतप्रेत -राक्षस तथा अन्य अमानवीय शक्तियों से सम्बन्धित—

१- मार्ग में राक्षस राक्षसियों का मिलना

इस कथारूढ़ि का प्रयोग पात्र के शौर्य के प्रदर्शन के लिए होता है जैसे हनुमान जी की बल-बुद्धि को जानने के लिए देवताओं ने सुरसा नामक सर्पों की माता को भेजा -

(क) जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु दून कपि रूप देखावा ।।
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा । अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ।।[4]

(ख) निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई । करि माया नभु के खग गहई ।।[5]

(ग) ताहि मारि मारुतसुत बीरा । बारिधि पार गयउ मति धीरा ।।[6]

---

१. रामचरितमानस, दोहा ११, पृ० १०३१
२. रामचरितमानस, चौ० १ , पृ० ७८७
३. रामचरितमानस, चौ० ६, पृ० ७८८
४. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ७९६
५-६ रामचरितमानस, चौ० १, ३, पृ० ७९६

इसी प्रकार लक्ष्मण मूर्छा के समय हनुमान जी संजीवनी लेने जाते हैं । रास्ते में—

राच्छस कपट बेष तहँ सोहा । मायापति दूतहि चह मोहा ।।[1]

मगरी मोक्ष प्राप्त करते समय हनुमान जी से कहती है —

मुनि न होइ यह निसिचर घोरा । मानहु सत्य बचन कपि मोरा ।।[2]

(२) रण-क्षेत्र में योगिनियों का आना

रण-क्षेत्र में रावण अपनी माया फैलाता है और भूत-प्रेत, योगिनियों को प्रकट करता है –

(क) जब कीन्ह तेहिं पाषंड । भए प्रगट जंतु प्रचंड ।।
बेताल भूत पिसाच । कर धरें धनु नाराच ।।[3]

(ख) जोगिनि गहें करबाल । एक हाथ मनुज कपाल ।।
करि सद्य सोनित पान । नचहिं करहिं बहु गान ।।[4]

५ — कवि कल्पित तथा लोकप्रिय कथानक रूढ़ियाँ—

(१) परकाया-प्रवेश

परकाया प्रवेश का अर्थ अपने शब्द के अनुरूप ही होता है अर्थात् दूसरे की काया में प्रवेश करके उसके माध्यम से कोई कार्य करवाना । मानस में राजा प्रतापभानु का शत्रु उनके पुरोहित के शरीर में प्रवेश करके उससे अनुचित कार्य करवाता है —

आपु बिरचि उपरोहित रूपा । परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा ।।[5]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ६२३
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ६२४
३-४ रामचरितमानस, छन्द १,२, पृ० १८२
५. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १८१

इसी प्रकार काकभुशुण्डि का श्री राम के पट में समस्त जगत का अवलोकन करना—

देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर ।।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर ।।[1]

(२) वन में कपटीमुनि का मिलना

यह भी एक अत्यन्त लोकप्रिय कथानक है । इसमें किसी राजा का या नायक का मार्ग में भटक जाना और किसी कुपात्र का मुनि के भेष में मिलना अत्यन्त प्रचलित है । राजा प्रतापभानु शिकार करते समय वन में रास्ता भूल जाते है, वहाँ राजा का एक शत्रु, मुनि के भेष में रहता है --

कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा । भागि पैठ गिरिगुहाँ गभीरा ।।
अगम देखि नृप अति पछिताई । फिरेउ महाबन परेउ भुलाई ।।[2]
फिरत बिपिन आश्रम एक देखा । तहँ बस नृपति कपट मुनिबेषा ।।[3]

(३) प्यास से आतुर होकर राजा का उस आश्रम में जाना -

राजा प्यास से व्याकुल हो उसी आश्रम में पहुँच जाता है जहाँ कपटी मुनि रहता है—

राउ तृषित नहिं सो पहिचाना । देखि सुबेष महामुनि जाना ।।
उतरि तुरग तें कीन्ह प्रनामा । परम चतुर न कहेउ निज नामा ।।[4]

(४) रहस्यमय शब्दों का उच्चारण :

मानस में तुलसीदास ने इस प्रकार की कथानक रूढ़ियों का प्रयोग करके कथा में रोमंचकता उत्पन्न की है । इस रूढ़ि के माध्यम से कवि कथा को अपनी

---

१. रामचरितमानस, दोहा ८२(क), पृ० ११०६
२-३. रामचरितमानस, चौ० ४, १, पृ० १६८
४. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १६६

कल्पना के अनुसार ढाल लेता है । श्री राम मृग के पीछे उसका वध करने हेतु जाते हैं और मरते समय मृग रहस्यात्मक शब्दों का उच्चारण करता है -

(क) निगम नेति सिव ध्यान न पावा । माया मृग पाछें सो धावा ।।[1]
कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई । कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छपाई ।।

(ख) तब तकि कठिन सर मारा । धरनि परेउ करि घोर पुकारा ।।[2]

(ग) प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा । सुमिरेसि रामु समेत सनेहा ।।[3]

(४) नायक-नायिका द्वारा पालित पशु-पक्षी-

मानस में इसका प्रयोग व्यंजना प्रदर्शन में हुआ है । परन्तु कहीं-कहीं तो इन पशु-पक्षियों ने विलक्षण कार्य किया है, जैसे पद्मावती में हीरामन तोता—

रामवनगमन के समय सभी पशु-पक्षियों को श्री राम के प्रेम में व्याकुल दिखाया गया है :-

(क) रथ हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं ।
देखि निषाद बिषादबस धुनहिं सीस पछिताहिं ।।[4]

(ख) बाजु बियोग बिकल पसु ऐसें । प्रजा मातु पितु बिनहिं कैसें ।।[5]

सीता विदा के समय जनकपुर के पशु-पक्षियों का वर्णन :-

(क) सुक सारिका जानकी ज्याए । कनक पिंजरन्हि राखि पढाए ।।[6]
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही । सुनि धीरजु परिहरइ न केही ।।

(ख) भए बिकल खग मृग एहि भाँती । मनुज दसा कैसें कहि जाती ।।[7]

१-२. रामचरितमानस, चौ० ६, ७, पृ० ७२६
३. रामचरितमानस, चौ० ८, पृ० ७२७
४. रामचरितमानस, दोहा ९९, पृ० ४६५
५. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ४६५
६-७. रामचरितमानस, चौ० १,२, पृ० ३४७

(५) सुन्दरी स्त्री का अपहरण -

साहित्य में इस रूढ़ि के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं:-

(१) राक्षस द्वारा कन्याहरण

(२) किसी राजकुमार द्वारा कन्याहरण

डा० रविन्द्र भ्रमर का कथन है — इसमें से प्रथम रूप लोककथाओं का है। किसी राजकुमार द्वारा कन्याहरण का अभिप्राय कवि कल्पित प्रतीत होता है, यह अत्यन्त प्रचलित भी है और भारतीय आख्यानकों में प्रयुक्त होता रहता है। महाभारत कथा में अर्जुन द्वारा सुभद्रा का और कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण इस अभिप्राय के कतिपय प्राचीन उदाहरण हैं। हिन्दी साहित्य में इस अभिप्राय का सबसे अधिक उपयोग सम्भवत: रासोकार चन्दबरदायी ने किया है। 'पृथ्वीराज रासो' में पद्मावती, शशिव्रता और संयोगिता नामक तीन राजकुमारियाँ चौहान द्वारा हरण की जाती हैं।"[1]

मानस में सीता हरण होता है। सीता जी द्वारा रावण की निन्दा करने पर रावण का क्रोधपूर्वक सीता का अपहरण —

क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ ।।
चला गगनपथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ ।।[2]

(६) मार्ग में किसी के द्वारा सुन्दरी की सहायता—

मानस में जटायु द्वारा सीता जी की रक्षा का प्रयत्न दर्शाया गया —

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा ।।[3]
धावा क्रोधवंत खग कैसें। छूटइ पबि परबत कहुँ जैसें ।।

---

1. डा० रवीन्द्र भ्रमर - हिन्दी भक्तिसाहित्य में लोक तत्व, पृ० ११६
2. रामचरितमानस, दोहा २८, पृ० ७२६
3. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ७३०

(७) जंगल में राजकुमारों का भटकना—

मानस में सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति राम और लक्ष्मण का सीता की खोज में वन-वन भटकना।

शिव-पार्वती दोनों ही विरहाकुल श्री राम को सीता की खोज में भटकते हुए देखते हैं —

बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई।।
कबहूं जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें।।[१]

(८) यज्ञ वर्णन—

भारतीय संस्कृति में इसका बहुत महत्व है। प्रत्येक राजा यज्ञ करवाना अपने लिए जरूरी समझता था। राजा होने के साथ ही वह यज्ञ करवाता था। राजा दशरथ ने भी पुत्रप्राप्ति के लिए यज्ञ करवाया था—

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा।।
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें।।[२]

यज्ञ सम्पन्न होने के साथ-साथ यज्ञ विध्वंस भी होते थे। सती द्वारा योगाग्नि में अपना शरीर भस्म का समाचार पाकर शिवजी के गण यज्ञ विध्वंस कर देते हैं —

सती मरनु सुनि संभु गन लगे करन मख खीस।।[३]

६— स्फुट कथा रूढ़ियाँ—

(१) एक साथ सभी रानियों का पुत्रप्राप्ति होना—

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ६३
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १६८
३. रामचरितमानस, दोहा ६४, पृ० ७७

मानस में सभी रानियाँ एक साथ पुत्रवति होती हैं -

(क) सुनु सिसु रुदन परम प्रिय बानी । संभ्रम चलि आई सब रानी ।[१]

× × ×

(ख) कैकयसुता सुमित्रा दोऊ । सुंदर सुत जनमत भैं ओऊ ।।[२]

(२) एक साथ सभी भाइयों का विवाह --

सीता और राम के विवाह के साथ-साथ कवि ने अन्य तीनों भाइयों के विवाह का भी वर्णन किया है --

(क) राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं । जगमगात मनि खंभन माहीं ।।
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा । देखत राम बिआहु अनूपा ।।[३]

× × ×

(ख) कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभामई ।।
सब रीति प्रीति समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई ।।[४]

× × ×

(ग) जानकी लघु भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै ।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै ।।
जेहि नामु श्रुत की रति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी ।।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप सील उजागरी ।।[५]

(३) भोजन में ब्राह्मणों का माँस मिलाया जाना --

कपटी मुनि ने पुरोहित के वेष में छः प्रकार का रस और चार प्रकार का भोजन तैयार किया पर ज्यों ही राजा प्रतापभानु उस भोजन को परोसने लगा त्यों ही आकाशवाणी हुयी --

भयउ रसोईं भूसुर माँसू । सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ।।[६]

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २०२
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २०४
३. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३३२
४-५. रामचरितमानस, छन्द - २,३, पृ० ३३२
६. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १८२

(ग)

कवि कृष्ण एवं भक्ति काव्य

'कवि समय एवं भक्ति काव्य'

अर्थ एवं परम्परा— हिन्दी भक्तिकाव्य में प्रयुक्त कवि समय

कवि समय विवेचन की एक दीर्घ परम्परा चली आ रही है, पर सर्वप्रथम राजशेखर ने ही इस विषय को व्यवस्थित और विस्तृत रूप में रखा। राजशेखर के अनुसार कवि समय का अर्थ है -- कवियों का आचार या सिद्धान्त। यह एक कवियों का पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य है— कवियों की प्रचलित परम्परा, जैसे - मकर आदि जलचर नदियों में भी होते हैं, किन्तु कवि परम्परा में उनका वर्णन प्रायः समुद्र में ही किया जाता है। कोयल ग्रीष्मऋतु में भी बोलती है, किन्तु कवियों की परम्परा में केवल वसन्त में ही उसके कूकने का वर्णन किया जाता है।[1]

केशवदास ने कविप्रिया के चौथे प्रभाव में 'कविसमय' की ओर संकेत किया है। इस कवि समय को उन्होंने 'कवि रीति' या 'कविमत' कह कर सम्बोधित किया है —

> साँची बात न बरनहीं झूठीं बरननि बानी।
> एकनि बरनें नियम कै, कवि मत त्रिविध बखानि।।[2]

परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने 'ख्याति विरुद्धता' को भी एक गुण माना है।

> 'कवीनां समय ख्याते गुण: ख्याति विराधता'

भिखारीदास ने भी कवि समय के सम्बन्ध में दोहे लिखे हैं। हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में कवि समय की चर्चा की है।

प्राय: सभी विद्वानों पर राजशेखर का प्रभाव देखने को मिलता है।

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० १६०

२. केशवदास, कविप्रिया, पृ० ३६

राजशेखर ने कवि समय की परिभाषा इन शब्दों में दी है --

'अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवय: स कविसमय:'[१]

अ- शास्त्रीय (शास्त्र से बहिर्भूत), अ ऽ- लौकिक (लोक व्यवहार से बहिर्भूत), केवल परंपरा -प्रचलित, जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते हैं - वह कवि समय है ।

राजशेखर की परिभाषा में आए हुए 'अशास्त्रीय' शब्द का अर्थ है कि जो बात शास्त्र में न आ पायी हो अर्थात् ज्ञान, अध्यात्म, वेद शास्त्रादि में न आकर सिर्फ काव्य में ही हो वह कवि समय है । अलौकिक का अर्थ है- जो लोक दृष्टि से परे हो और परम्परा का अर्थ है जो परम्परा में प्रचलित हो वही कविसमय है ।

इस तरह हम देखते हैं कि कवि समय के बारे में दो धारणाएँ पायी जाती हैं — (१) समर्थक, (२) विरोधी । इस तरह कुछ विद्वानों ने कवि समय का प्रयोग किया है पर हम देखते हैं कि किसी ने भी राजशेखर की मान्यता का विरोध नहीं किया है बल्कि आधार रूप में इसी को ग्रहण किया है ।

कवि समय का आशय कवियों द्वारा प्रयुक्त ऐसी मान्यताओं से होता है जिसका प्रयोग कवि अपने काव्य में मधुर कल्पना द्वारा अर्थ के चारुत्व के लिए करता है । कवि एक कल्पनाशील प्राणी है, वह अपनी दूरगामिनी कल्पनाओं के द्वारा काव्य को भव्यरूप देने की चेष्टा करता है तथा उसकी कवि समय विषयक कल्पनाएं नित्य नूतन तथा आश्चर्यजनक प्रेरणाशक्ति से परिपूर्ण रहती है । कवि समय का प्रधान लक्ष्य वस्तु को भावानुकूल आदर्श रूप प्रदान करना, तत्पश्चात् उसे काव्योपयोगी चारुत्व से सजाना है ।

भक्तिकालीन कवियों ने कवि समय के शास्त्रीय रूप को तो अपनी कृतियों में मान्यता दी ही है पर कहीं-कहीं परम्परा में प्रचलित होने वाले अविवेचनीय रूपों की भी विवेचना की है - जैसे राजशेखर की काव्य-मीमांसा में

---

१. राजशेखर - काव्यमीमांसा, पृ० १६०

देव विषय कविसमय का तो प्रयोग किया गया है पर दानव विषयक कवि समय को विवेचित नहीं किया गया है। मध्यकालीन कवियों ने इस अविवेचित सन्दर्भ को दृष्टि में रखकर इसकी व्याख्या की है। मध्यकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त ये कवि समय उनकी काव्यकथा को इच्छानुसार रूप देने में सहायक सिद्ध हुए हैं। भक्तिकाव्य में कवि समयों की द्विविध योजना की गयी है। कवि समयों को दो रूपों में ग्रहण किया गया है - प्रथम तो उसे प्रत्यक्षरूप से वर्ण्य-विषय बनाकर और आलम्बन वस्तु की भाँति उसका वर्णन करके, द्वितीय उसे किसी अन्य प्रधान वर्ण्यवस्तु के वर्णन का सहायक उपादान बनाकर।

कवि समय के आधार पर भक्तिकाव्य में बहुविध सादृश्य योजनाएँ उपलब्ध होती हैं। कवि अपने मौलिक दृष्टिकोण के अनुसार किसी एक रूप को अनेक रूपों में प्रकट करने की क्षमता रखता है। भक्तिकालीन कवियों ने अपने आराध्य के स्वरूप को अपने काव्य में हर सम्भव उतार लेने का प्रयास किया है। कवि समयों का आलम्बन भी उनमें से एक है। भक्ति साहित्य में कवि समयों को मौलिकता के साथ व्यवहृत किया गया है। मात्र वाग्वैचित्र्य के लिए उन्होंने कवि समय का प्रयोग नहीं किया है वरन् सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से उन्होंने कवि समयों को एक कवि की भाँति ही मुक्तमन से अपनाया है।

कवि समय के प्रकार—

राजशेखर ने कवि समय के तीन प्रकार बताये हैं --

(१) स्वर्गीय (२) भौम (३) पातालीय

इन तीनों में भौम सबसे प्रधान है।

उनके अनुसार भौम कविसमय की महाविषयक है—

इस भौम कवि समय के उन्होंने चार प्रकार और किए हैं।

(१) जाति रूप

(२) द्रव्य रूप

(३) गुण रूप

(४) क्रिया रूप

इन चारों अर्थों के तीन भेद और किए गए हैं--

(१) असत् का उल्लेख

(२) सत् का उल्लेख

(३) नियम का उल्लेख

डा० विष्णुस्वरूप ने अपनी पुस्तक कविसमय-मीमांसा में कवि समय को कुछ इसी तरह विभक्त किया है। उन्होंने प्रमुख तीन प्रवृत्तियां मानी हैं --

(१) असत् निबन्धन

(२) सत् निबन्धन

(३) नियम निबन्धन

इन तीन मुख्य प्रवृत्तियों की चार मुख्य उपप्रवृत्तियां प्रस्तुत की गयी हैं --

(१) जाति

(२) विशेष

(३) गुण

(४) क्रिया

यहां हम विष्णुस्वरूप के वर्गीकरण को आधार बनाते हुए तुलसी काव्य में प्रयुक्त कवि समयों की व्याख्या कर रहे हैं।

(१) <u>देवों से सम्बन्धित कवि समय :</u>

तुलसी के काव्य का विषय ही धर्म और अध्यात्म से जुड़ा हुआ है। अत: देवों की चर्चा और देवों की स्तुति तो यहां बार-बार हुई ही है। पाप का नाश करने के लिए तथा अनुचित की समाप्ति के लिए देवता मनुष्य रूप में अवतार लेकर पृथ्वी पर आते हैं, और तब तक रहते हैं जब तक कार्य पूर्ण नहीं हो जाता है। तुलसी काव्य में हम देवी देवताओं के नाम पर आधारित कवि समयों की चर्चा करते हैं।

<u>१- कामदेव--</u>

काम से सम्बन्धित कुछ प्रसिद्ध कवि समय

(१) कामदेव की पताका को मकरयुक्त और मत्स्य युक्त कहा जाता है।

(२) कामदेव मूर्त भी है और अमूर्त भी ।

(३) कामदेव पुष्पनिर्मित धनुष बाण ।

(४) कामदेव और बसन्त की मित्रता

(५) कामदेव का मदन पाश

कामदेव की पताका को मकरयुक्त और मत्स्ययुक्त कहा जाता है

काम के सम्बन्ध में एक कवि समय यह है कि उसकी ध्वजा में मकर और मत्स्य (मीन) दोनों की स्थिति है । यद्यपि दोनों की स्थिति साथ-साथ नहीं मानी जाती । पर कवि जन अपने को किसी भी समय किसी भी स्थिति का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र मानते हैं ।

मकर वर्णन - राजशेखर अनुसार -

चापं पुष्पमयं गृहाण मकर:केतु:समुच्छ्रयिता ।
चेतोलक्ष्यमिदञ्च पंच विशिखा: पाणौ पुन: सन्तु ते ।।[1]

मत्स्य वर्णन—

मीनध्वजस्त्वमसि नो न च पुष्पधन्वा
केलिप्रकाश तव मन्मथता तथापि ।
इत्थं त्वया विरचितस्य मयोपलब्धा:
कान्ताजनस्य जननाथ चिरं विलापा:[2]

मानस में यह प्रसंग शिव जी की तपस्या भंग करने में आता है -

(क) अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतु । प्रगटेउ विषमबान झषकेतू ।।[3]

(ख) कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू । छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू ।।[4]

२- कामदेव मूर्त भी है अमूर्त भी

कवि समय के अनुसार यह प्रचलित है कि काम मूर्त भी है और अमूर्त

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, षोडशो ध्याय, पृ० २११
२. काव्यमीमांसा, षोडशो ध्याय, पृ० २११
३ रामचरितमानस, बा० ४, पृ० ६४
४. रामचरितमानस, बा० ३, पृ० ६५

भी। कहीं कवि इसे अंगहीन मानते हैं और कहीं अंगयुक्त पौराणिक कथाओं के आधार पर काम पहले अंग युक्त सौन्दर्य का आदर्श माना जाता था। मानस में तो कई जगह सीता और राम के सौन्दर्य को कामदेव के सौन्दर्य से उच्च दिखाया गया है। मानस के बालकाण्ड में कामदेव के अनंग होने की घटना का वर्णन है।

अब तें रति तव नाथ कर होइहि नामु अनंगु ।।[1]

दोहावली में कामदेव को तनुबिन कहा गया है —[2]

सकुल गए तनु बिनु भए साखी जादौ काम ।।

यहाँ कामदेव के अंगहीन होने का वर्णन किया गया है। अत: हम देखते हैं कि काम के मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का वर्णन मिलता है। इस तरह कवियों की इस स्वतन्त्रता ने कवि समय का रूप ले लिया।

३- काम के पुष्प निर्मित धनुष बाण -

कवि समय के अनुसार काम के धनुष बाण पुष्प निर्मित थे। सौन्दर्य का साकार काम मानस के बालकाण्ड में शिव की समाधि भंग करने के प्रसंग में सर्वत्र व्याप्त दिखाया गया है। इसी प्रसंग में वह अपने पुष्प निर्मित बाण छोड़ता है—

(क) अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई ।।[3]

(ख) सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि श्रवन लगि ताने ।।[4]

(ग) छाड़े बिषम बिसिख उर लागे। छुटि समाधि संभु तब जागे ।।[5]

अमरकोष में कामदेव के इस पुष्पमय धनुष बाणों में इन पाँच फूलों का उल्लेख किया गया है -- अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल की गणना की गयी है।[6]

---

१. रामचरितमानस, दोहा ८७, पृ० ६६
२. दोहावली, दोहा ४२५, पृ० १४२
३. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ६४
४-५ रामचरितमानस, चौ० १, २, पृ० ६८
६. अमरकोष १।१।२७

४- काम और वसन्त की मित्रता -

वसन्त को काम का मित्र बताया गया है । तुलसी ने मानस में इस कवि समय का भी प्रयोग किया है -

(क) प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा । कुसुमित नव तरु राजि बिराजा ।।[1]

(ख) बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुलमधुकरा ।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा ।।[2]

(ग) बन उपबन बापिका तड़ागा । परम सुभग सब दिसा बिभागा ।[3]
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा । देखि मुएहुँ मन मनसिज जागा ।।

राजशेखर के अनुसार — 'स्मरो वसन्ते त्र नवैः प्रसूनैः
स्वचापयष्टेर्घटना करोति ।।'[4]

५- काम का मदन पाश -

इसके द्वारा काम सकाम प्राणियों को अपने वश में करता है -
मदन अंध व्याकुल सब लोक । निसि दिनु नहिं अवलोकहिं को ।।[5]

लक्ष्मी —

डा० विष्णुस्वरूप ने लक्ष्मी से सम्बन्धित दो कवि प्रसिद्धियाँ बतायी हैं । (१) उनका वास पद्म में है ।
(२) सम्पदा से उनका अभेद है ।

---

१. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ८७
२. रामचरितमानस, छन्द , पृ० ८८
३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ८७
४. राजशेखर,काव्यमीमांसा, पृ० २५२, अष्टादशोध्याय
५. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ८६

लक्ष्मी का निवास स्थान पद्म में बताया गया है ऐसा धर्म ग्रन्थों में भी देखने को मिलता है । दुर्गासप्तशती में महालक्ष्मी को सरोजस्थिता कहा गया है —

'लक्ष्मी: पद्मासना देवी पद्महस्ता हरिप्रिया' ।।[1]

राजशेखर ने इस दूसरे कथन को कवि समय माना है । उन्होंने लक्ष्मी और सम्पत्ति की एकता को बताया है ।

तुलसीदास ने भी इसी कवि समय का प्रयोग किया है—

'माया ब्रह्म जीव जग दीसा । लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा'

शिव —

विष्णुस्वरूप के अनुसार शिव से सम्बन्धित तीन कवि समय वर्णित है -

१- शिव के ललाट पर चन्द्रमा की स्थिति (द्वितीया का चन्द्रमा)

२- शिव को शूली तो कहना सर्पी नहीं कहना

३- इन्दुमौलि तो कहना गंगमौलि नहीं कहना

१- शिव के ललाट पर चन्द्रमा की स्थिति -

राजशेखर ने भी इस कवि समय का वर्णन किया है । मानस में तुलसीदास ने भी कहा है -

जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल
नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल[2]

यहां द्वितीया के चन्द्रमा को ही बालबिधु कहा गया है ।

२- शिव का शूली वर्णन -

कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा । चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा ।।[3]

---

१. दुर्गासप्तशती, पृ० २२, श्लोक १०

२. रामचरितमानस, दोहा १०६, पृ० १२०

३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १०२

३- शिव को इन्दुमौलि तो कहना गंगामौलि न कहना -

तुलसीदास ने इस तरह का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, किन्तु यह कवि समय है कि शिव को गंगमौलि नहीं कहा जाता है ।

शिव के शीश पर गंगा—

ससि ललाट सुंदर सिर गंगा । नयन तीनि उपबीत भुजंगा ।।[१]

शिव के शीश पर चन्द्रमा—

तबहिउँ तुरत देह तेहि हेतू । उर धरि चंद्रमौलि वृषकेतू ।।[२]

तुलसीदास ने इनके त्रिनेत्रधारी रूप का भी वर्णन किया है—

तब सिवँ तीसर नयन उघारा । चितवत कामु भयउ जरि छारा ।।[३]

(२) दानवों से सम्बन्धित कवि समय -

इस कवि समय का प्रयोग तुलसी ने कम ही किया है उन्होंने तारक नामक असुर का वर्णन किया है ।

तारक असुर भयउ तेहि काला । भुज प्रताप बल तेज बिसाला ।।[४]

उसकी मृत्यु का उपाय भी बताया है -

सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुज निधन तब होइ ।।[५]

इसके पश्चात तुलसी ने असुर हिरण्यकशिपु का वर्णन किया है -

बिप्र श्राप तें दूनउ भाई । तामस असुर देह तिन्ह पाई ।।

कनककसिपु अरु हाटक लोचन । जगत बिदित सुरपति मद मोचन ।।[६]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १०३
२. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ७७
३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ६८
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ६३
५. रामचरितमानस, दो० ८२, पृ० ६३
६. रामचरितमानस, चौ० १ पृ० १३६

उन्होंने जालन्धर दैत्य का भी वर्णन किया है—

(क) एक कलप सुर देखि दुखारे । समर जलंधर सन सब हारे[1] ।।

(ख) तहाँ जलंधर रावन भयऊ । रनहति राम परम पद दयऊ[2] ।।

३- मनुष्यों से सम्बन्धित कवि समय -

विष्णु स्वरूप के अनुसार मनुष्यों से सम्बन्धित निम्न कवि समय है—

(१) नायिका नायक क्रम से वर्णन

(२) मनुष्यों का वर्णन सिर से आरम्भ होता है

(३) युवा युवतियों के अंगों पर हार

(४) वियोग में युवा-युवतियों के हृदय फटने का वर्णन

(५) रण में मृत व्यक्तियों का सूर्यमण्डल को भेदना

(६) स्त्रियों को श्याम-वर्ण नहीं कहा जाता

तुलसी काव्य में हमें भी इनमें से कुछ के वर्णन मिल जाते हैं ।

१- नायिका नायक क्रम से वर्णन -

तुलसी काव्य में यह वर्णन नायिका-नायक क्रम से न होकर नायक-नायिका क्रम से हुआ है । ऐसा इसलिए कि राम ही इस कथा के प्रधान नायक हैं इसलिए नायक वर्णन के पश्चात् ही नायिका वर्णन आया है ।

आगें रामु लखनु बने पाछें । तापस बेष बिराजत काछें ।।

उभय बीच सिय सोहति कैसें ।+ ब्रह्म जीव बिच माया जैसें[3] ।।

२- मनुष्यों का वर्णन सिर से प्रारम्भ होना -

मानस के बालकाण्ड में इसका वर्णन हुआ है -

मोरपंख सिर सोहत नीके । गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के[4] ।।

---

१. रामचरितमानस, दो० ३, पृ० १३६

२. रामचरितमानस, दो० २, पृ० १३७

३. रामचरितमानस, दो० १, पृ० [illegible]

४. रामचरितमानस, दो० १, पृ० २३०

तत्पश्चात मस्तक, कान, भौंह, नेत्र इत्यादि --

(क) भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए । श्रवन सुभग भूषन छबि छाए ।।
विकट भृकुटि कच घूघरवारे । नव सरोज लोचन रतनारे ।।[1]

(ख) चारु चिबुक नासिका कपोला । हास बिलास लेत मन मोला ।।[2]

युवक-युवतियों के अंगों पर हार -

इसका वर्णन भी हमे मानस के बालकाण्ड में दृष्टिगोचर होता है --

(क) उर मनि माल कंबु कल गीवा । काम कलभ कर भुज बलसींवा ।।
सुमन समेत बाम कर दोना । सावँर कुँअर सखी सुठि लोना ।।[3]

(ख) कुंअर मनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल[4]

कवितावली में राम लक्ष्मण और सीता के पुष्पहारों का वर्णन किया गया है -

साँवरे गोरे के बीच, भामिनी सुदामिनी-सी
मुनिपट धारैं, उर फूलनिके हार हैं ।[5]

(४) पक्षी वर्ग से सम्बन्धित कवि समय -

हंस

हंस से सम्बन्धित चार कवि समय मिलते हैं ।

(१) हंस वर्षा काल में मानसरोवर में चले जाते हैं ।

(२) ये कमल वन में रहते हैं ।

१-२. रामचरितमानस, चौ० २-३, पृ० २४१

३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० २४१

४. रामचरितमानस, दोहा २४३, पृ० २४१

५. कवितावली, अयोध्याकाण्ड, पृ० २७

(३) इस पक्षी में नीर को क्षीर से पृथक् कर देने की क्षमता है।

(४) यह पक्षी केवल मोती चुगता है।

तुलसी साहित्य में यह कवि समय मिलते हैं --

(१) हंस वर्षाकाल में मानसरोवर में चले जाते हैं -

हंस की उदासता का कारण तुलसीदास मानसरोवर को ही मानते हैं।

पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।

बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।।[१]

(२) ये जलाशय मात्र में रहते हैं -

तुलसीदास ने इस कवि समय का वर्णन पम्पा सरोवर के सन्दर्भ में किया है -

पुनि प्रभु गए सरोवर तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा।।[२]

चढ़ि गिरि सिखर चहुँ दिसि देखा। भूमि बिबर कौतुक देखा।।[३]
चक्रवाक बक हंस उडाहीं। बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं।।

(३) इस पक्षी में नीर को क्षीर से पृथक कर देने की क्षमता है -

तुलसीदास ने इस कवि समय का प्रयोग अयोध्याकाण्ड में भरत के माध्यम से किया है -

भरत बिनय सुनि सबहिं प्रसंसी। खीर नीर बिबरन गति हंसी।।[४]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ९, पृ० [illegible]
२. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० [illegible]
३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० [illegible]
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० [illegible]

(४) हंस केवल मोती चुगता है -

इस कवि समय का वर्णन भी अयोध्याकाण्ड में हुआ है ।

> जसु तुम्हार मानस विमल हंसिनि जीहा जासु ।।[१]
> मुक्ताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु ।।

(२) चकोर —

इसके सम्बन्ध में तीन कवि समय मिलते हैं ।

(१) चन्द्र दर्शन
(२) चन्द्रिका पान
(३) अंगारे चुगना

चन्द्रदर्शन -

चकोर चन्द्रमा की छवि का दर्शन करके ही अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है ।

> रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु ।।[२]
> सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु ।।

चन्द्रिकापान -

तुलसीदास ने इस कवि समय का भी प्रयोग किया है -

> रामकथा ससि किरन समाना संत चकोर करहिं जेहि पाना ।।[३]
> ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी । महादेव तब कथा बखानी ।।

(३) चातक —

इसके बारे में दो कवि समय प्रसिद्ध हैं -

(१) चातक के प्रेम
(२) स्वाती-बूँद का सेवन

---

१. रामचरितमानस, दोहा १२ , पृ० [illegible]
२. रामचरितमानस, दोहा ३२, पृ० [illegible]
३. रामचरितमानस, दो० ४, पृ० [illegible]

(१) बादल से प्रेम—

बातक बल की अभिलाषा में मेघों की ओर टकटकी लगाए देखता रहता है -

(क) तुलसी बातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह ।।[1]

(ख) उपल बरषि गरजत तरजि रत कुलिस कठोर ।।
चितव कि बातक मेघ तजि कबहुं दूसरी ओर ।।[2]

(२) स्वाति-बूंद का सेवन—

ऐसी कवि प्रसिद्धि है कि बातक केवल स्वाती नक्षत्र की बूंद का ही सेवन करता है अन्यथा प्यासा ही रह जाता है । इसी आस में वह बादल की ओर देखता रहता है । उसका बादल से प्रेम प्रसिद्ध है -

तुलसी बातक माँगनो एक एक घन दानि ।।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूंटक पानि ।।[3]

(४) चक्रवाक -

इसके विषय में दो कवि प्रसिद्धियाँ हैं —
(१) निशा से द्रोह
(२) सूर्य और दिन से उसका अनुराग

निशा से द्रोह -

तुलसीदास ने इसका प्रयोग अयोध्याकाण्ड में किया है । राम-वन-गमन के प्रसंग में जब सीता जी भी साथ चलने के लिए कहती हैं तब रामचन्द्र जी की सीख में तुलसीदास ने इसका प्रयोग किया है -

---

१. रामचरितमानस, दोहा २६४, पृ० ६६
२. रामचरितमानस, दोहा २८३, पृ० ६६
३. रामचरितमानस, दोहा २८७, पृ० ६७

(क) सीतल सिख दाहक भइ कैसें । चकइहि सरद चंद निसि जैसे ।।[१]

(ख) चक्रवाक मन दुख निसि देखी । जिमि दुर्जन पर संपति देखी ।।[२]

(५) कोकिल --

(क) कूजत पिक मानहुं गज माते । ठेक महोरव ऊंट बिसराते ।[३]

(ख) कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं । सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ।।[४]

अन्य जीव जन्तु— मकर

तुलसीदास ने मकर का वर्णन सुन्दरकाण्ड में इस प्रकार किया है—

(क) मकर उरग झष गन अकुलाने । जरत जंतु जलनिधि जब जाने ।।[५]

(ख) मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह ।[६]

मछली —

तुलसीदास ने मछली का वर्णन भी किया है ।

(क) सुखी मीन जे नीर अगाधा । जिमि हरि सरन न एकउ बाधा ।।[७]

(ख) जल संकोच बिकल भईं मीना । अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना ।।[८]

(ग) देउ आपने हाथ जल मीनहि माहुर घोरि ।।
तुलसी जिये जो बारि बिनु तौ तु देहि कबि खोरि ।।[९]

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ५३३
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ७७६
३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ७७३
४. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ७४६
५. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ८५५
६. दोहावली, दोहा ३१८, पृ० १०७
७. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ७०६
८. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ७७५
९. दोहावली, दोहा ३१७, पृ० १०६

जुगनू —

बालि का वध और सुग्रीव को राज्य देने के पश्चात् श्रीराम पर्वत पर आकर टिक जाते हैं । वहां की मनोहर छटा का वर्णन करने में तुलसीदास ने इन जीव जन्तुओं का वर्णन किया है -

निसि तम घन खद्योत बिराजा । जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा ।।[1]

मेढ़क —

दादुर धुनि चहु दिसा सुहाई । बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई ।।[2]

मच्छर —

मानक दंस बीते स्थि जासा । जिमि द्विज द्रोह किएँ कुल नासा ।।[3]

सर्प —

(क) तुलसी मनि निज दुति फनिहि व्याधहि देउ दिखाइ ।
बिछुरत होइ न आंधरो ताते प्रेम न जाइ ।।[4]

(ख) रानि कुचालि सुनत नरपालहि । सूझ न कछु जस मनि बिनु व्यालहि ।।[5]

सुन्दरकाण्ड के इस दोहे में भी सर्प का वर्णन है ।

मोर —

तनु बिचित्र कायर बचन अहि अहार मन घोर ।[6]

वनस्पति वर्ग -

तुलसीदास ने जिन वृक्षों और वनस्पतियों का वर्णन किया है वे

१-२ रामचरितमानस, चौ० ३, १, पृ० ७७३
३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ७७६
४. दोहावली, दोहा ३१५, पृ० १०५
५. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ४२८
६. दोहावली, दोहा १०७, पृ० ४४

निम्नलिखित हैं—

(१) पदम—

विष्णुस्वरूप ने इससे सम्बन्धित चार कवि समयों का वर्णन किया है -

१- यह नदी और समुद्र में होता है ।

२- यह केवल दिन में विकसित होता है ।

३- हेमन्त और शिशिर को छोड़कर अन्य सब ऋतुओं में होता है ।

४- इसके कुड्मल हरे नहीं होते ।

१- यह नदी और समुद्र में होता है -

राजशेखर ने भी अपनी काव्य मीमांसा में इस कवि समय का प्रयोग किया है -

दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटित कमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ।।[१]

तुलसीदास ने भी इस कवि समय का प्रयोग किया है -

बहुरंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजार ही ।।[२]

२- हेमन्त और शिशिर को छोड़कर अन्य सब ऋतुओं में होता है -

हेमन्त और शिशिर में जाड़े के कारण यह कुम्हला जाता है—[३]

(क) धर्म सकल सरसीरुह वृंदा । सोक हिमनिहि दहहुत मंदा ।।

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० १६२

२. रामचरितमानस, छन्द, पृ० १०५५

३. रामचरितमानस, पृ० ७५०

(ख) जरत तुहिन लखि बनज बन रबि दै पीठि पराउ ।[1]
उदय बिकस अथवत सकुच मिटै न सहज सुभाउ ।।

नीलोत्पल—

राजशेखर ने इसका वर्णन भी कवि मीमांसा में किया है—
कुवलयवनकान्त्या जाह्नवी सो म्यपश्यत् ।[2]
दिनपतिसुतयेव व्यक्त दन्ताङ्क कपालीम् ।।

नीलोत्पल के बारे में कवि समय है कि ये नदी और समुद्र में होता है तथा दिन में विकसित होता है ।

कुमुद—

विष्णु स्वरूप-अनुसार इसके बारे में दो कवि समय है -
(१) यह नदी और समुद्र में होता है ।
(२) केवल रात्रि में विकसित होता है ।
राजशेखर ने भी 'नदीकुमुदाद्यपि' कहा है ।

(१) नदी वर्णन—
(क) फूलें कमल सोह सर कैसा । निर्गुन ब्रह्म सगुन भएं जैसा ।।[3]
(ख) बीच बाट उपवन बर सर बिगसित बहु कंज ।।[4]

(२) केवल रात्रि में विकसित होने का वर्णन तुलसीदास ने बहुत सुन्दर ढंग से अप्रस्तुत के माध्यम से किया है -
सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन ।।[5]

कुन्द—

तुलसीदास ने कुन्द को उज्ज्वलता में वर्णित किया है ।
कुंद इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन ।[6]

१, रामचरितमानस,दोहा पृ० १०६ ४, रामचरितमानस,दोहा २४,पृ० ७८६
२, राजशेखर,काव्यमीमांसा, पृ० १६२ ५, रामचरितमानस,सोरठा,२६४,पृ० २७९

वर्णविषयक कवि समय

वर्ण मुख्यरूप से दो प्रकार के माने गए हैं। श्याम और गौर वर्ण।

तुलसीदास ने सर्वत्र राम को श्याम वर्णी ही दर्शाया है और लक्ष्मण को गौर वर्ण।

श्रीराम को केशवदास ने भी कविप्रिया में श्यामवर्णी कहा है --

रामचन्द्र, घन, द्रौपदी, सिंधु, असुर, तम, चौर ॥[1]

श्याम वर्ण का उल्लेख राजशेखर ने भी किया है।

मानस में तुलसी के अनुसार --

(क) श्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥[2]

(ख) नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ॥
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥[3]

(ग) श्याम गौर सुन्दर दोउ भाई ॥[4]

(घ) राजत राज समाज महुँ कोसलराज किसोर ॥
सुंदर स्यामल गौर तन बिस्व बिलोचन चोर ॥[5]

तुलसीदास ने सीता जी के गौर वर्ण का वर्णन शरद, चन्द्र, कुन्द इत्यादि के माध्यम से किया है। माता रूप में मानने के कारण सीता का रूप वर्णन तुलसीदास ने नेति-नेति कहकर इति कर दिया है।

---

१. केशवदास, कविप्रिया, पृ० ४६

२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २३७

३. रामचरितमानस, दोहा १४६, पृ० १५८

४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० २१८

५. रामचरितमानस, दोहा २४२, पृ० २५०

संख्या-विषयक कविसमय—

संख्या-विषयक कविसमयों में हम इन दो से सम्बन्धित कवि समयों का वर्णन करते हैं ।

भुवन -- इसके विषय में तीन, सात और चौदह संख्याओं का उल्लेख है ।

चौदह -- सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू । जरइ भुवन चारिदस आसू ।।
सक संग्राम जीति को ताही । सेवहिं सुर नर अग जग जाही ।।[१]

तीन—

(१) सिंघासन पर त्रिभुअन साईं । देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं ।।[२]

(२) तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना । आन जीव पाँवर का जाना ।।[३]

दिशायें—

इसके विषय में चार, आठ और दस संख्याओं का उल्लेख है ।
तुलसीदास के अनुसार दस दिशा का वर्णन—
बिधि कैकेई किरातिनि कीन्ही । जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही ।।[४]

चार दिशा — खाईं सिंधु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव ।
कनक कोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव ।।[५]

आकाश वर्ग—

विष्णुस्वरूप ने आकाश वर्ग में ज्योत्सना और अन्धकार इन दो को लिया है ।

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ६२१
२. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १०३२
३. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १२५
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ४५०
५. रामचरितमानस, दोहा १७८, पृ० १८७

ज्योत्सना के बारे में दो कवि समय प्रसिद्ध है -

(१) यह अँजलि ग्राह्य होता है ।

(२) कृष्णपक्ष में इसका अभाव रहता है ।

इस द्वितीय कवि-समय की व्याख्या तुलसीदास इस प्रकार करते हैं --[१]

लागति अवध भयावनि भारी । मानहुँ कालराति अँधियारी ।।

अंधकार --

कवि समयानुसार शुक्लपक्ष में इसका आभाव रहता है । ये भी उसी प्रकार है जैसे कृष्ण पक्ष में चांदनी का आभाव ।

नौमी तिथि मधु मास पुनीता । सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता ।।[२]

रत्न वर्ग --

विष्णु स्वरूप के अनुसार दो कवि समयों का उल्लेख है -

(१) पर्वत मात्र में सुवर्ण रत्नादि का वर्णन ।

(२) सर्वत्र समुद्र में रत्नों का वर्णन ।

तुलसी-काव्य में सुवर्ण रत्नादि का वर्णन इस तरह मिलता है --

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ।।

x x x

सागर निज मरजादा रहहीं । डारहीं रत्न तटन्हि नर लहहीं ।।

समुद्र में रत्न का वर्णन -

सुन्दरकाण्ड में इसका वर्णन देखने को मिलता है --

कनक थार भरि मनि गन नाना । बिप्र रूप आयउ तजि माना ।।

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ४५०

२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २००

(घ)

वर्णक एवं भक्तिकाव्य

वर्णनात्मक विवेचन

आचार्यों ने अपने ग्रन्थ में 'वर्णक' की व्यवस्थित चर्चा की है। इसमें सर्वप्रथम आचार्य केशव मिश्र आते हैं, जिन्होंने 'अलंकार शेखर' नामक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा और दूसरे हैं आचार्य केशवदास, जिन्होंने कविप्रिया नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें प्रथम ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया है और दूसरा हिन्दी में।

सम्भवत: कवि शिक्षा का इतिहास भामह की कृति 'काव्यालंकार' से भी प्रारम्भ हुआ हो सकता है, क्योंकि भामह ने काव्यालंकार के पंचम परिच्छेद में कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है। वर्णक का प्रयोग कवि, काव्य को सरस और ललितपूर्ण बनाने के लिए करता है। साथ ही साथ काव्य की विषय वस्तु को क्रमबद्धता प्रदान करने के लिए भी प्रयुक्त होता है। वर्णक का अभिप्राय काव्य रचना के अन्तर्गत वर्णन के उद्देश्य से प्रयुक्त होने वाले रूढ़ उपादानों से है।

वर्णक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कवि शिक्षा प्रकरण से ही सम्बद्ध दिखाया गया है। इन ग्रन्थों में वर्णक की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या नहीं मिलती वरन् ये कवि शिक्षा के साथ संकेत रूप में दृष्टिगोचर हुए हैं। वर्णकों का प्रयोग आचार्यों ने कलात्मक सजगता का कविता में प्रवेश तथा उसे ललित बनाने हेतु किया है।

कवियों ने अपने काव्य को गति देने के लिए जहाँ आवश्यक समझा वहाँ इन वर्णकों का सहारा लिया है। रामचरितमानस में हम वर्णकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाते हैं। वर्णकों के प्रयोग में हम तुलसीदास को परम्परावादी कह सकते हैं जो वस्तुत: सत्य भी है। वर्णकों के प्रयोग में उन्होंने कवि परम्परा का बहुलता से अनुसरण किया है।

वर्णक से अभिप्राय उन शब्दों से है जो काव्य में प्राचीन समय से प्रयोग होते आ रहे हैं, और जिनका वर्णन काव्य का आवश्यक अंग है। इन वर्णकों के माध्यम से कवि अपने काव्य को अत्याधिक प्रभावशाली और सुन्दर बनाता है।

हम इन वर्णकों को वर्णन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में बांट लेते हैं और इसी आधार पर हम इन वर्णकों को प्रस्तुत करेंगे ।

(१) व्यक्तिगत सम्बन्धित वर्णक
(२) वस्तुवर्णन सम्बन्धित वर्णक
(३) कार्य व्यापार सम्बन्धित वर्णक
(४) रूप वर्णन सम्बन्धित वर्णक
(५) प्रकृति वर्णन सम्बन्धित वर्णक
(६) विविध वर्णन सम्बन्धित वर्णक

व्यक्तिगत सम्बन्धित वर्णक :

(१) राजा —

राजा के वर्णन में धीरता, गम्भीरता, वीरता, विवेकशीलता, धर्म-परायणता, कीर्ति, प्रताप इत्यादि गुणों को स्थान दिया गया है । तुलसीदास ने भी इन सभी विशेषताओं का वर्णन किया है । राजा सत्यकेतु, प्रतापभानु और दशरथ में यह सभी गुण देखने को मिल जाते हैं, यद्यपि एक ही स्थान पर ये सभी गुण नहीं मिलते तथापि अलग-अलग सभी गुण दिखायी दिए हैं ।

अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ ॥[1]
बिस्व बिदित एक कैकय देसू । सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू ॥[2]
धरम धुरंधर नीति निधाना । तेज प्रताप सील बलवाना ॥[3]
स्ववस बिस्व करि बाहुबल । निज पुर कीन्ह प्रबेसु ॥[4]
करि पूजा भूपति अस भाषा । धरिअ नाम जो मुनि गुनि गावा ॥[5]
राज समाज बिराजत रूरे । उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे ॥[6]

---

१. रामचरितमानस, दोहा १८७-४, पृ० १९८
२-३. रामचरितमानस, चौपाई १-२, पृ० १६५
४. रामचरितमानस, दोहा १५४, पृ० १६५
५. रामचरितमानस, चौपाई २, पृ० २०६
६. रामचरितमानस, ,, २, पृ० २४८

(२) रानी —

आचार्य केशवदास के अनुसार रानी को सुन्दरी, सुख देने वाली, पतिव्रता, शुचिरुचि, शीलवती, समान, सज्ञ और सुबुद्धि निधान वर्णन करना चाहिए ।

तुलसीदास ने भी इसका संकेत किया है ।

कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत ।।[1]

मंदिर महँ सब राजहिं रानी । सोभा सील तेज की खानीं ।।[2]

(३) राजकुमार —

केशवदास ने राजकुमार को विविध विद्याओं का ज्ञाता विनोदप्रिय, शीलवान, आचारवान, सुन्दर, सूर, उदारवान और सामर्थ्यशाली कहा है।[3] गोस्वामी जी ने भी श्री रामसहित चारों भाइयों में इसका वर्णन किया है । श्री राम को तो बहुत छोटी अवस्था से ही धनुष-बाण लेकर शिकार करते हुए दिखाया गया है ।

राजकुँवर तेहि अवसर आए । मनहुँ मनोहरता तन छाए ।
गुन सागर नागर बर बीरा । सुंदर स्यामल गौर सरीरा ।।[4]

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ।।
पावन मृग मारहिं जानी । दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी ।।[5]

जे मृग राम बान के मारे । ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ।[6]
करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा ।।[7]

---

१. रामचरितमानस, दो० १८८, पृ० १९८
२. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १९९
३. केशवदास, कविप्रिया, पृ० ११८ व्याख्याकार - श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी
४. रामचरितमानस, चौपाई १, पृ० २५८
५. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २१३
६. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २१४   ७. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० २१३

(४)राजकन्या —

राजकन्या को परम सुन्दरी, शीलवान, सुलक्षणी के रूप में वर्णित किया गया है। तुलसीदास ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। उन्होंने हिमालय कन्या उमा और राजा जनक की चारों कन्याओं का वर्णन किया है -

सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी।[१]

कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभामई।
सब रीति प्रीति समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई।।[२]

जानकी लघु भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै।।
जेहि नामु श्रुतकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप सील उजागरी।।[३]

(५) गुरु —

गुरु को कुल पूज्य, सर्वत्र, कुल शुभचिन्तक माना गया है। मानस में तुलसीदास ने भी इसी उद्देश्य से सर्वप्रथम गुरु के चरणों की वन्दना की है।

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।[४]

मानस में अयोध्या के राजा दशरथ के राज्य के कुल गुरु, गुरु वशिष्ठ का वर्णन है और जनकपुर में शतानन्द जी का वर्णन है —

गुरु बसिष्ट कुलपूज्य हमारे।[५]

---

१. रामचरितमानस, चौपाई ४, पृ० ८०

२-३. रामचरितमानस, छन्द २-३, पृ० ३३२

४. रामचरितमानस, सोरठा ५, पृ० ३

५. रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० १०२७

(६) पुरोहित —

केशवदास ने पुरोहित को राजा का हितैषी, वेद का ज्ञाता, सत्यवक्ता, पवित्र, उपकारी, कुल में लीन, सीधे स्वभाव वाला होना बताया है। तुलसीदास ने इन सब गुणों से युक्त गुरु वशिष्ठ और गुरु शतानन्द जी का वर्णन किया है —

उपरोहितहि कहेउ नरनाहा। अब बिलंब कर कारनु काहा॥[१]
सतानंद तब सचिव बोलाए। मंगल सकल साजि सब ल्याए॥

(७) मन्त्री —

तुलसीदास ने मंत्री के लिए 'सयाना' शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य केशवदास ने मंत्री के लिए राजनीति का ज्ञाता, राजभक्त, पवित्र मन वाला, श्रेष्ठ कुलीन, धर्मशील, शूर, वृद्ध और शील युत होना बताया है। तुलसीदास का यह सयाना शब्द अपने में इन सारी खूबियों को समेटे हुए है। मानस में प्रतापभानु के मंत्री धरम रुचि और रावण के मंत्री माल्यवंत का वर्णन आया है। इसके साथ ही साथ अयोध्या के मंत्री सुमन्त्र का भी वर्णन किया गया है —

नृप हितकारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना।[२]

सचिव धरमरुचि हरि पद प्रीती। नृप हित हेतु सिखव नित नीती॥[३]

माल्यवंत मंत्री अति बूढ़ा।[४]

माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्री बर॥[५]

राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदरु कीन्ह पिता सम लेखा॥

---

१. रामचरितमानस, चौपाई १, पृ० ३१५
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १६४
३. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १६५
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ८८४
५. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ४१४

निरखि बदनु कहि भूप रजाई । रघुकुलदीपहि चलेउ लेवाई ।।
रामु कुभाँति सचिव संग जाहीं । देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं ।।[1]

(८) मित्र --

मित्र की व्याख्या तो किष्किन्धाकाण्ड में हुयी है --
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ।।[2]

(९) ब्राह्मण --

तुलसीदास ने ब्राह्मणों को पृथ्वी का देवता और पूज्य बताते हुए उनके चरणों की वन्दना की है --

बंदउं प्रथम महीसुर चरना ।[3]

(१०) संत --

तुलसीदास ने संतों की भी वन्दना की है उन्हें गुणों की खान बताते हुए जगत का चलता-फिरता तीर्थ कहा है --

सुजान समाज सकल गुन खानी । करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।।[4]

साधु चरित सुभ चरित कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ।।[5]

मुद मंगलमय संत समाजू । जो जग जंगम तीरथराजू ।[6]

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु ।[7]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ४०६
२ रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ७६३
३,४. रामचरितमानस, चौ० २, ३, पृ० ४
५. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ५
६. रामचरितमानस, चौ० ७, पृ० ५
७. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ६

(११) वैद्य —

वैद्य का वर्णन भी तुलसीदास ने किया है --

जामवंत कह बैद सुषेना । लंका रहइ को पठई लेना ।।[1]

(१२) सेवक —

तुलसीदास ने सेवक का वर्णन कई स्थलों पर किया है । किष्किन्धा-काण्ड में हनुमान श्रीरामचन्द्र को पहचानकर उनसे विनती करते हुए कहते हैं --

सेवक सुत पति मातु भरोसें । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ।।[2]

सुनि सेवक दुख दीनदयाला । फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला ।।[3]

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ।।[4]

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।।[5]

(१३) दूत —

केशवदास के अनुसार जो दूत अपने राज्य का तेज बढ़े और वैरियों के हृदय में दुख हो, इसका विचार रखे, संकेत को समझने वाला हो, समयानुसार गुण अवगुण का पारखी, तथा लालच रहित हो, उसी का वर्णन करना चाहिए । मानस में हनुमान दूत का ही काम करते हैं ।

तात मोर अति पुन्य बहूता । देखेउँ नयन राम कर दूता ।।[6]

तासु दूत तुम्ह तजि कदराई । राम हृदयँ धरि करहु उपाई ।।[7]

अवसि दूतु मैं पठइब प्राता । ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता ।।[8]

पहुँचे दूत राम पुर पावन ।[9]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ६२२
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ७५६
३. रामचरितमानस, चौ० ७, पृ० ७६२
४-५ रामचरितमानस, चौ० ४,३, पृ० ७५६
६. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ७८६
७. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ७८६
८. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ४०१
९. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २६५

वस्तु वर्णन सम्बन्धित वर्णक—

तुलसी साहित्य में आए हुए हम कुछ मुख्य वस्तु वर्णकों का यहाँ वर्णन कर रहे हैं —

(१) देश —

बोले मुनिबरु बचन बिचारी । देस काल अवसर अनुहारी ।।[1]

(२) नगर—

तुलसीदास ने मानस में तीन नगरों का वर्णन किया है --

(१) अयोध्या (२) मिथिला (३) लंका

बनइ न बरनत नगर निकाई । जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई ।।[2]

x x x

पुर रम्यता राम जब देखी । हरषे अनुज समेत बिसेषी ।।[3]

नगर का वर्णन केशवदास ने भी किया है -

खाँई कोट, अटा, ध्वजा, बापी, कूप, तड़ाग
बारनारि, असती, सती, बरणहुं नगर सभाग ।।[4]

तुलसीदास ने इन सभी भागों का अलग-अलग वर्णन किया है ।

(३) राज्य—

राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज ।।[5]

x x x

रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड ।
जरत बिभीषण राखेउ दीन्हेउ राजु अखंड ।।[6]

१, रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ६१६
२,३ रामचरितमानस, चौ० १,३,पृ० २२२
४, रामचरितमानस, , पृ० ६४
५, रामचरितमानस, दोहा ११, पृ० ७३०
६, रामचरितमानस, दोहा ४९, पृ० ८४५

(४) दुर्ग —

तुलसीदास ने इस वर्णक का भी प्रयोग किया है —

चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर । जय रघुवीर प्रताप दिवाकर ।।[१]

जानत परम दुर्ग अति लंका । प्रभु प्रताप कपि चले असंका ।।[२]

(५) गढ़ —

इसका वर्णन लंकाकाण्ड में अधिक हुआ है —

पवनतनय मन भा अति क्रोधा । गर्जेउ प्रबल काल सम जोधा ।।
कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा । गहि गिरि मेघनाद कहुँ धावा ।।[३]

कछु मारे कछु घायल कछु गढ़ चढ़े पराइ ।[४]

(६) बाजार —

बाजार का वर्णन बालकाण्ड के जनकपुरी में हुआ है —

चारु बजारु विचित्र अँबारी । मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी ।।[५]
धनिक बनिक बर धनद समाना । बैठे सकल बस्तु लै नाना ।।[६]

ध्वज पताक पट चामर चारु । छावा परम बिचित्र बजारू ।।[७]

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ६०८
२. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ६०५
३ रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ६०६
४. रामचरितमानस, दो० ४७, पृ० ६१४
५,६. रामचरितमानस, चौ० १, २, पृ० २२२
७. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३००

(७) गली—

बीथीं सींचीं चतुरसम चौकें चारु पुराइ ।।[१]

बीथीं सकल सुगंध सिंचाईं । गजमनि रचि बहु चौक पुराईं ।।[२]

(८) चौराहे—

चौहट सुंदर गलीं सुहाईं । संतत रहहिं सुगंध सिंचाईं ।।[३]

(९) दरवाजे—

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा । भूप भीर नट मागध भाटा ।।[४]

निज दल बिकल सुना हनुमाना । पच्छिम द्वार रहा बलवाना ।।[५]

(१०) किला —

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी । बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी ।।[६]

(११) खाई —

खाईं सिंधु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव ।[७]

(१२) आंगन —

बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई ।[८]

---

१. रामचरितमानस, दोहा २९६, पृ० ३००
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १०२८
३. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० २२२
४. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २२३
५. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ६०९
६. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ६०५
७. रामचरितमानस, दो० १७८, पृ० १८६
८. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३०२

(१३) सरिता —

ये वर्णन जनकपुर में हुआ है —

बापी कूप सरित सर नाना । सलिल सुधासम मनि सोपाना ।[१]

(१४) समुद्र —

सिंहनाद करि बारहिं बारा । लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा ।।[२]

एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर ।[३]

(१५) सेतु —

अति उतंग गिरि पादप लीलहिं लेहिं उठाइ ।
आनि देहिं नल नीलहि रचहिं ते सेतु बनाइ ।।[४]

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा । देखि कृपानिधि के मन भावा ।।[५]

(१६) पर्वत —

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा । उतरे सेन सहित अति भीरा ।।
सिखर एक उतंग अति देखी । परम रम्य सम सुभ्र बिसेषी ।।[६]

(१७) पृथ्वी —

चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे ।[७]

(१८) शिला —

मंगलरूप भयउ बन तब ते । कीन्ह निवास रमापति जब ते ।। [८]
फटिक सिला अति सुभ्र सुहाई । सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई ।।

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० २२२
२. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ७६०
३. रामचरितमानस, दोहा ३४, पृ० ८३१
४. रामचरितमानस, दोहा १, पृ० ८४१
५. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ८४३
६. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ८७७
७. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ८३१
८. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ७७९

(१९) घुड़शालें —

बनी बिसाल बाजि गज साला । हय गय रथ संकुल सब काला ।।[1]

(२०) मंदिर —

मानस में तुलसीदास ने मंदिर का वर्णन तीन जगह किया है --

(क) सर समीप गिरिजा गृह सोहा । बरनि न जाइ देखि मनु मोहा ।।[2]

(ख) भवन एक पुनि दीख सुहावा । हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा ।।[3]

(ग) तीर तीर देवन्ह के मंदिर चहुँ दिसि तिन्हके उपवन सुंदर ।।[4]

कार्य-व्यापार सम्बन्धित वर्णक —

कार्य व्यापार के अन्तर्गत आए हुए हम मानस के उन वर्णकों का वर्णन करते हैं जिसे किसी क्रिया या कार्य का बोध होता है । जैसे -- उत्सव, युद्ध, शिकार, तपस्या, पुत्रजन्मोत्सव, विवाह उत्सव व इत्यादि ।

१- पुत्रजन्मोत्सव —

तुलसीदास ने मानस में श्री राम का जन्म भव्य रूप से वर्णित किया है --

(क) नौमी तिथि मधु मास पुनीता । सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता ।।[5]
मध्यदिवस अति सीत न घामा । पावन काल लोक बिश्राम ।।

(ख) सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम ।।[6]
जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम ।।

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २२३
२ रामचरितमानस, चौ० २, पृ० २३६
३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ६००
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १०५४
५-६. रामचरितमानस, चौ० १, दोहा - १९१, पृ० २००

(ग) भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ।।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।।[1]
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी ।।

पुत्रजन्मोत्सव में तोरण वर्णन—

ध्वज पताक तोरन पुर छावा । कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ।।[2]

(२) बाल्यलीला—

इसमें श्री राम की बाल लीलाओं का वर्णन किया गया है । उनका ठुमुक-ठुमुक कर चलना, तुतला कर बोलना इत्यादि । सूरदास ने जितना वृहद वर्णन श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का सूरसागर में किया है उतना तुलसीदास नहीं कर पाए हैं, पर जो भी वर्णन उन्होंने बालरामरूप का किया है वह अत्यन्त सुखदायी है ।

(क) सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ।।[3]
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ।।

(ख) पीत झगुलिआ तनु पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ।।[4]

(ग) कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई ।।[5]

(घ) भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ।।[6]

३- विवाहोत्सव —

तुलसीदास ने मानस में मुख्य रूप से दो विवाहों का वर्णन किया है --
१- शिव-पार्वती २- राम-सीता

---

१. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० २०१
२ रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २०२
३-४ रामचरितमानस, चौ० ४,६, पृ० २०८
५,६ रामचरितमानस, चौ० ४, दोहा २०३, पृ० २१३

१. लग्नपत्रिका -

शिव पार्वती - लगन बाचि अज सबहि सुनाई । हरषे मुनि सब सुर समुदाई ।।[1]
सुमन वृष्टि नभ बाजन बाजे । मंगल कलस दसहुं दिसि साजे ।।

राम-सीता— मंगल मूल लगन दिनु आवा ।हिम रितु अगहनु मासु सुहावा ।।
ग्रह तिथि नखतु जोगु बर बारु ।लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू।।[2]

२- बारात --

शिव - कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा । चले बसहं चढ़ि बाजहिं बाजा ।।[3]

राम - (क) चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर लागी जुरन बराता ।[4]

(ख) हरषे बिबुध बिलोकि बराता । बरषहिं सुमन सुमंगल दाता ।।[5]

(ग) बनइ न बरनत बनी बराता । होहिं सगुन सुंदर सुभ दाता ।।[6]

(घ) जेहिं तुरंग पर रामु बिराजे । गति बिलोकि खग नायक लाजे ।।[7]

३. परछन --

शिव - कंचन थार सोह बर पानी । परिछन चली हरहि हरषानी ।।[8]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १०३
२. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ३१५
३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १०३
४ रामचरितमानस, दोहा २९६, पृ० ३०३
५. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३०६
६. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३१८
७. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १०७
८. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ३२१

राम - (क) को जान केहि आनंद बस सब ब्रह्मु बर परिछन चली ।।[1]

(ख) नयन नीरु हटि मंगल जानी । परिछनि करहिं मुदित मन रानी ।।[2]

४. <u>समधी मिलन --</u>

राजा दशरथ और राजा जनक का समधी मिलन भी तुलसीदास ने वर्णित किया है ।

(क) सामध देखि देव अनुरागे । सुमन बरषि जसु गावन लागे ।[3]

(ख) मिलत महा दोउ राज बिराजे । उपमा खोजि खोजि कबि लाजे ।।[4]

५. <u>कुलरीति पूना-पाठ --</u>

शिव - जसि बिवाह के बिधि श्रुति गाई । महामुनिन्ह सो सब करवाई ।।[5]

राम - तेहि अवसरु कर बिधि व्यवहारु । दुहुँ कुलगुर सब कीन्ह अचारु ।।[6]

६. <u>जनवासा --</u>

शिव -- लै अगवान बरातहि आए । दिए सबहि जनवास सुहाए ।।[7]

राम -- (क) करि पूजा मान्यता बड़ाई । जनवासे कहुँ चले लवाई ।।[8]

(ख) चले जहाँ दशरथ जनवासे । मनहुँ सरोवर तकेउ पिआसे ।।[9]

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३२१

२,३. रामचरितमानस, चौ० ३, १, पृ० ३२३

४. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३२३

५. रामचरितमानस, चौ० [illegible], पृ० ११३

६. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३२७

७. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १०७

८. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३०६

९. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३१०

७. विवाह के लिए श्रृंगार —

शिव — ससि ललाट सुंदर सिर गंगा । नयन तीनि उपबीत भुजंगा ।।
गरल कंठ उर नर सिर माला । असिव वेष सिवधाम कृपाला ।।[1]

राम— कोकि कंठ द्युति स्यामल अंगा । तड़ित विनिंदक बसन सुरंगा ।।
ब्याह बिभूषन बिबिध बनाए । मंगल सब सब भांति सुहाए ।।[2]

८. वेदी —

शिव — बेदी बेद बिधान सँवारी । सुभग सुमंगल गावहिं नारी ।।[3]

९. चौक —

चौकें भांति अनेक पुराई । सिंधुर मनिमय सहज सुहाई ।।[4]

१०. मंडप —

(क) रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल ।।[5]

(ख) रचहु बिचित्र बितान बनाई । सिर धरि बचन चले सचु पाई ।।[6]

११. अगवानी —

शिव— है अगवान बरातहि आए । दिए सबहि जनवास सुहाए ।।[7]

राम — देखि बनाव सहित अगवाना । मुदित बरातिन्ह हने निसाना ।।[8]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १०३
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३१८
३. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ११२
४. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० २९३
५,६ रामचरितमानस, दो० २८७, चौ० ३, पृ० २९२
७. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १०७
८. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ३०८

१२. जेवनार —

शिव — सो जेवनार कि जाइ बखानी । बरनहिं भवन जेहिं मातु भवानी ।[1]

राम — पुनि जेवनार भई बहु भाँती । पठए जनक बोलाइ बराती ।।[2]

१३. पान —

शिव — अचवाँइ दीन्हें पान गवने बास जहँ जाको रह्यो ।।[3]

राम — देइ पान पूजे जनक दसरथु सहित समाज ।[4]

१४. गाली गाना —

जेवनार के समय स्त्रियों के गाली गाने तक की रीति का वर्णन तुलसीदास ने किया है ।

शिव — नारिवृंद सुर जेवँत जानी । लगीं देन गारीं मृदु बानी ।।[5]

राम — (क) पंच कवल करि जेवन लागे । गारि गान सुनि अति अनुरागे ।।[6]

(ख) जेवँत देहिं मधुर धुनि गारी । लै लै नाम पुरुष अरु नारी ।।[7]

१५. मौर —

गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं ।[8]

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १११
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३२७
३. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ११२
४. रामचरितमानस, दोहा ३२९, पृ० ३३६
५. रामचरितमानस, चौपाई ४, पृ० १११
६. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३२८
७. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ३२९
८. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ३२६

१६. गठबंधन एवं भाँवरे—

(क) करि होमु बिधिवत गाँठि जोरी होन लागीं भावँरी ।।[1]

(ख) कुअँरु कुअँरि कल भावँरि देहीं । नयन लाभु सब सादर लेहीं ।।[2]

१७. सेंदुर—

राम सीय सिर सेंदुर देहीं । सोभा कहि न जाति बिधि केहीं ।।[3]

१८. कोहबर—

कोहबरहि आने कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै ।।[4]

१९. न्योछावर—

(क) करि आरती नेवछावरि करहीं । बार बार सिसु चरनन्हि परहीं ।।[5]

(ख) मनि बसन भूषन वारि आरति करहिं मंगल गावहीं ।[6]

२०. दहेज —

शिव— दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो ।।[7]

राम— दाइज अमित न सकिअ कहि दीन्ह बिदेहँ बहोरि ।[8]

---

१ रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ३३०
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३३०
३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३३१
४. रामचरितमानस, छन्द २, पृ० ३३६
५. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० २०३
६. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ३३६
७. रामचरितमानस, छन्द २, पृ० ११४
८. रामचरितमानस, दोहा ३३३, पृ० ३४३

२१. विदाई के समय कन्या को सीख देना—

पार्वती—करेहु सदा संकर पद पूजा । नारिधरमु पति देउ न दूजा ।।[१]

सीता— पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं । देइ असीस सिखावनु देहीं ।।
होएहु संतत पियहि पिआरी । चिरु अहिबात असीस हमारी ।।[२]

इस प्रकार तुलसीदास ने विवाह अवसर की सभी लोक-रीतियों का बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया है ।

२२. आरती—

(क) बैठारि आसन आरती करि निरखि बरु सुखु पावहीं ।।[३]

(ख) करहिं आरती आरतिहर कें । रघुकुल कमल बिपिन दिनकर कें ।।[४]

२३. मंगलचार गीत—

(क) संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार ।[५]

(ख) गावहिं मंगल मंजुल बानी सुनि कलरव कलकंठि लजानीं ।।[६]

२४. शिकार—

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ।।[७]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ११५
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३४३
३. रामचरितमानस, छन्द १, पृ० ३२२
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० १०२८
५. रामचरितमानस, दोहा २६३, पृ० २७०
६. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३००
७. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २१३

२५. राज्याभिषेक—

मानस में चार राज्याभिषेकों का वर्णन है, परन्तु उत्तरकाण्ड में श्री राम का राज्याभिषेक वर्णन अत्यन्त भव्य और मांगलिक रूप से वर्णित किया गया है । प्रथम तो अयोध्याकाण्ड में श्री राम के राज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन है --

बरनि राम गुन सीलु सुभाऊ । बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ ।।
भूप सजेउ अभिषेक समाजू । चाहत देन तुम्हहि जुबराजू ।।[१]

दूसरा राज्याभिषेक किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव का दर्शाया गया है—

लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्र समाज ।
राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज ।।[२]

तीसरा राज्याभिषेक लंकाकाण्ड में विभीषण का होता है—

तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना । कीन्ही जाइ तिलक की रचना ।।
सादर सिंहासन बैठारी । तिलक सारि अस्तुति अनुसारी ।।[३]

चौथा राज्याभिषेक उत्तरकाण्ड में श्री राम का होता है --
प्रथम तिलक बसिष्ट मुनि कीन्हा । पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा ।।
सुत बिलोकि हरषीं महतारी । बार बार आरती उतारी ।।[४]

युद्ध सम्बन्धी वर्णन --

केशवदास ने युद्ध सम्बन्धी वर्णन में इन सभी बातों का वर्णन आवश्यक

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ३८०
२. रामचरितमानस, दोहा ११, पृ० ७७०
३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ९९०
४. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १०४२

माना है --

सेना स्वन, सनाह, रज, साहस, शास्त्रप्रहार ।
अंग-भंग, संघट्ट भट, अंधकबन्ध अपार ॥
केशव बरणहु युद्ध में, यौगिनगणयुत रुद्र ।[1]
भूमि भयानक रुधिरमय सरवर सरितसमुद्र ॥

१- अनेक प्रकार के वाहनों के साथ सेना का प्रस्थान--

चलेउ निसाचर कटकु अपारा । चतुरंगिनी अनी बहु धारा ॥
बिबिध भाँति बाहन रथ जाना । बिपुल बरन पताक ध्वज नाना ॥[2]

२- सुसज्जित सेना--

अति बिचित्र बाहिनी बिराजी । बीर बसंत सेन जनु साजी ॥[3]

३- सेना का बाजे-गाजे के साथ बढ़ना--

ढोल और नगाड़े बजाते हुए उनकी भीषण ध्वनि के साथ रावण की सेना आगे बढ़ती है --

(क) चलत निसान घोर रव बाजहिं । प्रलय समय के घन जनु गाजहिं ॥[4]

(ख) भेरि नफीरि बाज सहनाई । मारू राग सुभट सुखदाई ॥
केहरि नाद बीर सब करहीं । निज निज बल पौरुष उच्चरहीं ॥[5]

४- दोनों तरफ की सेना का अपने पक्ष की जयजयकार--

(क) दुहु दुहु दिसि जय जयकार करि निज निज जोरी जानि ।[6]
भिरे बीर इत रामहि उत रावनहि बखानि ॥

(ख) जय राम रावन मत्त गज मृगराज सुजसु बखानहीं ॥[7]

---

१. केशवदास, कविप्रिया, पृ० १२६

२,३, ४ रामचरितमानस, चौ० १, ३, ४, पृ० ६५०

५,६, ७ रामचरितमानस, चौ० ५, दोहा ७,८,छन्द १, पृ० ६५१

५- योद्धाओं का वर्णन—

सुभट समर रस दुहु दिसि माते । कपि जयसील राम बल ताते ।।[१]

६- रुधिर —

(क) रुधिर गाड़ भरि भरि जम्यो ऊपर धूरि उड़ाइ ।
जनु अंगार रासिन्ह पर मृतक धूम रह्यो छाइ ।।[२]

(ख) सोनित स्रवत सोह तनु कारे । जनु कज्जल गिरि गेरु पनारे ।।[३]

७- रुधिर नदी—

(क) कादर भयंकर रुधिर सरिता चली परम अपावनी ।।[४]

(ख) स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी । सोनित सरि कादर भयकारी ।।[५]

८- अग्नि बाण—

पावक सर छाँड़िउ रघुबीरा, छन महुँ जरे निसाचर तीरा ।।[६]

९- रावण का अपने मुख अपना यशगान —

रावन नाम जगत जस जाना । लोकप जाकें बंदीखाना ।।[७]

१०- श्रीराम का अपने को रावण से भी बड़ा रावण कहना—

आजु करउँ खलु काल हवाले । परेहु कठिन रावन के पाले ।।[८]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ६५२
२. रामचरितमानस, दोहा ५३, पृ० ६२०
३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ६३७
४,५ रामचरितमानस, छन्द , चौ० ५, पृ० ६६२
६. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ६६७
७,८ रामचरितमानस, चौ० २, ४, पृ० ६६६

रूपवर्णन सम्बन्धित वर्णक—

इसके अन्तर्गत हम तुलसी साहित्य में आए हुए श्रीराम के शिशु रूप वर्णक, पुरुष रूप, सीता रूप, श्रीराम और सीता का नखशिख वर्णन करेंगे।

१. राम का शिशुरूप वर्णन—

(क) कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई।।[1]

(ख) धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए।।[2]

(ग) भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ।[3]

२. पुरुष रूप वर्णन—

(क) तिन्ह सब छयल भए असवारा। भरत सरिस बय राजकुमारा।।[4]

(ख) लखनु सत्रुसूदन एकरूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा।।[5]

३. स्त्री रूप वर्णन—

(क) बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि। सब निज तन छबि रति मदु मोचनि।।[6]
पहिरें बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजें सरीरा।।

(ख) सकल सुमंगल अंग बनाएँ। करहिं गान कलकंठि लजाएँ।।[7]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० २९२
२,३ रामचरितमानस, चौ० ५, दोहा २०३, पृ० २९३
४. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३०२
५. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३१३
६. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३२०
७. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ३२०

४. श्रीराम का नख-शिख वर्णन—

यहाँ राम और लक्ष्मण दोनों का नख-शिख वर्णन है ।

(अ) रुचिर चौतनीं सुभग सिर मेचक कुंचित केस ।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस ।।[1]
यहां तुलसी ने राम का नख-शिख वर्णन किया है ।

(क) राम रूपु नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि ।[2]

(ख) सरद बिमल बिधु बदनु सुहावन। नयन नवल राजीव लजावन ।।
सकल अलौकिक सुंदरताई । कहि न जाइ मनहीं मन भाई ।।[3]

५. सीता जी का नखशिख वर्णन —

स्त्री रूप का नख-शिख वर्णन करने के लिए तुलसीदास कहीं ठहरते हुए दिखायी नहीं दिए हैं । सीता जी के रूप-वर्णन के लिए सभी उपमाएँ कवि को तुच्छ जान पड़ती हैं । गौरवर्णी, सुलोचनी, कमलमुखी कहते हुए वह आगे बढ़ गए हैं ।

पार्वती जी का रूपवर्णन --

(क) बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाईं । करि सिंगारु सखीं लै आईं ।।
देखत रूपु सकल सुर मोहे । बरनै छबि अस जग कबि को है ।।[4]

(ख) सुंदरता मरजाद भवानी । जाइ न कोटिहुँ बदन बखानी ।।[5]

---

१. रामचरितमानस, दोहा २१९, पृ० २२९
२. रामचरितमानस, दोहा २१५, पृ० २२७
३. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० २१८
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ११२
५. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ११३

सीता जी का रूप वर्णन—

(क) सिय सोभा नहिं जाइ बखानी । जगदंबिका रूप गुन खानी ।।[1]

(ख) सिय बरनिअ तेइ उपमा देई । कुकबि कहाइ अजसु को लेई ।।[2]

(ग) सिय सुंदरता बरनि न जाई । लघु मति बहुत मनोहरताई ।।[3]

(घ) सोहति बनिता बृंद महुं सहज सुहावनि सीय ।
छवि ललना गन मध्य जनु सुषमा तिय कमनीय ।।[4]

प्रकृति वर्णन सम्बन्धी वर्णक—

यहाँ हम तुलसी साहित्य में आए हुए प्राकृतिक वर्णकों का वर्णन करेंगे । जैसे - वन, पर्वत, समुद्र, सरिता इत्यादि ।

आचार्य केशवदास के अनुसार —

सुरभी, इभ, बनजीव बहु, भूतप्रेत भय भीर ।
भिल्लभवन, बल्ली, विटप, दव बन बरणहुँ धीर ।।[5]

इत्यादि का वर्णन बताया गया है ।

१. वन का वर्णन—

(क) जब तें आइ रहे रघुनायकु । तब तें भयउ बनु मंगलदायकु ।।
फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना । मंजु बलित बर बेलि बिताना।।[6]

(ख) सुरतरु सरिस सुभायँ सुहाए । मनहुँ बिबुध बन परिहरि आए ।।[7]

१,२ रामचरितमानस, दोहा १, २, पृ० २५५
३,४ रामचरितमानस, चौ० १,दो० ३२२,पृ० ३२६
५ केशवदास, कविप्रिया, पृष्ठ ६५
६,७ रामचरितमानस, चौपाई ३, ४, पृष्ठ ५०९

२. वन का रमणीय वर्णन—

सुंदर बन कुसुमित अति सोभा । गुंजत मधुप निकर मधु लोभा ।।[१]
कंद मूल फल पत्र सुहाए । भए बहुत जब ते प्रभु आए ।।

३. पेड़-पौधे —

मदार और जवासा का वर्णन --

(क) अर्क जवास पात बिनु भयऊ । जस सुराज खल उद्यम गयऊ ।।[२]

(ख) कदलि ताल बर धुजा पताका । देखि न मोह धीर मन जाका ।।[३]

(ग) बिबिध भाँति फूले तरु नाना । जनु बानैत बने बहु बाना ।।[४]

४. तुलसी के पौधे —

(क) तीर तीर तुलसिका सुहाई । बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई ।।[५]

(ख) रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ ।।[६]

५. कास फूल —

फूलें कास सकल महि छाई । जनु बरषाँ कृत प्रगट बुढ़ाई ।।[७]

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ७७१
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ७७३
३,४ रामचरितमानस, चौ० १,२, पृ० ७४२
५. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १०५५
६. रामचरितमानस, दोहा ५, पृ० ८००
७. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ७७४

६. बयार —

(क) गुंज मंजुर मधुकर श्रेनी । त्रिबिध बयारि बहइ सुखदेनी ।।[1]

(ख) बहइ सुहावन त्रिबिध समीरा । भइ सरजू अति निर्मल नीरा ।।[2]

७. चन्द्रमा —

पावकमय ससि स्रवत न आगी । मानहुँ मोहि जानि हतभागी ।।
प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा । सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा ।।[3]

८. ऋतु वर्णन—

शरदऋतु वर्णन —

(क) जानि सरद रितु खंजन आए । पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए ।।[4]

(ख) भूमि जीव संकुल रहे गए सरद रितु पाइ । सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ ।।[5]

(ग) बरषा गत निर्मल रितु आई । सुधि न तात सीता कै पाई ।।[6]

हेमन्त ऋतु वर्णन —

भइयँ सरोज बिपिन हिमराती

वर्षा ऋतु वर्णन —

(क) घन घमंड नभ गरजत घोरा । प्रिया हीन डरपत मन मोरा ।।
दामिनि दमक रह न घन माहीं । खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ।।[7]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ५०१
२. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० १०२९
३. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० २४५
४. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ७७५
५,६ रामचरितमानस, दोहा १७, चौ० १, पृ० ७७६
७. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ७७२

(ख) बरषहिं जलद भूमि निअराएँ । जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ ।।
बूंद अघात सहहिं गिरि कैसें । खल के बचन संत सह जैसें ।।[1]

(ग) सीतल मंद सुरभि बह बाऊ । हरषित सुर संतन मन चाऊ ।।
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा । स्रवहिं सकल सरिता मृतधारा ।।[2]

ग्रीष्म ऋतु वर्णन—

(क) गत ग्रीषम बरषा रितु आई । रहिहउँ निकट सैल पर छाई ।।[3]

(ख) ग्रीषम दुसह राम बनगवनू । पंथकथा खर आतप पवनू ।।[4]

९. संध्या —

संध्या समय जानि दससीसा । भवन चलेउ निरखत भुज बीसा ।।[5]

१०. सवेरा —

(क) नारि बचन सुनि बिसिख समाना । सभाँ गयउ उठि होत बिहाना ।।[6]

(ख) एहि बिधि जल्पत भयउ बिहाना । चहुँ दुआर लागे कपि नाना ।।[7]

११. समुद्र वर्णन—

(क) चढ़ि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा । भूमि बिबर एक कौतुक पेखा ।।
चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं । बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ।।[8]

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ७७२
२. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० २००
३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ७७९
४. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ५६
५. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ८७०
६. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १०३
७. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ९४९
८. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ८८२

(ख) प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि कहिहि उपाय बिचारि ।।[1]
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि ।।

(ग) संधानेउ प्रभु बिसिख कराला । उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ।।[2]

१२. पर्वत वर्णन —

गिरि ते उतरि पवनसुत आवा । सब कहुँ ले सोइ बिबर देखावा ।।[3]

१३. पृथ्वी —

(क) हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ ।
जिमि पाखंड बाद तें गुप्त होहिं सदग्रन्थ ।।[4]

(ख) भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहि माया लपटानी ।।[5]

१४. नदियाँ —

छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई । जस थोरेहुं धन खल इतराई ।।[6]

१५ सूर्योदय वर्णन —

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बालपतंग ।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग ।।[7]

---

१. रामचरितमानस, दो० १५०, पृ० ८४६
२. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० ८५५
३. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ७८३
४. रामचरितमानस, दोहा १४, पृ० ७७४
५-६ रामचरितमानस, चौ० ३ , पृ० ७७२
७. रामचरितमानस, दोहा २५४, पृ० २६२

१६. चन्द्रोदय वर्ण —

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक ।।[१]

विविध वर्णन सम्बन्धित वर्णक—

तुलसीदास ने हमेशा श्री राम को श्याम वर्णी ही कहा है ।

(१) श्याम वर्ण -

काम कोटि छबि श्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ।[२]

(२) गौर वर्ण -

लक्ष्मण के लिए गौर वर्ण का प्रयोग किया है ।

देखन बागु कुअँर दुइ आए । बय किसोर सब भाँति सुहाए ।।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।।[३]

(३) पीत वर्ण -

(क) पीत झगुलिआ तनु पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ।।[४]

(ख) तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि ।[५]

(४) अरुन वर्ण -

अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ।।[६]

---

१. रामचरितमानस, दो० ११, पृ० ८७२
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २०७
३. रामचरितमानस, चौ० १, पृ०२३७
४. रामचरितमानस, चौ० ६, पृ० २०८
५. रामचरितमानस, दो० १४७, पृ० १५६
६. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० २०७

(५) मधुर ध्वनि -

(क) सुर नर नारि सुमंगल गाईं । सरस राग बाजहिं सहनाईं ।।[१]

< < <

(ख) घंट घंटि धुनि बरनि न जाहीं । सरव करहिं पाइक फहराहीं ।।[२]

(६) पार्वती जी के नाम -

(क) कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी । सुता तुम्हारि सकल गुन खानी ।।[३]
सुंदर सहज सुसील सयानी । नाम उमा अंबिका भवानी ।।

< < <

(ख) जगदंबा जहं अवतरी सो पुरु बरनि कि जाइ ।
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख नित नूतन अधिकाइ ।।[४]

(७) श्री राम के अनेक नाम -

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।।[५]
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ।।

(८) मंगल के मूल -

दधि दुर्बा रोचन फल फूला । नव तुलसी दल मंगल मूला ।।[६]
भरि भरि हेम थार भामिनी । गावत चलिं सिंधुरगामिनी ।।

---

१. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० ३०५
२. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० ३०५
३. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ७८
४. रामचरितमानस, दो० ६४, पृ० १०६
५. रामचरितमानस, दो०१९८, पृ० ६०७
६. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० १०२०

अलंकार वर्णन की परिपाटी

गोस्वामी जी के काव्य में अलंकारों का प्रयोग कलात्मक विन्यास की वृद्धि में अत्यन्त सहायक है। उनके काव्य में अलंकारों की सबसे बड़ी विशेषता उनका स्वाभाविक रूप में विनियोग है। आरम्भ से ही काव्य शास्त्रियों ने इसे काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है उसी के फलस्वरूप काव्य में अलंकार वर्णन की परंपरा अभिप्राय के रूप में परिवर्तित हो सकी और इसको अभिप्राय की अवस्था तक पहुंचाने का बहुत कुछ श्रेय अलंकारवादी आचार्यों को ही जाता है। तुलसी ने अपने काव्य में अलंकारों का प्रयोग सहज रूप में तो किया ही है, साथ ही साथ बहुत कुछ सायास रूप में भी आए हैं।

तुलसी ने अपने काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग अभिप्राय के रूप में किया है। जो अलंकार परिपाटी में अधिकता से अपनाए गए उन्होंने अभिप्राय का रूप ग्रहण कर लिया। जैसे - भक्तिकाव्य में बड़े-बड़े सांगरूपकों की योजना अध्यात्म भक्ति एवं दर्शन सम्बन्धी विषयों के प्रतिपादन के लिए होती थी, तुलसीदास के सांगरूपक भी अधिकतर इसी प्रकार के हैं। उनके काव्य में सांगरूपक और उत्प्रेक्षाओं का बहुविस्तीर्ण विन्यास हुआ है। उनके रूपकों के सम्बन्ध में विश्वनाथ प्रताप मिश्र का कथन है कि --`अप्रस्तुत रूपविधान में तुलसी इतने सिद्धहस्त हैं कि वे बिना किसी रोक-टोक के बड़े लम्बे रूपक बांध जाया करते हैं। मानस-रूपक बड़ा लम्बा है, पर कहीं भी बेमेल नहीं है और न कहीं शृंखला ही टूटने पायी है। इसी प्रकार उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में बड़े-बड़े रूपक बांधे हैं इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी के समान रूपक का बंधान बांधने वाला हिन्दी में कोई कवि नहीं हुआ।[1] लम्बे-लम्बे रूपकों की योजना तुलसी ने `रामचरितमानस` और `विनय पत्रिका` में विशेष रूप से की है। रूपकों के साथ-साथ तुलसीदास ने उत्प्रेक्षाओं के वर्णन में भी विशेष योग्यता पायी है। अपने काव्य में उन्होंने उत्प्रेक्षाओं की शृंखला-बद्ध योजना काव्यात्मक दृष्टि से की है। यह उत्प्रेक्षा वर्णन विशेष रूप से चित्रकूट वर्णन एवं

१- उदयभानु सिंह, तुलसीकाव्य मीमांसा, पृ० ३७४

राम के रूप चित्रण में किया गया है ।

तुलसी ने लगभग हर प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है । सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, उल्लेख आदि की स्थिति उनके काव्य में दृष्टव्य है । सादृश्यमूलक अलंकारों में कुछ ऐसे भी स्थल तुलसी के काव्य में हैं जिनका मूल कथ्य ही अपने में बहुत समय से काव्य का अभिप्राय बना रहा है । जैसे --

'जो नहिं करइ राम गुन गाना । जहि सो दादुर जीह समाना'[1]

व्यतिरेक, प्रतीक आदि अलंकार भी सौन्दर्य वर्णन में सहायक हुए हैं । विभावना अलंकार का प्रयोग भक्तिकाव्य में ईश्वर की विलक्षण सत्ता को दर्शाने के लिए किया जाता है। तुलसीदास ने भी इसका प्रयोग इसी रूप में किया है -

'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।'[2]

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि तुलसीदास ने अभिप्राय का सहारा लेते हुए लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त सफलता के साथ किया है ।

रस वर्णन की परिपाटी

भक्ति काव्य में रस इतना घुला-मिला है कि रस विहीन काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती । इसी सन्दर्भ में अगर हम रस को काव्य का अभिप्राय (मोटिफ) कहें तो अत्युक्तिपूर्ण न होगा, क्योंकि रस, अलंकार आदि विविध काव्यांग जब से प्रचलित परिपाटी में आधार रूप में ग्रहण किए जाने लगे तब से उन्होंने अभिप्राय का रूप धारण कर लिया । काव्य परम्परा में कुछ रसों के अंकन के लिए कुछ रूढ़ अवसर प्रचलित हुए और फिर उन्होंने उस अवस्था के लिए अपना स्थायित्व ग्रहण कर लिया । उदाहरणार्थ - वात्सल्य रस की योजना प्रायः नायक के जन्म के बाद उसकी लीलाओं के प्रसंग में होती है । बीभत्स रस की योजना

१- रामचरित मानस - चौ० ३, पृ० १२६

२- रामचरित मानस - चौ० ४, पृ० १३१

युद्ध अवसर पर मांस, रुधिर, मज्जा इत्यादि में होती है । इसी प्रकार करुण रस की योजना किसी प्रिय पात्र की विदाई, मृत्यु या विछुड़न में होती है । और शृङ्गार के दोनों पक्षों का वर्णन मुख्यता नायिका से मिलन एवं विछोह में होता है । हास्य-रस का वर्णन किसी हास्यास्पद वर्णन या क्रिया में सम्भव है ।तुलसीदास ने इन सभी रसों का वर्णन यथास्थान किया है । इन सभी रसों का वर्णन करने के लिए आपने भी रूढ़ अवसरों को चुना है । वात्सल्य रस तुलसीदास के काव्य में नायक श्री राम के जन्म के पश्चात् ही सामने आया है और वीभत्स रस का वर्णन युद्ध-स्थल में दृष्टव्य है । वीभत्स रस अधिकांशत: मानस और गीतावली में पाया गया है । अन्य सभी रस उनकी अन्य कृतियों में उल्लेखित है ।

मध्यकालीन भक्ति काव्य में रस विधान के अन्तर्गत भक्तिरस की योजना नवीनतम रूढ़ि के रूप में उपलब्ध हुई, जिसने धीरे-धीरे भक्ति-काव्य में अपना प्राधान्य स्थापित कर लिया । तुलसीदास ने भी अपने समग्र साहित्य में रस को सर्वाधिक महत्ता प्रदान करके समसामायिक काव्य की इस नवनिर्मित परम्परा का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है । भक्तिरस की दृष्टि से विनयपत्रिका और रामचरित मानस तुलसीदास की सर्वश्रेष्ठ कृति है । विनय पत्रिका भक्तिरस का एक अति उत्कृष्ट काव्य है । रामचरित मानस में यह रस अत्यन्त पुष्ट और प्रभावशाली रूप में प्रकट हुआ है । कवितावली में भी भक्ति रसात्मक भावों की प्रधानता दृष्टव्य है । तुलसीदास के काव्य में भक्तिरस अंगी रस के रूप में प्रकट हुआ है तथा अन्य काव्यरस अंग रस रूप में ।

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि तुलसीदास रसज्ञ व्यक्ति थे और काव्य में रस की स्थिति के सम्बन्ध में पायी जाने वाली उस परम्परागत मान्यता: से अवगत थे जो धीरे-धीरे काव्य की अनिवार्यता बन गयी ।

छन्द एवं काव्य शैली वर्णन की परिपाटी

छन्द उस निर्दिष्ट लम्बाई को कहा जाता है जो लयात्मकता से परिपूर्ण विभिन्न आकार के होते हैं । यह छन्द काव्य की अनुरंजनकारिणी शक्ति है । छन्द स्वयं तीन बातों पर आश्रित रहता है— मात्रानुकूलता, लय और अन्त्यानुप्रास ।

भावानुकूलता के अन्तर्गत छन्दों की प्रकृति आती है क्योंकि सभी छन्द भावानुकूल नहीं होते । लय छन्द का प्राण होती है, तुलसी के काव्य में लय की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हुई है और अंत्यानुप्रास उसको कहते हैं जिसमें वर्ण-साम्य और लय समन्वित रूप में पाए जाएं । इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि छन्द ही काव्य का संगीत है । संगीत में जो संयम ताल से आता है वही संयम कविता में छन्द से आता है ।[1]

तुलसी ने अपने समय में प्रचलित प्राय: सभी छन्दों का प्रयोग किया है । इन छन्दों को स्थूल रूप में पांच वर्गों में रखा जा सकता है । दोहा, चौपाई, गीत, कवित्त, सवैया, सोरठ और बरवै । अवधी के प्रेमाख्यान काव्यों में दोहा, चौपाई का ही प्रयोग हुआ है । रामचरितमानस के लिए उन्होंने इसी काव्य शैली को चुना है । काव्य शैली से यहां हमारा तात्पर्य छन्दों से सम्बद्ध काव्य शैलियों से है, जैसे-दोहा, चौपाई, शैली, कवित्त, सवैया शैली इत्यादि । इस प्रकार जितनी भी काव्य शैलियां उस समय प्रचलन में थी लगभग उन्होंने उन सभी को अपने काव्य में स्थान दिया है । उनके काव्य में काव्य-शैली की जो विविधता है उससे यह प्रतीत होता है कि उन्होंने पूरी सचेष्टा के साथ परिपाटी में चली आ रही काव्य-शैलीगत अभिप्रायों को अपने काव्य में उतारा है ।

अन्य काव्यांगों की भाँति छन्द-वर्णन में भी तुलसी ने परिपाटी का आश्रय लिया है । छन्द वर्णन में तो तुलसी पूर्णत: शैली का अनुकरण करते हुए दिखाई दिए हैं । जैसे-प्रबन्ध काव्यों के लिए छोटे छन्दों का प्रयोग और मुक्त रचनाओं के लिए बड़े छन्दों का प्रयोग । रामचरितमानस में उन्होंने दोहा,चौपाई के साथ-साथ सोरठा और हरिगीतिका छन्दों का भी प्रयोग किया है । ये चारों मात्रिक वृत्त हैं । छोटे छन्दों में मुख्यत: मात्रिक छन्द आते हैं और उसमें भी दोहा चौपाई । रामचरितमानस में इन्हीं छन्दों का प्रयोग है ।

प्रबन्ध-काव्यों में छोटे और मुक्तक में बड़े छन्दों के प्रयोग का नियम है

१- रामचरितमानस,

यद्यपि अनिवार्य रूप में प्रकट नहीं हुआ था फिर भी इसका इतना प्राधान्य है कि इसने अभिप्राय का रूप धारण कर लिया । तुलसीदास ने `सोरठा` का भी प्रयोग किया है । दोहा, चौपाई, सोरठा से इतर वृत्तों को `छन्द` कहा है -

पुरइनि सघन चारु चौपाई । जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई ।।[१]

छंद सोरठा सुंदर दोहा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ।।[२]

जानकी मंगल और पार्वती मंगल मंगल काव्य हैं । इसमें प्रयुक्त छन्दों में मूल छन्द `हंसगति` है परन्तु इसके साथ हरिगीतिका छन्द का भी प्रयोग किया गया है । इन दोनों छन्दों की शैली लोक प्रचलित सोहर-शैली है । गीतावली और विनय पत्रिका गीतिकाव्य हैं । इनमें अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है साथ ही साथ संगीत तत्वों के निर्वाह पर अधिक ध्यान दिया गया है । परिपाटी का अनुकरण करते हुए तुलसीदास ने कवितावली में पांच छन्दों का विनियोग प्रस्तुत किया है -- सवैया, रूपघनाक्षरी, मनहरण, छप्पय और झूलना ।

निष्कर्षत: छन्द और काव्य-शैली के वर्णन में भी तुलसी ने अन्य काव्यांगों की भांति परम्परागत रूढ़ि का पूर्णत: निर्वाह किया है । प्रबन्ध और मुक्तक रचनाओं में क्रमश: छोटे और बड़े दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग अभिप्राय के रूप में हुआ है ।

काव्य गुणों की परिपाटी

यद्यपि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में १० काव्य गुणों का उल्लेख किया गया है तथापि काव्य के प्रमुख तीन गुण ही माने गए हैं --

माधुर्य

ओज

प्रसाद

१-२ रामचरितमानस, बाल० - २-३, पृ० ५०

गुणाः माधुर्यमोजो थ प्रसाद इति ते त्रिधा ।।[1]

काव्य में इन तीनों गुणों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया गया है । तुलसी काव्य में यह वर्णन अपने तीनों अंगों सहित विद्यमान है ।

माधुर्य गुण --

माधुर्य का सम्बन्ध कोमल भावों से होने के कारण इसमें माधुर्य नाद युक्त शब्दावली का प्रयोग होता है । माधुर्य गुण युक्त प्रसंगों की सुकुमार शब्दावली का वर्णन तुलसी ने अपने काव्य में बाललीला एवं विवाह के प्रसंगों में किया है । इन प्रसंगों में कवि की कल्पना सहसमुखी होकर हुई है -

दूलह राम, सीय दुलही री ।
घन-दामिनि बर बरन,हरन-मन सुंदरता नखसिखनि बही, री ।।
ब्याह-बिभूषन-बसन बिभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही,री ।
जीवन-जनम-ब्याहु, लोचन फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री ।।
सुखमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही, री ।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहु मही, री ।।
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल, न जाति कही, री ।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री ।।[2]

संयोग के साथ तुलसीदास ने वियोग वर्णन में भी माधुर्य वर्ण युक्त शब्दावली का प्रयोग किया है । मधुर नाद उत्पन्न करने के लिए अनुस्वारयुक्त पदावली का भी प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है ।

ओज गुण --

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।।[3]

ओज गुण का वर्णन क्रोध, उत्साह और कठोर भावों की अभिव्यक्ति में होता है ।

1- विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, ८।१, पृ० ६४२
2- गीतावली, पृ० १६८
3- विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, ८।४, पृ० ६४६

लंका कांड में इस गुण का वर्णन हम प्रचुरता से देख सकते हैं ।

> कतहुं विटप- भूधर उपारि परसेन बरष्षत
> कतहुं बाजिसों बाजि मर्दि,गजराज करष्षत ।
> ... ...
> लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम, जय ।' उच्चरत ।
> तुलसीस पवननंदनु अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत ।।[1]
> ^ ^ ^
> जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं । भूत पिसाच बधू नभ नचहिं ।।
> भट कपाल करताल बजावहिं । चामुंडा नाना विधि गावहि ।।[2]

इसके अतिरिक्त परशुराम संवाद में भी क्रोधपूर्ण भावों की अभिव्यक्ति हुई है ।

इन ओज गुण युक्त प्रसंगों में कठोर शब्दावली का प्रयोग तुलसी ने परिपाटी के अनुसार ही किया है ।

प्रसाद गुण —

कविराज विश्वनाथ के अनुसार सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय ऐसे सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण के व्यंजक होते हैं । ओज और माधुर्य मूलक प्रसंगों के अतिरिक्त शेषांश किसी न किसी रूप में प्रसाद गुण की परिधि में आते हैं—

> 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।।
> स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।'[3]

प्रसाद गुण-युक्त वर्णों में न तो माधुर्य गुण की चिकनाहट होती है और न ओज गुण-युक्त वर्णों की कठोरता इसमें तत्सम की अपेक्षा तद्भव की ओर झुकाव अधिक होता है । काव्य में इसी गुण को सर्वाधिक महत्व प्राप्त हुआ है क्योंकि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है । तुलसी साहित्य के प्रायः सभी कवित्वमय स्थल प्रसाद गुणयुक्त है । तुलसी को मुख्यता प्रसाद कवि कहा भी । विनयपत्रिका के पूर्वार्ध की कुछ स्तुतियाँ तथा कवितावली और मानस के प्रसंगों की भाषा इस गुण से वंचित रह गई है अन्यथा सभी स्थलों की भाषा इस गुण से ओत-प्रोत है । प्रसादगुण का एक उदाहरण हम

१- कवितावली, पृ० ८६
२- रामचरितमानस, दो० ५, पृ० ६६३
३- विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, ८। ७५, पृ० ६४२

यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं । जैसे —

सोह नवल तनु सुन्दर सारी । जगत जननि अतुलित छबि भारी ।।[1]

शब्द-शक्ति की परिपाटी

जिस शक्ति के माध्यम से शब्द के अर्थ का बोध होता है, उसे शब्द शक्ति कहा जाता है । यह तीन प्रकार की होती है —

(१) अभिधा

(२) लक्षणा

(३) व्यंजना

इन शब्द-शक्तियों द्वारा वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का बोध होता है -

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा मत: ।।
वाच्यो र्थो अभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत: ।
व्यङ्ग्यो व्यंजनया ता: स्युस्तिस्त्र: शब्दस्य शक्तय: ।।[2]

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना दोनों का मूलाधार है । परन्तु व्यंग्य प्रधान काव्य को श्रेष्ठ माना गया है । परम्परा में इन शब्द-शक्तियों का प्रयोग होता आया है । तुलसी के काव्य में भी तीनों ही प्रकार की शब्द-शक्तियों का चमत्कारिक वर्णन पाया जाता है ।

(१) अभिधा —

साकेतिक अर्थ की बोधिका शब्द की पहली शक्ति का नाम अभिधा है ।

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।[3]

१- रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २५६

२- विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, २।२,३, पृ० ३६

३- विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, २। पृ० ४०

तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रस्तुत दोहे का अर्थ अभिधा शब्द-शक्ति के द्वारा वर्णित किया है ।

'जननी तूं जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ ।'[1]

उपर्युक्त दोहे में प्रथम बार प्रयुक्त जननी शब्द मात्र सम्बोधन के लिए हुआ है और दूसरी बार प्रयुक्त जननी शब्द जन्मदात्री के रूप में हुआ है । अभिधा शब्द-शक्ति द्वारा जिन वाचक शब्दों का अर्थ बोध होता है वे प्रधानत: तीन प्रकार के होते हैं --

(१) रूढ़
(२) यौगिक
(३) योग

तुलसीदास ने अपने काव्य में इन तीनों प्रकार के शब्दों का व्यवहार, पूर्ण सौन्दर्य के साथ किया है ।

(२) लक्षणा --

जहाँ मुख्यार्थ के कारण उससे सम्बन्धित अर्थ व्याप्त होते हैं और ये अर्थ रूढ़ि के अनुसार होते हैं वहाँ लक्षणा शब्द-शक्ति होती है । लक्षणा में अभिधा की अपेक्षा अधिक प्रभविष्णुता होती है ।

बहु प्रताप बीरता बड़ाई । नाक पिनाकहि संग सिधाई ।।

लक्षणा दो प्रकार की होती है --

(१) रूढ़ि लक्षणा ।
(२) प्रयोजनवती लक्षणा ।

रूढ़ि लक्षणा --

जहाँ किसी शब्द के सांकेतिक अर्थ को छोड़कर उससे भिन्न अर्थ

१- रामचरितमानस : गोस्वामी तुलसीदास,

रूढ़ि से नियत हो जाता है वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है --

> आजु की कालि परों की नरों
> जड़ जांहिंगे चटि दिवारी को दियो ।।[१]

प्रयोजनवती लक्षणा --

मुख्य अर्थ के बाधित होने पर जब किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए लक्षणा का प्रयोग होता है तब उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं ।

(३) व्यंजना -

व्यंजना शब्द-शक्ति वहाँ होती है जहाँ शब्द के जिस व्यापार से शब्द के मुख्य एवं लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है । तुलसी के काव्य में व्यंजना का विनिवेश विशेष रूप से हुआ है ।

व्यंजना के दो भेद हैं --

(१) शाब्दी व्यंजना

(२) आर्थी व्यंजना

इन भेदों के भी अनेक भेद प्रभेद हुए हैं ।

शाब्दी व्यंजना --

शाब्दी व्यंजना शब्द विशेष के प्रयोग पर निर्भर रहती है -

> हृषीकेश सुनि नाउँ जाउँ बलि अति भरोस जिय मोरे ।
> तुलसीदास इन्द्रिसंभव दुख हरे बनिहि प्रभु तोरे ।।

१- गोस्वामी तुलसीदास, कवितावली, ७, १७९, पृ० १६७ ।

आर्थी व्यंजना —

आर्थी व्यंजना अर्थ पर आश्रित रहती है शब्दविशेष पर नहीं ।

मनहीं मन मनाव अकुलानी । होहु प्रसन्न महेस भवानी ।।
करहु सफल आपनि सेवकाई । करि हितु हरहु चाप गरुआई ।।[1]

शब्द शक्तियों के इस विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि तुलसी यहाँ भी परिपाटी के अनुरूप ही रहे हैं, उससे अलग होने की उन्होंने चेष्टा नहीं की है, साथ ही शब्द और अर्थ के विविध बोध व्यापारों के विषय में अधिकारपूर्ण ज्ञान रखते हैं ।

१- गोस्वामी तुलसीदास, बालकाण्ड, चौ० ३, पृ० २६४

निष्कर्ष

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के विविध वर्णनगत सन्दर्भों को ध्यान में रख, इनके काव्य का विश्लेषण करने पर इस निष्कर्ष पर सहजतापूर्वक पहुँचा जा सकता है कि --

(१) ये कवि अभिव्यक्ति के कौशल के सन्दर्भ में अपने को भारतीय काव्यशास्त्र की वर्णनगत परिपाटियों से जोड़े हुए हैं ।

(२) इनका सम्बन्ध यद्यपि शास्त्र से ही नहीं रहा है, ऐसा ज्ञात होता है कि संस्कृत के सम्पूर्ण ललित साहित्य में अभिव्यक्त रचना के विविध कलात्मक तत्वों को उन्होंने अपने काव्य में समाविष्ट किया है, और यह समावेश कुछ परम्परा के कारण नैसर्गिक रूप से है और कुछ इनके सचेष्ट आग्रह के कारण। कबीर इसके अपवाद हैं लेकिन कबीर के रूपक विधान, उलटवासियों आदि में यह कलात्मक तत्त्व मिलते हैं परन्तु यहाँ भी यह अलंकारिक प्रवृत्ति कुछ सचेष्ट और कुछ असचेष्ट भाव से ही आई है । भारतीय काव्यशास्त्र ने जायसी को भी प्रभावित किया है साथ ही लोक भी इस शास्त्र के प्रभाव से वंचित नहीं रह सका है । अत: जायसी में शास्त्रीय चेतना के तत्त्व कुछ लोक के कारण , कुछ भारतीय काव्य पद्धति और भारतीय काव्य-शास्त्र के कारण उद्भूत हुए हैं ।

सूर और तुलसी तो इन तत्त्वों से पूर्णत: सम्बद्ध हैं । ओज, प्रसाद, माधुर्य के साथ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों के द्वारा विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन, अलंकार, रस, छन्द आदि बातों का पूर्ण पांडित्य गोस्वामी जी में विद्यमान है ।

इस प्रकार यह कवि अभिव्यक्ति कौशल के स्तर पर भारतीय काव्यशास्त्र और काव्य की अभिव्यक्त्य दृष्टि से पूर्णत: जुड़े हुए हैं ।

पंचम अध्याय

'रस सिद्धान्त'

रस का शास्त्रीय स्वरूप—

रस सिद्धान्त आचार्य भरत से पूर्व ही प्रतिष्ठित हो चुका था, हाँ इसका विस्तृत विवेचन संस्कृत आचार्यों द्वारा ही हुआ है। प्राचीन साहित्य ऋग्वेद में रस शब्द का प्रयोग 'मधु'—

'स्वादुरसो मधुपेयो पराय'[1]

रूप में हुआ है। उपनिषदों में आत्मा को ही रस कहा गया है। इसमें रस को चितस्वरूप और आनन्दस्वरूप आत्मा से भिन्न बताया गया है। यह आनन्द कहीं बाहर से उपलब्ध नहीं होता है वरन् आत्मा में ही रहता है और काव्य सामग्री के प्रस्तुत होने पर मन की एकाग्रता के परिणामस्वरूप आत्मा के ऊपर का आवरण हट जाता है और वह प्रच्छन्न आनन्द उद्भूत हो जाता है।

अग्निपुराण के अनुसार आनन्दस्वरूप का व्यक्त रूप चैतन्य चमत्कृत और रस है —

'आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्काररसाह्वया'[2]

संस्कृत आचार्यों ने रस के स्वरूप को बहुत विस्तार के साथ विवेचित किया है।

आचार्य भरत—

आचार्य भरत ने इस सूत्र में रस के स्वरूप को निरूपित किया है --

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[3]

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग होने पर रस निष्पन्न होता है। इस बात की व्याख्या उन्होंने पाक रस का दृष्टान्त सामने रख कर की है।

---

१. ऋग्वेद, म० ६, अ० ४, ४४. २१
२. अग्निपुराण, द्वितीय खण्ड, १७६.१
३. नाट्य शास्त्र, पृ० २७४

यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः यथा हि -- गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः ।

जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं ।

भरत के पाक रस के इस विवेचन से ये स्पष्ट हो जाता है कि रस आस्वाद नहीं है, आस्वाद्य है अर्थात् विषयीगत नहीं है, विषयगत है । विषयगत परिभाषा स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार है --

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से संयुक्त एवं वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से व्यंजित स्थायी भाव ही रस है । भरत का दृष्टिकोण शुद्ध अभिनयपरक है । उनकी रस निष्पत्ति नाट्यगत रस की व्याख्या है उन्होंने पाकरस के समान नाट्य रस की भी व्याख्या की है ।

भट्ट लोल्लट --

इनका मत उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है । अभिनवगुप्त तथा मम्मट दोनों ने किंचित संशोधन के साथ लोल्लट के मत को ही उपस्थित किया था । भट्ट लोल्लट का मत है -- विभावादि का स्थायी भाव से संयोग हो जाने पर रस-निष्पत्ति होती है अर्थात् विभाव रस की उत्पत्ति में कारणस्वरूप है । स्थायी भाव की विभावादि के कारण उपचित अवस्था का नाम ही रस है । अनुचित स्थायी भाव से रस की उत्पत्ति सम्भव नहीं । यह रस मुख्यतः अनुकार्य अर्थात् रामादि मूल पात्रों में होता है किन्तु वह रूपादि के अनुसंधानवश यह अनुकर्ता नट में भी विद्यमान होता है ।[२]

१- नाट्यशास्त्र, पृ० ३१५

२- विभावादिभिः संयोगो अर्थात्स्थायिनः ततो रसनिष्पत्तिः । तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः

(पाद टिप्पणी शेष अगले पृष्ठ पर देखिए).....

इस प्रकार रसोत्पत्ति का अर्थ है स्थायी भाव का कारण सामग्री से संयुक्त होकर चरम दशा को पहुँच जाना । कारण सामग्री है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव ।

लोल्लट द्वारा दी गयी यह परिभाषा शुद्ध लौकिक धरातल पर की गई है ।

आचार्य शंकुक --

आचार्य शंकुक ने अपने रस-सिद्धान्त को 'अनुमितिवाद' का नाम दिया था । उनके अनुसार -- रति, शोक, उत्साह आदि स्थायी भाव मूल रामादि पात्रों में ही रहते हैं । नट उनका अनुकरण करता है । नट द्वारा यह अनुक्रिया भरण स्थायी ही 'रस' है । सामाजिक विभावादि लिंगों के आधार पर ही वह उसका अनुमान कर लेता है । सामाजिक की यह अनुमानात्मक प्रतीति ही 'रस निष्पत्ति' है ।

शंकुक के मत का आधार अनुकरण तथा चित्र तुरंग न्यायसिद्धान्त से प्रभावित अनुमान ही है ।

आचार्य शंकुक ने चित्र तुरंग न्याय का सहारा लेकर रसानुमिति के सम्बन्ध में दो बातें सिद्ध करने का प्रयत्न किया है -- एक तो यह कि जिस प्रकार चित्रांकित अश्व वास्तविक अश्व का अनुकरण मात्र है, स्वयं वास्तविक अश्व नहीं है, उसी प्रकार शिक्षा न्यासादि के कारण राम आदि प्रतीति होने वाले नट वस्तुत: राम आदि नहीं, उनके अनुकरण मात्र हैं । दूसरे जिस प्रकार चित्रलिखित अश्व को देखकर उसमें

स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम् । अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षित: तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपि तु भावानामेवऽये नुभावा: । व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात्, यद्यपि न सहभाविन: स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता: । तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस: स्थायीभावस्त्वनुपचित: । स चोभयोरपि । मुख्यया वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसंधानबलात् ।

- आनन्दप्रकाश दीक्षित, रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० ५५

वास्तविक अश्व के गुणों का अनुमान करके आनन्द उठाया जाता है उसी प्रकार राम आदि के अनुकर्ता नटों में भी हम उनकी अनुकरण की सफलता के कारण राम आदि में उत्पन्न रसों का अनुमान करने लगते हैं और उसी से आनन्दित होते हैं।[1]

आचार्य भट्टनायक —

भट्टलोल्लट और भट्ट शंकुक के उपरान्त भरत सूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याकार भट्टनायक हैं। अपने पूर्ववर्तीय आचार्यों के मतों से असन्तुष्ट होकर अपने नवीन मार्ग को अपनाया। आपने भट्टलोल्लट तथा भट्ट शंकुक के मतों का खण्डन करते हुए 'हृदयदर्पण' नामक एक ग्रन्थ लिखा। यद्यपि आज इस ग्रन्थ का नाम ही शेष रह गया है।

रस सिद्धान्त के विकास में भट्टनायक का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रसास्वाद के स्वरूप विश्लेषण का सर्वप्रथम सफल प्रयास आपने ही किया है। रसास्वाद को ब्रह्मस्वाद के समान बताते हुए उसकी अनिवार्य आनन्दरूपता की प्रतिष्ठा भी आपने की। रसास्वाद की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए भट्टनायक ने जिस साधारणीकरण सिद्धान्त का उल्लेख किया वह भारतीय काव्यशास्त्र की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। भट्टनायक के अनुसार यह कहा जा सकता है कि साधारणीकरण वह व्यापार है जिसके द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह आदि भावों से मुक्त हो जाता है। साधारणीकरण के विषय में तीन तथ्य महत्वपूर्ण हैं --

(१) साधारणीकरण का स्वरूप।

(२) साधारणीकरण किसका होता है।

(३) साधारणीकरण रसास्वादन में किस प्रकार सहायक है।

इनमें से द्वितीय तथ्य विवादास्पद रहा है।

भट्ट नायक ने काव्यार्थ तथा प्रमाता के बीच भोग-भोजक सम्बन्ध को

१- आनन्दप्रकाश दीक्षित, रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० ६८

स्वीकार किया है। भोजक शक्ति के द्वारा सामाजिक,भावित रसादि का भोग करता है। यह भोग साधारण लौकिक मे नहीं है वरन् यह परब्रह्मस्वाद के सदृश है। जिस व्यापार के द्वारा यह भो सिद्ध होता है वह भोजक तत्व है। भट्टनायक के द्वारा विभावादि स्थायी के भोजक हैं और स्थायी भोज्य, जिसका विभावादि के सहारे भो किया जाता है अत: विभावादि तथा स्थायी का सम्बन्ध भोज्य-भोजक सम्बन्ध कहा जाता है।

अभिनव गुप्त -

अभिनव गुप्त के अनुसार विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायीभाव ही रस है।

अभिनवगुप्त की इस परिभाषा में आचार्य मम्मट ने थोड़ा परिवर्तन किया और आचार्य लोल्लट के मत की इस प्रकार व्याख्या की --

'ललनादि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के कारण रति आदि स्थायीभाव उत्पन्न होते हैं। कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा वे ही प्रतीति योग्य हो जाते हैं तथा सहकारी के रूप में काम करने वाले व्यभिचारी भावो द्वारा वही उपचित होकर रसरूप को प्राप्त होते हैं। मुख्यत: वह रस अनुकार्य में होता है, किन्तु अनुसन्धानवश वही नट में भी प्रतीयमान होता है।[1]

अभिनव गुप्त विभाव का कार्य 'विभावना' अनुभाव का कार्य अनुभावना तथा संचारी भावों का काम 'समुपरंजन' मानते हैं। विभावना के द्वारा बीजभाव अंकुरित होता है,अनुभावना उसी भाव को अनुभव योग्य बना देती है और समुपरंजन के द्वारा वे पूर्णतया प्रकट कर दिये जाते हैं।

अभिनव गुप्त रस की निर्विघ्न प्रतीति मानते हैं और स्थायी भावों को हमारे हृदय में पूर्व से ही स्थित स्वीकार करते हैं।

आचार्य मम्मट--

काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट ने रस-स्वरूप की व्याख्या करने के लिए लोल्लट,शंकुक,भट्टनायक और अभिनवगुप्त इन चारों मतों को उपस्थित किया, तत्पश्चात्

१- विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै: रत्यादिको भावो जनित: अनुभावै: कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभि: कार्यै: प्रतीतियोग्य: कृत: व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभि: सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस:'।
- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० ८७

स्वयं जो रस स्वरूप प्रस्तुत किया वह अभिनवगुप्त के मत के अनुरूप ही है । मम्मट ने अपने मत में किसी दार्शनिक अतिवाद को आश्रय नहीं दिया । उनके अनुसार निरूपित किया गया रसस्वरूप निम्न है —

> कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
> रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।
> विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
> व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।[१]

आचार्य द्वारा निरूपित यह व्याख्या अभिनवगुप्त के विवेचन का ही सार रूप है । मम्मट ने चारों आचार्यों के मतों को अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारगर्भित रूप में प्रकट किया है ।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि रस मानव मस्तिष्क का अंश है । मानव मस्तिष्क काव्य के सम्पर्क में आकर एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है । जिसे रस कहा जाता है । इस प्रकार यह व्याख्या पूर्णरूपेण विषयनिष्ठ है । निष्कर्ष रूप से रस भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के चरम प्रगति का सूचक है । सौन्दर्यशास्त्र की आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं से रस की सार्थकता पर पूर्णरूपेण प्रकाश पड़ता है । उनके अनुसार काव्यानन्द का सिद्धान्त पूर्णरूपेण तर्कसंगत है ।[२]

'भारतीय दृष्टि जहाँ एक ओर आध्यात्मिक क्षेत्र में विचरण करती है, वहाँ दूसरी ओर उसमें सामाजिक दृष्टिकोण का भी सर्वथा अभाव नहीं रहा है और दोनों के आधार पर ही हम इस आनन्दवाद की धारणा को पुष्ट होते हुए पाते हैं कि उनका ध्यान जैसा आत्मिक प्रक्रिया पर है, वैसा ही कलात्मक प्रक्रिया पर भी है ।[३]

भारतीय काव्यशास्त्र में कलात्मक सजगता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है ।

---

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, उल्लास,-४, सू० ४१

२. डा० योगेन्द्रप्रताप सिंह, हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य, काव्यादर्श तथा काव्यसिद्धान्त, पृ० ७२ ।

३. डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० २२९ ।

आचार्य विश्वनाथ -

आचार्य विश्वनाथ ने रस स्वरूप की व्याख्या विस्तारपूर्वक बहुत ही महत्वपूर्ण शब्दों में इस प्रकार की है --

> सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः ।
> वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः ।
> लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
> स्वाकारवद भिन्नत्वेनायमा स्वाद्यते रसः ।।[1]

अर्थात् रस सत्वोद्रेक प्रधान होने के कारण अखण्ड रूप प्रकाशात्मक आनन्दरूप, चैतन्यरूप, वेद्यान्तर, स्पर्शशून्य ब्रह्मास्वाद सदृश, लोकोत्तर चमत्कार से अनुप्राणित रहते हैं । किसी सहृदय द्वारा ही स्वाकार से अभिन्न रूप में आस्वादित किया जाता है ।

इस परिभाषा के अनुसार रस की निम्न विशेषतायें बतायी गयी हैं --

(१) रस का सम्बन्ध सतोगुण से होता है ।

(२) वे अखण्ड हैं ।

(३) स्वप्रकाशानन्द हैं ।

(४) चिन्मय हैं ।

(५) वे ज्ञान से शून्य हैं ।

(६) ब्रह्मास्वादसहोदर हैं ।

(७) लोकोत्तर चमत्कारमय हैं ।

(८) रस आस्वाद रूप है ।

सारांश: रस काव्य का आस्वाद है । वह आस्वाद आनन्दमय है- अर्थात् रस एक प्रकार की आनन्द चेतना है ।

आनन्द चेतना का अर्थ है आत्मसाक्षात्कार । अभिनव के शब्दों मे आत्मपरामर्श और भट्टनायक के शब्दों में संविद् विश्रान्ति[2]। विश्वनाथ का यह रस सिद्धान्त भट्टनायक और अभिनवगुप्त की मान्यताओं का मिला जुला रूप है ।

---

१. क विश्वनाथ कविराज, तृतीयः परिच्छेदः पृ०१०५

२- डा० नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृ० ६०

भक्तिरस का शास्त्रीय स्वरूप

भक्तिरस के काव्यशास्त्रीय पक्ष पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत आचार्यों में भरत से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक के किसी भी आचार्य ने भक्तिरस को विशेष मान्यता नहीं प्रदान की ।

काव्यशास्त्रीय परम्परा में भक्तिरस का सूत्रपात हम भरत के शान्तरस के ही रूप में देख सकते हैं, पर भरत ने न तो उसके स्वतंत्र रसत्व को ही स्वीकार किया, न उसके भावरूप को न ही उसका संचारी भाव में या उसके समकक्ष किसी भाव का ही परिगणन किया है । भरत के पश्चात् आचार्य दण्डी ने भक्तिरस का संकेत किया । उन्होंने 'प्रेयस अलंकार' के विवेचन में भक्ति को दर्शाया । उन्होंने कृष्ण के प्रति विदुर के प्रेम शंकर एवं वैदिक देवताओं के स्तुतिमूलक काव्यों को इसके अन्तर्गत रखा है ।[1] पर उन्होंने भक्तिरस को कोई स्वतन्त्र रूप नहीं दिया वरन् इसे प्रेयस् अलंकार कह कर ही रह गए हैं । डा० वी० राघवन ने इसे बड़े ही स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है —

Dandin says that this peryas is very closely related to srngara but is distinct since Priti is the sthayin of the farmer where as Rati is the sthayin of srngara.[2]

अत: दण्डी इसे रस मानते हुए भी रस की कोटि में रखने का साहस न कर सके क्योंकि यह उनके सामने का निरूपण था । उद्भट ने भी रस का संकेत किया । उन्होंने — 'इर्थं च तुल्यात्लभ्या' प्रेयो लंकार के इस उदाहरण में वात्सल्य रस (या वत्सल्य भक्तिरस) के तत्व विद्यमान हैं ।[3] आचार्य रुद्रट ने दण्डी द्वारा प्रेयस् अलंकार को कुछ और व्यापकता देने का प्रयत्न किया था । उनके प्रेयस् रस में भक्ति-वात्स्य भक्तिरस के बीजतत्व दिखायी पड़ते हैं ।

अभिनवगुप्त ने भक्ति को शान्तरस में अन्तर्भूत किया, शान्त का संचारी स्वीकार किया है । कारण स्पष्ट है —'कश्मीरी शैव दर्शन स्वरूपत: अद्वैतवादी है, भक्ति द्वैत की अनुभूति है । अत: रसतत्व की जो चरम स्थिति है उसे भक्ति से एकाकार करके नहीं देखा जा सकता । अद्वैती चेतना में भक्ति उस स्थिति का साधन ही बन

---

1. दण्डी, काव्यादर्श, परिच्छेद- २, २७५
2. Dr. V. Ragvan, The number of Rasas, P. 289.
3. काव्यालंकार सार संग्रह, चतुर्थ वर्ग, पृ० ३४३ ।

सकती है ।'[1]

भक्ति को शान्तरस का अंग स्वीकार करते हुए वह कहते हैं —

'अत एव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्ति-श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहयनुप्रविष्टेऽन्यथैवाङ्ग - गमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम् ।'[2]

इस कारण रस की अलग रूप में गणना नहीं करनी चाहिए । अर्थात् भक्तिरस को अलग नहीं माना गया है । शान्तरस में ही उसका अन्तर्भाव निहित हो जाता है ।

आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त द्वारा शांत के संचारी रूप में स्वीकृत भक्ति को 'भाव ध्वनि' की कोटि में रखा है ।

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः । भावः प्रोक्ता
आदिशब्दान्मुनि गुरुनृपपुत्रादिविषया । कान्ता विषयातु व्यक्ता श्रृंगारः ।'[3]

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम सशक्त आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने भक्ति का रस रूप नहीं वरन् भाव रूप ही स्वीकार किया है । पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट की परम्परा का ही पक्ष लिया तथा भक्ति के भाव रूप को ही मान्यता दी है ।

'अथ कथमेते एव रसाः ? भगवदालम्बनस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य, भक्ति-रसस्य दुरपह्नवत्वात् । भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावितुमर्हति अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् । उच्यते— भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः ।'[4]

भगवान के विषय में प्रेम रूप ही भक्ति है । तात्पर्य ये कि देवता आदि के

---

1. डा० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रसपरिकल्पना, पृ० २०५
2. अभिनवगुप्त, अभिनव भारती, भाग - १, पृ० ३४०
3. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १४०
4. रस गंगाधर, पृ० -१७४

विषय में जो रति (प्रेम) होती है उसी को भक्ति कहा गया है । अतः वह भाव है रस नहीं ।

नारदीय भक्ति सूत्र के अनुसार नारद ने भक्ति को -- 'अमृतस्वरूपा च'।।[1] कहा है ।

महर्षि शाण्डिल्य ने अपने भक्तिदर्शन में इसे —

'तत्संस्थस्य अमृतत्वोपदेशात्'[2]

कहा है अर्थात् भक्ति का स्वरूप अमृत है ।

'भगवद्भक्तिरसायन' में भक्ति को परिपूर्ण रस के रूप में परिकल्पित कर मधुसूदन सरस्वती ने इसकी तुलना सूर्य की प्रभा से करते हुए अन्य रसों को जुगनुओं के समान माना है । जिस पूर्ण सुख की प्राप्ति भक्तिरस में होती है वह अन्य रसों में दुर्लभ है ।[3]

मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस में प्रीति को प्रमुखता देते हैं । प्रीति को प्रमुखता देते हुए उन्होंने वात्सल्य, प्रेयन् एवं मधुर इन तीनों को भक्ति रस के अन्तर्गत रखा है । उनके अनुसार भक्तिरस—

'भक्ति विषयक विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से सुखमूलक स्थायी भाव निर्मित होकर भक्तिरस की व्यंजना करते हैं ।'[4]

श्री मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को ब्रह्मानन्द के समान बताया —

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतंत्र पुरुषार्थत्वत् -- तस्मात्-भक्तियोग पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम् ।

अर्थात् समाधिनन्द, ब्रह्मानन्द और भक्तिरसानन्द समान है ।

१-२. नारदीय भक्तिदर्शन, पृ० २३- २३

३. सुन्दरलाल कथूरिया, रस संख्या का काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १७२

४. डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह, हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य-काव्यादर्श तथा काव्य-सिद्धान्त, पृ० ११९

श्री मधुसूदन सरस्वती का विचार है कि अन्य रसों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं रहता, जबकि भक्तिरस नितान्त रूप से सुखमय है। यही कारण है कि इसके सामने अन्य रस क्षुद्र प्रतीत होते हैं। इतर रस इसके सामने आदित्य के सम्मुख खद्योत के समान जान पड़ते हैं।

कान्तादिविषया वा रसाद्यास्तत्र न दृशम् ।
रसत्वं पुष्यते पूर्ण सुखास्पर्शित्व कारणात् ।।
परिपूर्ण रसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।[1]
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभैव बल वत्तरा ।।

उज्ज्वल नीलमणि में भक्ति रस को 'भक्ति रस राट' से सम्बोधित किया गया है—

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ।।[2]

उज्ज्वल रस को मधुररस का पर्यायवाची माना गया है, जो वस्तुतः शृंगार की चरम आध्यात्मिक परिणति है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने भी भक्ति को रस रूप ही दिया है। पोद्दार जी का भक्तिरस सम्बन्धी निष्कर्ष — दुख और आश्चर्य है कि जिस साध्याभास शृंगारादि रसों में चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है, उनको 'रस' संज्ञा दी गई है और जो साक्षात चिदानन्दात्मक भक्ति रस रहा है, उसे 'रस' न मानकर भाव माना गया है। यही क्यों क्रोध, भय, और जुगुप्सा आदि स्थायी भावों को (जो प्रत्यक्ष : दुख विरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और बिभत्स 'रस' की संज्ञा दी गई है। यदि यह कहा जाय की भागवतभक्ति विषयक प्रेम में आनन्द होने का क्या प्रमाण है ? तो उसका यही उत्तर है कि जिस प्रकार शृंगार आदि रसों के आस्वादन के प्रमाण के लिए साहित्याचार्य अनुभवी सहृदय जनों की ओर संकेत करते हैं,

---

1. आनन्द प्रकाश दीक्षित, रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० २७०
2. जीव गोस्वामी, उज्ज्वलनील मणि, पृ० ३

उसी प्रकार हमारा अनुरोध है कि यदि आपको शास्त्र-प्रमाणों से सन्तोष नहीं होता है तो भक्ति रसास्वाद के लिए आप तदीय भक्तजनों से पूछिए और उन महानुभावों के सत्संग द्वारा आप स्वयं भी प्रत्यक्ष अनुभव करिए ।"[1]

इस विवेचन से पोद्दार जी की भक्ति विषयक धारणा पुष्ट होती है ।

भक्ति रस का आस्वादन वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसके हृदय में पूर्व या इस जन्म की सद्भक्ति भावना विद्यमान हो । जिस प्रकार काव्य के रसिकों में कुछ योग्यताएँ अपेक्षित हैं उसी प्रकार भक्ति रस के भावक के लिए भी कुछ साम्प्रदायिक योग्यताओं की अपेक्षा की गई है । इस सन्दर्भ में डा० प्रेमस्वरूप का कथन है -- "काव्य रस और भक्ति रस में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि काव्यरस स्थायी नहीं है उसकी अवधि बड़ी परिसीमित है । अनुशीलनकर्ता को जल्दी मिलता है, और जल्दी चला जाता है । भक्तिरस एक साधना-गम्य अनुभूति है । उसमें एक बड़ी भारी स्थायिता है, जिसका च्यवन कुछ विशेष कारणों से ही होता है । इस अन्तर के कारण जिन योग्यताओं की अपेक्षा काव्यरसिक में अस्थायी रूप से भी करके काम चल जाता है, उन्हीं को भक्तिरस के रसिक में स्थायी रूप से अपेक्षित माना गया है ।"[2]

भक्तिरस का सबसे विशद और विस्तृत विवेचन रूपगोस्वामी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु' में किया है । श्री रूप गोस्वामी भक्ति रस की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि भक्तिरसानुभूति के लिए मनुष्य में इस जन्म और पूर्व जन्म दोनों में उच्च संस्कारों का होना आवश्यक है । इस प्रकार के संस्कारों से युक्त सहृदय व्यक्ति ही इसका अधिकारी है ।

"प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्ति वासना,
एष भक्ति रसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते ।"[3]

आपने भक्तिरस का स्वरूप विश्लेषण शास्त्रीय शब्दावली में इस प्रकार किया है - विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा, श्रवणादि के द्वारा भक्तों

---

1. कन्हैयालाल पोद्दार, साहित्य समीक्षा, पृ० ७२
2. डा० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रसपरिकल्पना, पृ० १७८-७९
3. हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु, रूपगोस्वामी, दक्षिण विभाग, विभाव लहरी, श्लोक ६ ।

के हृदय में आस्वाद्यता को प्राप्त हुआ यह कृष्णरति रूप स्थायिभाव कहलाता है ।[1]

मक्तिरस की अनुभूति कैसे उत्पन्न होती है इसकी व्याख्या करते हुए आप कहते हैं कि कृष्ण आदि के द्वारा देखने से प्रौढ़ आनन्द के चमत्कार की पराकाष्ठा प्राप्त हो जाती है, उसी का नाम भक्ति रस है । इस तरह भक्तों के हृदय में — दोनों प्रकार के संस्कारों में उज्ज्वल आनन्दरूपा रति ही आस्वाद-योग्यता को प्राप्त हो जाती है इसी को उन्होंने भक्ति रस कहा है—[2]

'कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि
प्रौढ़ानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्[3]' ।

कृष्ण रति ही इस रस का स्थायी भाव है । आलम्बन विभाव की दृष्टि से कृष्ण इस रस के विषयालम्बन और उनके भक्त आश्रयालम्बन हैं ।[3] भक्तिरस का विषय उन्होंने स्वयं श्री कृष्ण को बताया है । उनके अन्दर समस्त महागुण नित्य रूप से विराजमान रहते हैं ।[4] इस प्रकार मानते हैं उन्होंने श्री कृष्ण के आलम्बन होने के अनेक उदाहरण दिए हैं —

अयं कम्बुग्रीव: कमलकमनीयाक्षिपटिमा
तमालश्यामाङ्गद्युतिरतितरां छत्रितशिरा: ।
दरश्रीवत्साङ्क: स्फुरदरिदराद्यङ्कितकर:
करोत्युच्चैर्मोदं मम मधुरमूर्तिर्मधुरिपु:[5] ।।

आलम्बन के पश्चात् श्री कृष्ण के गुण चेष्टा एवं अलंकरण ये तीन प्रकार के भक्ति के उद्दीपन विभाव हैं ।

आलम्बन उद्दीपन के पश्चात् गोस्वामी जी ने अनुभावों का वर्णन किया है । भक्ति रस के अनुभावों के लक्षण में उन्होंने रसोत्पत्ति के बाद होने वाले जो बाह्य लक्षण

---

१. हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु, रूपगोस्वामी, दक्षिण विभाग, विभाव लहरी, श्लोक ६ ।

२. रूपगोस्वामी, हिन्दीभक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, विभाव लहरी, श्लोक ११

३-४. रूपगोस्वामी, हिन्दीभक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, विभाव लहरी, श्लोक १६-१७।

५. रूपगोस्वामी, हिन्दीभक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, विभाव लहरी, श्लोक - २४४ ।

होते हैं उन्हें अनुभाव कहा है । अनुभावों में उन्होंने नाचना, लोटना, गाना, चिल्लाना, देह मरोड़ना, हुँकार करना, जंभाई लेना, लम्बी-लम्बी साँसें भरना, अट्टहास करना, चक्कर आना, हिचकी आना इत्यादि इन सब को भक्ति रस का अनुभाव माना है ।[1]

अनुभावों का वर्णन करने के पश्चात सात्विक भावों का विवेचन आता है । इन सात्विक भावों को सत्व से सम्बन्धित करते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं कि सत्व से जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें सात्विक भाव कहा जाता है । इन सात्विक भावों को उन्होंने तीन प्रकार का बताया है --(१) स्निग्ध, (२) दिग्ध, (३) रूक्ष ।[2]

सात्विक भाव के वर्णन के पश्चात् व्यभिचारी भावों का वर्णन आता है । वाचिक, आंगिक और सात्विक रूप में जो तैंतीस भाव हैं वे ही 'व्यभिचारि भाव' माने गए हैं । ये व्यभिचारी भाव स्थायी भाव की गति का संचालन करते हैं इसलिए इसे संचारी भाव भी कहा जाता है ।[3]

अत: हम देखते हैं कि सभी भावों के मूल में उन्होंने कृष्ण रति को ही सर्वत्र विद्यमान रखा है । उनके अनुसार भक्ति के साधन ही कृष्ण रस की निष्पत्ति में सहायक होते हैं । रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति भाव ही पुष्ट होकर रस बनते हैं ।

उज्ज्वल नील मणि में भक्ति को 'भक्ति रस' की उपाधि से विभूषित किया है । इसका स्थायी भाव प्रियता या मधुरा रति है । इसके आलम्बन कृष्ण और उनकी प्रिय गोपियाँ हैं । यह मधुर रस कई नामों से अभिहित किया गया है । यह शृंगार, भक्ति और उज्ज्वल रस भी कहलाता है । इस मधुर रस का स्थायी भाव प्रियता अथवा मधुरा रति जो है वह एकपक्षीय नहीं है । यह उभय आनन्दप्रद है -- 'मिथा: संभोग' इस मधुर रस के आलंबन विभाव कृष्ण और कृष्ण वल्लभा गोपियाँ हैं ।[4]

---

१. रूप गोस्वामी, हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु, द्वितीय अनुभाव लहरी, श्लोक २
२. रूप गोस्वामी, हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु, तृतीया लहरी ,श्लोक - २
३. रूपगोस्वामी, हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग चतुर्थ लहरी, श्लोक २
४. रत्ना कुमारी, १६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ० २०६

रूपगोस्वामी ने नवीनता को प्रस्तुत करते हुए नौ रसों के स्थान पर १२ रसों का वर्णन किया। इन १२ रसों में पाँच मुख्य रस और सात गौण रसों को लिया गया है और इन रसों के वर्ण तथा देवता का वर्णन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को आधार बनाते हुए ही किया है।

इन्होंने मुख्य रसों में -- (१) शान्त, (२) प्रीति, (३) प्रेम, (४) वात्सल्य, (५) मधुर या उज्ज्वल।

गौण भक्ति रसों में -- (१) हास्य, (२) अद्भुत, (३) वीर, (४) करुण, (५) रौद्र, (६) भयानक, (७) बीभत्स।

मुख्य भक्ति रस

शान्त भक्ति रस -

इस रस का स्थायी भाव इन्होंने शम माना है जोकि प्रधान जनों के आस्वाद का विषय होकर शान्त भक्तिरस के नाम से जाना जाता है। इस शान्त रस में योगियों को आत्मसाक्षात्कारात्मक निर्विशेष ब्रह्मास्वादसहोदर सुख प्राप्त होता है।[१]

शान्त रस के आलम्बन में इन्होंने - नासिका के अग्रभाग पर नेत्र जमाए रखना, त्यागियों के समान व्यापार करना, उदासीनता- किसी के प्रति भी ममता न रखना, अहंकार का अभाव आदि क्रियाओं को शान्त भक्ति रस का अनुभाव बताया गया है। शान्त भक्तिरस का स्थायी भाव शान्ति है।

प्रीति भक्ति रस -

विभावादि के द्वारा भक्तों के हृदय में आस्वादन योग्यता को प्राप्त हुई प्रीति ही 'प्रीतिभक्ति रस' कहलाती है -

---

१. रूपगोस्वामी, हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु, पश्चिमो विभागः, शान्तरस लहरी, श्लोक ४-५।

'आत्मोचितैर्विभावाद्यै: प्रीतिरास्वादनीयताम् ।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिभक्ति रसो मत: ।।[1]

और इसके उन्होंने दो भेद किए हैं -- सम्भ्रम प्रीति और गौरव प्रीति । अपने को दास मानने वाले भक्तों में सम्भ्रमता प्रीति होती है और अपने को कृष्ण का कृपापात्र मानने वालों में कृष्ण के प्रति गौरवप्रधान प्रीति होती है ।

प्रेयोभक्ति रस -

प्रेयोभक्ति साख्य भक्ति रस अपने अनुरूप विभाव आदि रस सामग्री से परिपुष्ट होकर रसदशा को प्राप्त करता है ।[2] इसके आलम्बन साख्य गण माने जाते हैं कृष्ण और उनके सखा । इस रस का उद्दीपन कृष्ण की बांसुरी, शंख, रूप, अंग इत्यादि है और अनुभावों में कुश्ती, बाघ, सवारी इत्यादि को माना गया है ।

वात्सल्य भक्तिरस -

आचार्यों ने वात्सल्यभक्तिरस को केवल वात्सल्य शब्द से भी व्यवहृत किया है -

विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागत: ।
एष वत्सलतामात्र: प्रोक्तो भक्तिरसो बुधै: ।।[3]

रूपगोस्वामी ने इस रस का आलम्बन कृष्ण और उनके गुरुजनों को बताया है और उद्दीपन विभाव में बात करना, मुस्कराना, वेष, शैशव का चापल्य इत्यादि माना है । उद्दीपन में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है । वात्सल्य का स्थायी भाव उन्होंने वात्सल्य को ही स्वीकार किया है ।

मधुर भक्ति रस --

अपने अनुरूप विभावादिकों के द्वारा सहृदयों के हृदय में पुष्टि को प्राप्त

---

१. रूपगोस्वामी, हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु,पश्चिमो विभाग:, प्रीति भक्तिलहरी-१
२. रूपगोस्वामी, हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु, पश्चिमो विभाग:, प्रेयो भक्तिरस - १
३. रूपगोस्वामी, हिन्दी भक्तिरसामृत,सिन्धु, पश्चिमो विभाग:, वत्सल भक्तिरस, श्लोक -१ ।

मधुरा रति को 'मधुरभक्ति रस' कहा जाता है -

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ।[1]
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरारतिः ।।

रूप गोस्वामी ने इस मधुर भक्ति रस का आलम्बन कृष्ण तथा उनकी सखियाँ को बताया है । उद्दीपन विभाव में मुरली ध्वनि है और अनुभाव में कटाक्ष और स्मित को माना है । इसका स्थायी भाव मधुर भक्ति ही है ।

इस प्रकार रूपगोस्वामी ने निम्नलिखित मुख्यभक्ति रसों का वर्णन किया है ।

गौण भक्ति रस

हास्य भक्ति रस—

रूप गोस्वामी के अनुसार उचित विभावादि से पुष्ट होकर हास्य रति ही हास्य भक्तिरस कहलाती है । इस रस का आलम्बन श्री कृष्ण तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालों को माना गया है । इस रस का स्थायी भाव हास्य रति को ही स्वीकार किया गया है । उद्दीपन विभाग में श्रीकृष्ण का वेष और चरित्र बताया गया है । व्यभिचारी भाव में नाम, ओठ तथा गालों का फड़कना, हर्ष उल्लास इत्यादि आता है ।

अद्भुत भक्तिरस लहरी -

उचित विभावादि में पुष्ट विस्मय रति को ही अद्भुत भक्तिरस की संज्ञा दी गयी है । कृष्ण की विविध प्रकार की लोकोत्तर चेष्टाएँ ही उद्दीपन विभाव है । हर्ष, आवेग इत्यादि इसके व्यभिचारिभाव होते हैं और इसका स्थायी भाव लौकिक क्रिया से उत्पन्न विस्मयरति है ।

वीर भक्ति रस—

विभावों से पुष्ट होकर वीर भक्ति रस की संज्ञा प्राप्त करता है । इसके

---

१. हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु, मधुरभक्ति रस, श्लोक १
२. हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु, हास्य भक्ति रस, श्लोक १

आलम्बन युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर चारों प्रकारों के व्यक्ति होते हैं। आत्मश्लाघा इत्यादि इसके उद्दीपन विभाव हैं।

करुण भक्ति रस -

करुण भक्ति रस का विवेचन करते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं कि अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा सहृदयों के हृदय में पुष्टि को प्राप्त शोकरति ही करुण-भक्ति रस कहलाती है -

आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता पुष्टिं सतां हृदि ।[१]
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिध: ।।

कृष्ण का स्वरूप तो आनन्दात्मक है पर विशेष प्रेम के कारण कृष्ण और उनके प्रिय किसी अनिष्ट प्राप्ति के कारण आलम्बन रूप में प्रकट होते हैं।

रौद्र भक्ति रस -

रौद्र भक्ति रस को विवेचित करते हुए रूपगोस्वामी ने लिखा है कि विभावादि के द्वारा पुष्ट की गई क्रोधारति भक्त के हृदय में यह रौद्रभक्ति रस बन जाती है।

कृष्ण उनके मित्र तथा शत्रु ये क्रोध के आलम्बन हैं। इन शत्रु इत्यादि का वर्णन भी रूपगोस्वामी ने किया है। इस रौद्र रस के सम्बन्ध में रूप जी ने विशेषता इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि रति के अभाव में हुआ क्रोध भक्तिरसता को प्राप्त न होकर रौद्र रस को ही प्राप्त करेगा।

भयानक भक्ति रस -

विभावादि के द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुई भयरति का ही विद्वान लोग भयानक भक्तिरस कहते हैं।

भयानक भक्तिभाव के आलम्बन कृष्ण ही बनते हैं। इस रस में भी रूप जी

---

१. हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु, उत्तर विभाग तृतीया, अद्भुत भक्तिरस लहरी, श्लोक -१।

ने इस ओर जोर दिया है कि भयानक भक्तिरस के क्षेत्र में भी रति का होना आवश्यक है अन्यथा रति शून्य होने से ये भक्तिरस की कोटि में नहीं आते।

बीभत्स भक्ति रस -

अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुई जुगुप्सा रति ही इस बीभत्स रस नाम से पुकारी जाती है।[1] मुहं बिचकाना, थूकना, नाक बन्द करना इत्यादि इसके अनुभाव हैं। विषाद चपलता, ग्लानि इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

इस प्रकार श्री रूप गोस्वामी ने भक्तिरस का विवेचन भी प्राचीन आचार्यों के मतानुसार ही किया है। अग्निपुराणकार के अनुसार - श्रृंगार से हास और रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति हुआ करती है। वीर रस से अद्भुत रस उत्पन्न होता है तथा बीभत्स से भयानक रस की निष्पत्ति हुआ करती है। इस तरह श्रृंगार-हास्य-करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत तथा शान्त नाम वाले रसों की कल्पना की गई है।

> वीरोऽत्र ष्टम्भजः संकोचभूर्बीभत्स इष्यते।
> श्रृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ॥
> वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः।
> श्रृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ॥
> बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः।[2]

प्राचीन आचार्यों के मत को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि भक्ति रस का सबसे विषद और व्यापक चित्रण श्रीरूप गोस्वामी ने ही किया है। आपने भक्तिरस का आलम्बन श्री कृष्ण को ही माना है तथा स्थायी भाव कृष्णरति को। तत्पश्चात् आपने अनुभावों, विभावों और व्यभिचारी भावों का भी वर्णन किया है। अनुभावों में उन्होंने नाचना, गाना, लोटना, इत्यादि माना है तथा तैंतीस संचारी भावों का भी

---

१. पं० श्री राम शर्मा आचार्य, अग्निपुराण, द्वितीय खण्ड, पृ० ३७४

वर्णन किया है । परन्तु इन सभी भावों के मूल में इन्होंने कृष्णरति को ही विद्यमान रखा है । इस तरह हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में परम्परा से चली आ रही रस सामग्री का विस्तृत वर्णन देखने को मिलता है ।

काव्यकल्पद्रुम में भी भक्तिरस के आलम्बन भगवान श्री कृष्ण आदि हैं, श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-प्रधान शास्त्रों का श्रवण, मनन और भगवान के अलौकिक सौन्दर्ययुक्त चिदानन्दमय विग्रहों के दर्शन आदि उद्दीपन है, और वह रोमांच,अश्रुपात, आदि द्वारा अनुभाव गम्य एवं हर्ष और उत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों द्वारा परि-पुष्ट होता है ।

इस प्रकार भक्तिरस का शास्त्रीय रूप में प्रत्याख्यान करने का रूपगोस्वामी ने हर सम्भव प्रयास किया है, परन्तु फिर भी अभी तक भक्तिरस स्वतन्त्र-रस निर्विवाद नहीं किया गया है । साम्प्रदायिक दृष्टि से भक्तिरस का समर्थन करने वाले आचार्यों ने भक्ति दर्शन के आधार पर इस रस को प्रतिष्ठित किया है । यों तो हिन्दी के भक्ति-कालीन आचार्यों ने इस भक्ति रस को भक्तिरस, भगतिरस, हरिरस, प्रेमरस आदि नामों से यत्र-तत्र व्याख्यायित किया है । किन्तु यह इसका शास्त्रीय प्रतिपादन न होकर मात्र साम्प्रदायिक प्रतिपादन है ।

परस्पर प्रेम के कारण भक्ति के स्वतन्त्र रसत्व का निषेध करना व्यर्थ है । डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने इसका खण्डन किया है —

'वस्तुत: संवेदना और शिल्प के धरातल पर परम्परा और प्रयोग की टकराहट के परिणामस्वरूप साहित्य का जो विकास होता है कालान्तर में उसे स्वीकृति देनी पड़ती है - शास्त्र उसका प्रमाण है । ऐसी स्थिति में परम्परा से चिपटे रहना साहित्य के विकास में गत्यवरोध उत्पन्न करता है ।'[1]

भक्ति के प्रति वैष्णव आचार्यों की चेतना साम्प्रदायिक है । उन्होंने काव्यानुभूति को भक्तिरस न कहकर 'वैष्णव रस' कहना अधिक उपयुक्त माना है ।

---

१. आनन्द प्रकाश दीक्षित, रस सिद्धान्त-स्वरूप विश्लेषण, पृ० ३०२-३०३

रस-संख्या

रस संख्या का प्रश्न आरम्भ से ही विवादास्पद है । साहित्य के विकास के साथ-साथ आचार्यों ने भी अनेक नवीन रसों को स्वीकृति दी है । इसमें से कुछ रस कालान्तर में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित कर प्रतिष्ठित भी हो गये हैं और कुछ नहीं भी हो पाए हैं । परन्तु इस सन्दर्भ में सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि जहाँ एक ओर इन सभी रसों को किसी एक रस में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था वहीं दूसरी ओर कुछ आचार्यों द्वारा इन सभी रसों को किसी एक रस में रसाविष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था । इस सन्दर्भ में भवभूति, अभिनवगुप्त, भोगराडा, नारायण पण्डित एवं वैष्णव आचार्यों का नाम आता है । इन सभी आचार्यों ने क्रमश: करुण, शान्त, श्रृङ्गार, अद्भुत तथा भक्तिरस में अन्य सभी रसों का समाहार करने का प्रयत्न किया है ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रस संख्या में विषय में संस्कृत आचार्यों के दो दृष्टिकोण हैं । एक दृष्टिकोण तो उन आचार्यों का है जिन्हें विस्तारवादी कहा जा सकता है और दूसरे आचार्य वह हैं जिनका दृष्टिकोण सब रसों को किसी एक रस में सामिष्ट कर देना है, इसके अतिरिक्त एक वर्ग हम उन आचार्यों का भी मान सकते हैं जो स्थायी भावों के ही आधार पर रसों की संख्या आठ या नौ ही मानते हैं ।

हिन्दी के कुछ आचार्यों ने भी रस संख्या में वृद्धि की है । जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति रस की स्थापना करने का प्रयत्न किया है ।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस की इयत्ता का विरोध करते हुए भक्ति वत्सल एवं सख्य के अतिरिक्त प्रमोद या आनन्द नामक रस को भी मान्यता प्रदान की है ।

इसी प्रकार डा० रामविलास शर्मा ने भी अपनी पुस्तक प्रगति और परम्परा में कहा है कि -- नये साहित्य पर पुराने सिद्धान्त लागू करने में काफी कठिनाई होती है, और इस कठिनाई का सामना करने पर भी साहित्य के समझने में कितनी मदद मिलती है । यह एक सन्देह की ही बात रह जाती है । जीवन की धारायें एक दूसरे

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रसमीमांसा, पृ० १४३

२. ,, ,, ,

से इतनी मिलती जुलती हैं कि नौ रसों की मेड़ बाँध कर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बढ़ाया जा सकता है ।[१]

अत: यह स्पष्ट है कि रस संख्या का प्रश्न आरम्भ से विवादास्पद रहा है ।

रस सम्प्रदाय के प्राक्तन प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि को माना गया है । भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स इन चार रसों को प्रमुख रूप में माना है, इन्हीं चारों से क्रमश: हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार सब मिलाकर आठ रसों का वर्णन किया है --

'अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:'

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका: ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता ।।[२]

ये संख्या स्वयं भरत द्वारा निर्धारित की गई नहीं है वरन् परम्परा से प्राप्त हुई है । इसके लिए उन्होंने किसी प्राचीन महात्मा द्रुहिण का नाम लिया है ।

भरत के बाद दण्डी ने भी आठ रसों का ही उल्लेख किया है परन्तु इसके बाद के आचार्य उद्भट ने इन रसों की सूची में शान्त रस को भी सम्मिलित कर लिया था और इस प्रकार उन्होंने रसों की संख्या नौ बताई ।

शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानका ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता: ।।[३]

इस प्रकार इनके समय तक नौ रसों को मान्यता मिल चुकी थी और इन नौ रसों को रस-सिद्धान्त में माना जा चुका था । इनके परवर्ती आचार्य रुद्रट ने एक रस की वृद्धि और कर दी और ये एक रस 'प्रेयस् रस' था, जिसका स्थायी भाव स्नेह है —

शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्य: ।
रौद्र: शान्त: प्रेयानिति मन्तव्या रसा: सर्वे ।।[४]

---

१. डा० रामविलास, प्रगति और परम्परा, पृ० ११७
२. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, ६।१५
३. उद्भट , काव्यालंकार, ४.४
४. रुद्रट , काव्यालंकार, १२।३

इसके पश्चात् आनन्दवर्धन का नाम आता है जिन्होंने रस संख्या में कोई हेर फेर नहीं की । इनके बाद के आचार्य धनंजय ने काव्य में तो नौ रसों की स्वीकृति दी है, पर नाटक में शान्त रस की स्वीकृति नहीं दी है तथा रुद्रट द्वारा बताये गये प्रेयस रस का खण्डन भी किया है ।

अभिनवगुप्त ने नौ ही रस माने हैं । काव्य और नाट्य दोनों में ही इन्होंने नौ रसों को माना है । इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य तीन रसों का भी उल्लेख किया है —

(१) स्नेह रस - स्थायी भाव - आर्द्रता

(२) लौल्य रस- स्थायी भाव - गर्ध

(३) भक्तिरस

पर इसकी अलग सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है । अत: इसमें से किसी को भी पूर्ण रसावस्था प्राप्त नहीं हुई है । उन्होंने स्नेह को एक प्रकार का आकर्षण बताया है - जो कि माता-पिता, पुत्र का पुत्र के प्रति, युवकों का मित्रों के प्रति होता है । इसी प्रकार गर्ध का भी अन्तर्भाव कभी हास्य में और कभी रति में है, इसी प्रकार भक्ति का अन्तर्भाव भी रति अथवा भाव में माना है ।

आचार्य भोज ने इस रस संख्या को चरम रूप दिया इन्होंने रस संख्या का विस्तृत विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश में किया है । इन्होंने नौ रसों को तो स्वीकार किया ही है साथ ही साथ प्रेयान् उदात्त और उद्धत रसों का भी वर्णन किया है ।

डा० राघवन का मत है कि भोज के अनुसार स्थायी, संचारि एवं सात्विक सभी भाव रस-दशा को प्राप्त हो सकते हैं ।

भानुदत्त ने दो नवीन रसों की गणना की थी —

(१) कार्पण्य तथा (२) माया

परवर्ती आचार्यों द्वारा माने गये नौ रसों को तो इन्होंने माना ही था साथ ही इन दो रसों को और भी माना । इसका वर्णन इन्होंने अपनी (रस तरंगिणी) में किया था ।

मधुसूदन सरस्वती, रूपगोस्वामी इत्यादि ने भक्ति को स्वतन्त्र रस माना है । उज्ज्वल नील मणि में भक्ति को उज्ज्वल रस माना गया है । भक्तिरस के सभी समर्थक

आचार्यों ने भक्ति में ही नौ रसों की स्थिति मानी है । इसमें भक्तिरस का सबसे विस्तृत विवेचन आचार्य रूप गोस्वामी ने किया है । इन्होंने पाँच मुख्य और सात गौण रसों की गणना की है । साथ ही भाव-अनुभाव और संचारी भावों का भी वर्णन किया है । रस संख्या का वर्णन करने वालों में रूपगोस्वामी ही आखिरी आचार्य थे ।

स्पष्टत: व्यावहारि धरातल पर रस की अनेकता से इन्कार भी नहीं किया जा सकता है । भावों की अनन्तता के अनुसार रसों की अनन्तता मानी जा सकती है । विषय वस्तु के अनुसार अन्य रसों की भी कल्पना की जा सकती है पर रसों कीस संख्या उतनी ही मानना तर्कसंगत है, जितने की सर्व स्वीकृत स्थायी भाव हैं । मुनि रचित रूप से स्थायी भाव नौ माने गये हैं, अत: रस भी उतने ही मानना उचित होगा । सहस्रों वर्षों तक रसों की संख्या में घट-बढ़ होने पर भी उनके नौ तत्वों पर ही बल दिया गया और इसका परिणाम यह हुआ कि इसने रूढ़ि का रूप धारण कर लिया । अभिनव गुप्त के बाद प्राय: सभी काव्यशास्त्रियों ने नौ रसों पर ही बल दिया । रस भावहीन नहीं होते हैं और रसों की संख्या का सम्बन्ध आचार्यों के मतानुसार स्थायी भावों के साथ ही होता है और स्थायी भाव नौ माने गए हैं अत: रस की संख्या भी इस तरह नौ ही हुई और यही मान्य भी है ।

भक्तिरस एवं काव्यरस

भरतमुनि ने काव्यरस की संख्या आठ मानी है और शास्त्र ने इन्हीं आठों रसों को प्रधानता भी दी है । परन्तु कालान्तर में कुछ भाव ऐसे भी आए, जिनका समावेश भरत-निर्मित श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसों में न हो सका और ये भाव थे -- स्नेह, सख्य, दास्य इत्यादि । अत: इन भावों का परिगणन करके भक्तिकालीन कवियों ने भक्तिरस को एक स्वतन्त्र रस के रूप में मान्यता दी । रस के विषय में भक्तिकालीन आचार्यों का मत मूलत: आनन्दात्मक है । उनके अनुसार सर्व शक्तिशाली परमानन्द का स्वरूप ही आनन्दात्मक है । नारद भक्ति दर्शन में भक्ति को `अमृत स्वरूपा` कहा गया है ।

भक्तिरस और काव्यरस दोनों में समानता देखने को मिलती है । दोनों ही रसों में आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और स्थायी भाव का वर्णन है और दोनों ही रसों में सम्प्रेषणीयता है तथा दोनों रसों की चरम स्थिति साधारणीकरण और निष्पत्ति में निहित है । भक्तिरस की शास्त्रीय रूप में व्याख्या करने और उसको सबसे वृहद रूप में परिभाषित करने का श्रेय आचार्य रूपगोस्वामी को ही जाता है । आचार्य रूपगोस्वामी के अनुसार भक्तिरस की परिभाषा है -- विभाव, अनुभाव, सात्विक एवं संचारी भाव से परिपुष्ट सामग्री रसरूपता को प्राप्त होती है और ये रसरूपता श्रवण आदि नवधा भक्ति के साधनों से प्रयुक्त होकर भक्तों के हृदय में पुष्ट होती है । इस प्रकार इसका स्थायी भाव कृष्ण रति है, इसी कृष्ण रति स्थायी भाव से निष्पन्न होने वाला रस भक्तिरस है ।

काव्यशास्त्रियों ने रस सम्बन्धी अपनी परिभाषा में इन सब बातों पर बहुत पहले ही प्रकाश डाला है । आचार्य भरत द्वारा दी गई इस परिभाषा से ये बात स्पष्ट हो जाती है --

"तत्र विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्ति:" ।

अत: यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्तिरस विषयक सामग्री मूलत: काव्यशास्त्रियों द्वारा दी गई रस की परिभाषा का छायारूप है । काव्यरस का आलम्बन लौकिक है, और भक्तिरस का अलौकिक पर गूढ़ार्थ में जाकर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिरस

उसी लौकिक अनुभूति पर आश्रित है जिस पर काव्य रस।

काव्य रस की निष्पत्ति कवि तथा सहृदय दोनों को होती है जबकि भक्तिरस की सिर्फ सहृदय विरलों को ही। काव्य-रस का समावेश तो भक्ति रस में हो जाता है पर भक्तिरस को काव्यशास्त्रियों ने अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है। भक्तिरस साधना से सम्पन्न होता है, पर काव्य रस कवि की व्यक्तिगत अनुभूति से। भक्तों द्वारा भक्ति के साधनों का बराबर अनुशीलन करने के पश्चात् भक्ति रस का उदय होता है, पर दोनों के आनन्द में कुछ अन्तर है। काव्य रस से प्राप्त आनन्द, भक्ति रस से प्राप्त आनन्द से कुछ निम्न कोटि का रह जाता है, फिर भी दोनों के द्वारा आनन्द की प्राप्ति तो होती ही है।

सभी वैष्णव सम्प्रदायों की दार्शनिक दृष्टि में 'रसो वै: स:' श्रुति का प्रतिपाद्य लीलामय पुरुषोत्तम है, किन्तु उनके लिए भक्ति ही साध्य रही है और यह भक्ति उस प्रियतम की उपलब्धि का साधन होते हुए भी अपने में साध्य है, परम आनन्द-मयी है। भक्त कवियों ने भक्ति की अलौकिकता को स्वीकार किया है।

सूरदास ने कृष्ण की बाल लीला को स्वीकार करते हुए इस ओर संकेत किया है कि जिस रस का उपभोग नन्द और यशोदा करते हैं वह त्रिभुवन दुर्लभ है। रस के सम्बन्ध में नन्ददास ने अपनी रसमंजरी में सम्पूर्ण रसानन्द के अधिष्ठान के रूप में कृष्ण का ही स्तवन किया है। उनके अनुसार -- मैं रसमय सरस्वती की वन्दना करता हूँ, क्योंकि उन्हीं से ऐसे पदार्थों की प्राप्ति सम्भव है। वैष्णव भक्त कवियों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार हरिरस को ही एक मात्र रस स्वीकार किया है क्योंकि इसके उपभोग से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

काव्यरसों की अलौकिकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता है। काव्य-रसों में लौकिक आनन्दों से क्रमत: और लोकोत्तर चमत्कार प्रबलता के कारण अलौकिकता अवश्य है, किन्तु अलौकिकता मात्र से रस अप्राकृत नहीं हो जाता। इसी कारण भट्ट नायक ने इसे ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। यह चित्त जिसकी भूमिका में स्थायी का उद्रेक होता है, प्रकृति का ही एक विकार है। अत: काव्यरसों की अलौकिकता को स्वीकार करते हुए उसकी प्राकृतता से इनकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार सामान्य काव्यरस और भक्तिरस की चिन्तन धारा में जो प्रमुख अन्तर परिलक्षित होता है, वह यह है कि जहाँ काव्य-शास्त्रियों ने भक्ति को रस न मानकर भाव कोटि में ही रखा है वहाँ भक्ति रस के आचार्यों ने भक्ति को ही परमार्थ रस के रूप में सिद्ध किया है।

-

भक्तिकाव्य में अभिव्यक्त-भक्तिरस एवं काव्यरस

भक्ति का उत्कृष्ट रूप पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में देखने को मिलता है, जिसका प्रचार एवं प्रसार समस्त भारत में किसी न किसी रूप में बराबर होता रहा। समय के साथ-साथ यही भक्तिधारा आगे चल कर दो भागों में विभक्त हुई— निर्गुण एवं सगुण। निर्गुण भक्ति में राम को अवतार के रूप में नहीं माना गया लेकिन सगुण भक्ति-धारा में राम को विष्णु के साक्षात् अवतार के रूप में स्वीकार किया गया। रामभक्त की विचारधारा ने वैष्णव धर्म का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया, ज्ञान एवं कर्म की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्ता दी। रामभक्ति शाखा के कवियों ने निर्गुण भक्ति के स्थान पर ईश्वर के सगुण, साकार रूप में राम की उपासना पर बल दिया और वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर विष्णु के अवतार राम की भक्ति-भाव से आराधना की तथा ज्ञान और कर्म की महत्ता को स्वीकार करते हुए भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना है। इन्होंने अपने काव्य की रचना स्वान्त: सुखाय तथा लोक हित की दृष्टि से की है। हिन्दी के समस्त रामकाव्य में राम पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर के रूप में चित्रित किये गये हैं। सभी रामभक्त कवियों ने शक्ति, शील सौन्दर्य से युक्त राम के आदर्श मर्यादावादी रूप को भारतीय जनता के सामने रखकर एक लोकनायक, लोकादर्श का रूप प्रस्तुत किया। यह राम लीला-अवतारी हैं जो इस धरती पर पापों का विनाश करने, दुष्टों का संहार करने, साधु-सन्तों को प्रोत्साहन तथा धर्मोपदेश देने के लिए अवतरित हुए हैं।

राम के समान कृष्ण भी भारतीय जीवन के प्रतीक हैं। इनका वर्णन महाभारत भगवद्गीता और हरिवंश पुराण में भी मिलता है। कृष्ण काव्य-धारा में सूरदास का नाम अग्रण्य है। इन्होंने कृष्ण के प्रेममय, माधुर्य युक्त बाललीला तथा यौवन लीलाओं का सुन्दर गान किया है। सूरदास ने कृष्ण के सुकुमार लावण्यमय शरीर की प्रतीत कराते हुए उनके द्वारा किये गये असुर-दलन रूप की भी प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार कृष्ण का लोकरंजनकारी ही नहीं उनका लोकरक्षक रूप भी महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

वैष्णव भक्ति काव्य की रचनात्मक पृष्ठभूमि में मुख्य रूप से रामायण और महाभारत का योगदान रहा है। रामायण और महाभारत भी पौराणिक आधार को अपने में समेटे हुए हैं तथा पुराणों की ही भांति इसमें भी नायक के साथ-साथ उनकी वंश-

परम्परा का सविस्तार उल्लेख, पौराणिक विश्वासों का अनुमोदन, अवतारों का वर्णन, अनेक ऐसे तत्त्व हैं जिनको बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार किया गया है । पुराणों में अवतारवाद सम्बन्धी प्राय: सभी धारणाएँ मिलती हैं । तुलसीदास ने बाल्मीकि रामायण को ही आधार बनाकर अपने काव्य की रचना की । इन काव्यों में एक प्रमुख तत्व है कि नायक अपने अवतार रूप से भलीभाँति परिचित है । बाल्मीकि रामायण के लंका काण्ड में रावण-वध के उपरान्त राम ने एक श्लोक में देवतावों से अपने विष्णु रूप की चर्चा की है—

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दाशरथात्मजम् ।
सो हम् यश्च यतश्चाहं भगवास्तद ब्रवीतु मे ।[1]

रामचरितमानस में राम के साथ-साथ उनके गुरु तक को यह रहस्य ज्ञात है कि राम अवतारी पुरुष हैं । सीता स्वयंवर के अवसर पर श्री राम द्वारा शिव जी का धनुष टूटने पर परशुराम द्वारा क्रोध करने पर विश्वामित्र का राम के असली रूप को पहचानते हुए परशुराम पर मन ही मन मुस्कराना इस तथ्य को स्पष्ट करता है --

गाधिसूनु, कह हृदयँ हँसि मुनिहि हरिवरइ सूझ ।
अयमय खाँड न ऊखमय अजहुं न बूझ अबूझ ।।[2]

इसी प्रकार धनुष का अपने आप श्री राम के हाथ में पहुंचने पर परशुराम का, राम के असली रूप को पहचान कर उनसे क्षमा याचना करता --

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ । परसुराम मन बिसमय भयऊ ।
जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात ।
जोरि पानि बोले बचन हृदयँ न प्रेमु अमात ।।[3]

वस्तुत: पुराण मौखिक कथा रूप में प्रचलित थे जिन्हें बाद में कवियों ने लिपिबद्ध किया और उसके बाद के कवियों ने उन्हें अपने काव्य का आधार बनाया । वैष्णव पुराणों

---

१. बाल्मीकि रामायण, युद्धकांड, श्लोक सं० १२
२. रामचरितमानस, दोहा - २७५, पृ० २८१
३. रामचरितमानस, दोहा - २८४, पृ० २८६

की संख्या १८ बताई गई है — ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, मत्स्यपुराण, स्कन्धपुराण, कूर्मपुराण, लिंगपुराण, भविष्यपुराण, पद्मपुराण, भागवतपुराण, ब्रह्मांडपुराण, गुरुडपुराण, मार्कण्डेपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, वामनपुराण, वराहपुराण तथा नारदपुराण । इन पुराणों में विष्णु, अग्नि, वायु, ब्रह्म वैवर्त एवं भागवत को हिन्दी भक्तिकाव्य के प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है ।

श्रीकृष्ण लीला से सम्बन्ध रखने वाले पुराणों में श्रीमद्भागवतपुराण प्रमुख है । श्रीकृष्ण तत्त्व और उसकी लीलाओं का जितना विशद और सुन्दर वर्णन इसमें हुआ है उतना किसी और में नहीं । फलस्वरूप श्रीकृष्ण को परम आराध्य मानने वालों भागवत-सम्प्रदायों में श्रीमद्भागवत को प्रमुख माना गया है । भागवत के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण-लीलाओं का ही वर्णन है । दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में श्रीकृष्ण के रतिकेश्वर रूप का चित्रण है जिसमें श्रीकृष्ण के शिशु रूप के साथ-साथ किशोर रूप की असुर-संहार लीलाओं का भी वर्णन है ।

पुराणों में दुष्ट दैत्यों के और पापियों के भार से पीड़ित पृथ्वी का गौ रूप धारण कर ब्रह्मा के पास जाना, ब्रह्मा का शंकर प्रमुख देवताओं सहित गौ रूप पृथ्वी को लेकर क्षीरसागर पर पहुँचना, समाधि में ब्रह्मा को आकाशवाणी सुनाई देना और आकाशवाणी द्वारा पृथ्वी के उद्धार के लिए भगवान् का अवतार धारण करने का आश्वासन देना । दुष्ट और पापियों से संकट-मुक्त करने के लिए भगवान का देवकी के यहां अतीव तेजस्वी अद्भुत बालक रूप में आविर्भूत होना, तथा उन्हीं की प्रेरणा से वसुदेव का कृष्ण को लेकर यमुना पार करके नन्दबाबा के घर छोड़ आना और यशोदा की कन्यारूप में अवतरित योगमाया को उठा लाना । उसे लाकर देवकी के पास सुला देना और तत्पश्चात् बन्दीगृह की किवाड़ों का यथावत् रूप में बन्द हो जाना । यह सारी कथा अवतार लीला में वर्णित है । अन्य सभी पुराणों में विष्णुपुराण, हरिवंश-पुराण, वायुपुराण, कूर्मपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण इत्यादि में यही कथा थोड़े बहुत अन्तरों के साथ प्रस्तुत की गई है । विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण और बलराम का अवतार रूप में प्रकट होना श्री हरि के दो केशों - श्याम और श्वेत के फलस्वरूप बताई गई है । श्रीहरि अपने इन दोनों केशों को ब्रह्मा जी को देते हैं तत्पश्चात् श्याम केश के कृष्णरूप में और श्वेत केश के बलराम रूप में अवतरित होने की कथा है । हरिवंशपुराण में पृथ्वी का गौ-रूप धारण करना वर्णित नहीं है तथा यहां कंस को

देवकी पुत्र द्वारा उसके नाश की सूचना नारद जी देते हैं । इस पुराण में यशोदा की कन्या-रूप में अवतरित योगमाया और श्रीकृष्णरूप में देवकी से अवतरित भगवान् की अदला-बदली भगवान् की माया से स्वयं ही सम्पन्न हुई है ।

वायुपुराण में सारी कथा तो उसी प्रकार है केवल अन्तर इतना है कि आकाशवाणी द्वारा देवकी के सातवें गर्भ से उत्पन्न पुत्र को कंस के कालरूप में निर्देश किया गया है ।

इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी इस कथा को थोड़े बहुत अन्तरों के साथ प्रस्तुत किया गया है ।

इन सभी पौराणिक मान्यताओं, विश्वासों एवं प्रचलनों को मध्यकालीन वैष्णव कवियों ने अपने काव्य में सामाजिक मान्यता के रूप में स्थापित किया है । श्रीकृष्ण और राम दोनों ही पृथ्वी का उद्धार करने के लिए, दुष्टों का संहार करने के लिए तथा आदर्श मंगलमय राज्य की स्थापना के लिए ही अवतरित होकर अनेकानेक लीलाएं करते हैं ।

लीला शब्द का सामान्य अर्थ क्रीड़ा अर्थात् खेल से है । लीला का दर्शनपरक अर्थ विशेष रहस्य गर्भित है । इसमें अनेक प्रश्न ऐसे उठते हैं जो यह विचार करने पर जोर डालते हैं कि ऐसा क्यों हुआ कैसे परमात्मा सृष्टि की रचना को करता है । इस प्रश्न का उत्तर भी लीला शब्द से दिया गया है । लीला के अनेकों भेद-विभेद किए गए हैं । श्री वल्लभ ने लीला के दो भेद स्वीकार किए हैं -- (१) नाम लीला (२) रासलीला । इनके भी अनेकों भेद अभेद किए गए हैं ।

ब्रज में भगवान की लीला अनेक प्रकार की है । इसमें मुख्य भाव दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य है । इसी के आधार पर भक्तों की प्रीति वर्णित है । कान्ता या मधुर रति के लिए भगवान अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं जिन्हें प्रधान महत्व प्राप्त हुआ । हिन्दी साहित्य कोश में "लीला" शब्द के अर्थ-विस्तार में "यद्यपि पुष्टिमार्ग गोपाल कृष्ण के बालरूप की ही प्रकटत: वैधानिक मान्यता है, परन्तु उनके किशोर भाव की उपासना का भी विशद विस्तार पुष्टिमार्गीय भक्तों के काव्यों में मिलता है ।"[१]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६८५

श्री कृष्ण ने मर्यादा पुरुषोत्तम रूप में भी लीला की है -- "कृष्ण का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप है मथुरापति, द्वारकाधीश, देवकीनन्दन । मर्यादा पुरुषोत्तम रूप से उनका प्रयोजन वेद-धर्म की रक्षा तथा मर्यादावादी स्थापना होता है । ब्रज में अनेक असुरों का संहार उन्होंने इस रूप में किया है । अत: असुर-संहार-लीला या मर्यादा-स्थापना या धर्म-रक्षा की लीला मर्यादा पुरुषोत्तम की मर्यादालीला है ।"[१]

"इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राम तथा कृष्ण-कथा के सन्दर्भ में भक्ति-भावना बहुत पहले से चली आ रही थी । पुराण काल तक भारतीय संस्कृति प्राय: आस्थामूलक हो चुकी थी । इस आस्थामूलक भावना के साथ-साथ अवतारवाद की धारणा का सम्पूर्णत: विकास भक्तिकाल तक हो चुका था । अवतारवाद की धारणा से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होने के कारण भक्ति ने मध्यकालीन धार्मिक चेतना पर अधिकाधिक प्रभाव डाला ।"[२]

भक्तिकालीन कृष्णकाव्य लोकरंजकारी प्रवृत्ति को लेकर हिन्दी काव्य में प्रवाहित हुआ है । कृष्ण का यही विलक्षण व्यक्तित्व एवं अद्वितीय रूप भारतीय धर्म-साधना साहित्य और संस्कृति को सदैव प्रवाहित करता रहा । कृष्ण इस धरती पर लीला करने के लिए मानवीय तन का आश्रय लेकर मानवीय लीला का रसास्वादन सहज रूप में करते हैं । कृष्ण की यह लीलाएँ सहज स्वाभाविक रूप में दुख-सुख, हर्ष-विषाद की अभिव्यक्ति करती है जिनके कारण मानव मन को इन लीलाओं ने विशेष रूप से मोहित और रसासिक्त किया है ।

श्रीकृष्ण की रसपरक लीलाओं का आधार श्री राधा हैं । वे श्रीकृष्ण की परम अन्तरंग आह्लादिनी शक्ति है । "श्री वल्लभ ने श्री राधा तत्व को भागवत में बीज रूप में प्रतिपादित किया है -- राधस शब्द से वाच्य है भगवान् की अनिर्वचनीय स्वरूपा सिद्धि । ऐसी सिद्धि कहीं भी अन्यत्र नहीं है, न तो इस जैसी कोई सिद्धि है और न ही इससे अधिक हो सकती है । इस सिद्धिस्वरूपा राधा से भगवान् (श्रीकृष्ण) अपने अक्षरात्मक धाम में, जोकि उनका उपजा गृह है, रमण करते हैं । भगवान् स्वनिष्ठ

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६८४

२. डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह, हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य : काव्यादर्श तथा काव्य-सिद्धान्त, पृ० १२ ।

रस को ही उसके सम्पन्न से अभिव्यक्त करते हैं। उनका यह रमणस्वरूप व्यवस्थिति से व्यतिरिक्त कहीं अन्यत्र नहीं। भगवतीय रस की प्राप्ति का एकमात्र स्थान वही है, इत्यादि।[१]

सूर ने अपने काव्य में राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं का श्रवण, स्मरण, चिन्तन एवं गायन किया है। कृष्ण भक्ति धारा के प्राय: सभी कवि कृष्ण की प्रणय लीलाओं में ही लीन रहे हैं। सूर ने भी अपने काव्य में इन लीलाओं का प्रचुरता से प्रयोग किया है। कृष्ण की लीलाओं का मुख्य उद्देश्य अखण्ड आनन्द में जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभिव्यंजना करना है। इन लीलाओं में प्रमुख रूप से बाल कृष्ण की वात्सल्यपूर्ण लीलाएँ, सख्य रूप की लीलाएँ तथा माधुर्य भाव की लीलाएं व्याप्त हैं, जिसमें सर्वाधिक महत्व माधुर्य भाव की लीलाओं को प्राप्त हुआ क्योंकि कवियों ने इसके माध्यम से अखण्ड आनन्द को अनुभव किया।

भक्ति के प्रमुख आलम्बन के रूप में तो भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में राम और कृष्ण ही लोकप्रिय रहे हैं, क्योंकि इनके व्यक्तित्व और चरित्र की कल्पना इतने उदात्त और आदर्श रूप में की गई है कि उसमें व्यक्ति की समस्त रागात्मक अनुभूति अपने श्रेष्ठ रूप में विद्यमान है। इन दोनों लीला अवतारों की उपासना में मधुर भावों का समावेश भी हुआ है। कृष्ण का रूप तो प्राचीन काल से ही भक्तों के लीला विहार का आकर्षण केन्द्र रहा है परन्तु राम का स्वरूप १६ वीं शताब्दी के उपरान्त ही लीला विहार का क्षेत्र माना गया और उसमें भी मधुर भावना का प्रवेश हुआ इससे पहले राम का रूप दुष्ट दमनकारी मर्यादापुरुषोत्तम राम के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता रहा।

रामकाव्य का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है, इसमें केवल राम की उपासना ही नहीं की गई वरन् शिव, गणेश आदि की स्तुति भी समय-समय पर लीला रूप में अवतरित राम, सीता आदि से करवाई गई है। तुलसीदास ने अपने आदर्शों के माध्यम से भक्ति की इतनी सुन्दर व्याख्या की है जिसके फलस्वरूप धार्मिक क्षेत्र को एक सुदृढ़ मार्ग प्राप्त हो सका। रामभक्ति को प्रौढ़ता पर पहुँचाने का श्रेय महाकवि तुलसीदास को ही है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार — "तुलसीदास ही राम साहित्य के सम्राट हैं। इन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव जीवन की जितनी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की है, उतनी हिन्दी साहित्य के किसी कवि ने नहीं की। इस समीक्षा

---

१. जगदीश भारद्वाज, कृष्णकाव्य में लीला वर्णन, पृ० १३५

के साथ ही इन्होंने लोक शिक्षा का भी ध्यान रखा और मानव-जीवन में ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो विश्वजनीन हैं और समय के प्रवाह से नहीं बह सकते हैं।[1]

महाकवि तुलसीदास का 'रामचरितमानस' नाना पुराण निगमागम-सम्मत है उसमें उन सभी परम्पराओं का निर्वाह किया गया है जो भारतीय समाज में मान्य थीं। रामचरित मानस में राम के अनेकानेक रूपों तथा गुणों का वर्णन किया गया है। तुलसीदास ने राम में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों को समाहित बताया है --

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो।।[2]

सर्वप्रथम राम परब्रह्म के रूप में चित्रित किये गये हैं तथा सीता शक्ति रूप में। रामचरित मानस में राम के विष्णु रूप का भी वर्णन किया गया है --

फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं।।

यहाँ राम को ही कमलापति विष्णु कहा गया है। जिन्होंने नारद के शाप से शापित होने के कारण मनुष्य रूप में अयोध्या नगरी में अवतार लिया। इस प्रकार प्रभु प्रत्येक कल्प में अवतार लेते हैं और नाना प्रकार की सुन्दर लीलाएं करते हैं --

'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं।'[3]

तुलसीदास ने ब्रह्म के मनुष्य रूप में अवतरित होने तथा लीला करने के कारणों को भी स्पष्ट किया है--

जब जब होई धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

इस प्रकार तुलसीदास ने यह स्पष्ट कर दिया कि मनुष्य के रूप में जो राम हैं वही परब्रह्म हैं। इस तत्व को तुलसीदास ने अनेक माध्यमों से अभिव्यक्त किया है जैसे -- शिव-पार्वती के माध्यम से काकभुशुण्डि और गरुण के माध्यम से याज्ञवल्क्य और भारद्वाज

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३३७

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २८

३. तुलसीदास, रामचरितमान, चौ० १, पृ० १५२

के शंका समाधान में तथा तुलसीदास द्वारा समस्त सज्जन समाज को उपदेश और महिमा गान के रूप में ।

राम मानव रूप में अवतरित होकर मानव के समान ही सुख-दुख से आन्दोलित होते हुए दिखाए गए हैं । इसका सजीवन एवं मार्मिक दर्शन सीता हरण के पश्चात् श्री राम के विरहाकुल होकर सामान्य मानव की तरह विलाप करने में मिलता है —

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी तुम देखी सीता मृग नैनी ।
यहि विधि खोजत विलपत स्वामी ।मनहुं महा विरही अति कामी[१] ।।

इस प्रकार तुलसीदास ने राम के अनेक लीलामय रूपों का वर्णन करते हुए उनसे सम्बन्धित रसों को उद्भूत किया है ।

इसी प्रकार कृष्ण काव्य भी जनता को रसानुभूति कराने में सफल रहा है । कृष्णकाव्य में वात्सल्य, शान्त तथा शृंगार रस का पूर्ण परिपाक है । शान्त रस का वर्णन हमें संसार की निस्सारता, माया, पाप इत्यादि में दिखायी पड़ता है । कृष्ण-काव्यधारा के प्राय: सभी कवियों ने सख्य-भाव की सुन्दर अभिव्यंजना की है, इन्होंने सर्वाधिक महत्व माधुर्य रति को ही दिया है और इसके माध्यम से रंजनकारी और मंगल-कारी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है । राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं को इतने सहज रूप में चित्रित किया है कि वह साधारण पाठक को भी आनन्दित कर देती है । कृष्ण के साथ-साथ प्रकृति भी लीला विहार का आकर्षण केन्द्र रही है । कवियों ने गोकुल और वृन्दावन में प्रकृति की सुन्दरता के विविध रूपों को प्रदर्शित किया है । पेड़ पौधे, जल सरिता मधुवन इत्यादि प्रकृति के अन्य अनेक उपकरण मानवीय क्रिया-कलापों से सम्पन्न दिखाई दिए हैं । प्रकृति के साथ-साथ पशु-पक्षी वर्ग भी श्री कृष्ण की लीलाओं से प्रसन्न एवं पुलकित दिखायी दिया है । इस प्रकार कृष्ण भक्तिकालीन कवियों ने भक्तों को लोकोत्तर आनन्द प्रदान कराने वाली प्रकृति और कृष्ण का लीला-धाम वृन्दावन सभी कुछ अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है । प्रकृति की रमणीयता को स्वीकार करते हुए डा० रघुवंश ने कहा है कि —

"कृष्ण भक्त कवियों ने भगवान् के संसर्ग में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित

---

१. तुलसीदास, रामचरितमानस, दो० ५, पृ० ७३५

किया है किन्तु इसमें लीला की भावना प्रमुख है और इसीलिए इनके काव्य में प्रकृति लीला की पृष्ठभूमि के रूप में प्रभावित, मुग्ध या उल्लसित हो उठती है । इन सभी कवियों ने वृन्दावन, यमुना, गोकुल आदि की आदर्श कल्पना की है । ये स्थल कृष्ण की नित्य लीला से सम्बन्धित होने के कारण चिरन्तन प्रकृति के रूप हैं ।[1]

कृष्ण भक्तिकालीन कवियों ने प्रकृति के रम्य-रूप को प्रस्तुत किया है किन्तु सूर और नन्ददास ने प्रकृति के रम्य रूप के साथ-साथ प्रकृति के कठोर, भयानक रूप का भी वर्णन किया है । परिणामस्वरूप भक्तकालीन सभी कवियों ने लगभग सभी रसों का वर्णन किया है ।

हिन्दी काव्य की विभिन्न परम्पराओं के अन्तर्गत निर्गुण की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है किन्तु सगुण तत्व को भी भुलाया नहीं गया है । पुराण-साहित्य हमें तो अनेक स्थानों पर ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की विवेचना करते हुए उसके सगुण साकार स्वरूप की स्थापना की गई है । कबीर के राम या ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी विविध अलौकिक कार्यों के सम्पादन करने की क्षमता रखते हैं । ब्रह्म का साकार स्वरूप तो भक्त की उपासना और श्रद्धा पर आधारित है । वैष्णव मत में शिव, गणेश, शक्ति आदि की प्रतिष्ठता भी दो रूपों में की गई है, एक अनन्य भक्त के रूप में दूसरा भक्ति की ओर अनुकूल सहायक के रूप में । साकार रूप में उपासना करने पर ही इन सभी देवताओं को दिव्य गुणों से युक्त माना गया है ।

तुलसीदास का रस सिद्धान्त मूलत: भक्तिरस से सम्बद्ध है उन्होंने दस रसों का वर्णन किया है । काव्यशास्त्रीय परम्परा के नव रसों के साथ-साथ भक्तिरस का भी उल्लेख किया है । तुलसी की दृष्टि में रस काव्य का सुन्दरतम धर्म है । भक्तिरस को उन्होंने काव्य के अंगीरस के रूप में प्रकट किया है तथा अन्य काव्य रसों को अंग रूप में । भक्तिरस को उन्होंने काव्य की आत्मा माना है । 'भक्ताचार्यों के मतानुसार कीर्तन आदि के द्वारा द्रुत भक्त-चित्त की भगवदाकारता भक्तिरस है, और भक्तिपरक विभावादि के निरूपक काव्य की भावना से प्रतीत आनन्द भी भक्तिरस है । भक्त के लिए भक्ति-दशा ही रस-दशा है, चाहे भगवान् के स्मरण मात्र से हो, चाहे अर्चन आदि से, चाहे काव्य

---

१. डा० रघुवंश, प्रकृति और काव्य, पृ० ३१४

से । भक्ति स्वयमेव रस है । भक्त के मन में प्रतिबिम्बित परमानन्दस्वरूप भगवान ही भक्तिरस है । रस का आनन्दवादी सिद्धान्त भक्ति रस में सबसे अधिक गतार्थ होता है, क्योंकि वह प्रत्येक दशा में आनन्दमय है ।[१]

परमात्मा आनन्द स्वरूप है अतएव परमात्मा से सम्बन्धित काव्य भी आनन्द स्वरूप ही होगा । इसी भावना से प्रेरित होकर तुलसी ने अपने मानस के आदि में लिखा है कि काव्य के मुक्तामणि सज्जनों के हृदय को सुशोभित तभी कर सकते हैं जब वह प्रभु के चरित्र रूपी धागों से गुंथ जाएं अन्यथा माणिक्मुक्ता व्यर्थ है —

> हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ।।
> जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।।
> जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग ।
> पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग ।।[२]

इस युग के भक्ताचार्यों ने भक्तिरस को सर्व रसों का शिरोमणि स्वीकार करके यह प्रमाणित कर दिया कि जिस प्रकार सहृदय पाठक अभिज्ञान शाकुन्तलम् को पढ़ कर शृंगार रस का आस्वादन करता है । उसी प्रकार भक्त भक्तिरस से सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़ कर ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं जिसे काव्य-शास्त्र के अनुसार रस की संज्ञा दी जा सकती है ।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि भक्तिकालीन कवियों ने अपने काव्य में भक्तिरस को अत्यधिक महत्ता दी है और इस भक्तिरस की धारा पौराणिक काल से प्रवाहित होती चली आ रही है । जिसके भक्तिकालीन कवियों ने अपने काव्य में सर्वश्रेष्ठ रस रूप में प्रतिपादित किया है । अब हम इन कवियों के काव्य में अभिनव भक्तिरस और काव्यरस दोनों की अलग-अलग व्याख्या कर रहे हैं ।

---

१. डा० उदयभानु सिंह, तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृ० २४८

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १८-१९

गोस्वामी तुलसीदास –

गोस्वामी तुलसीदास रसवादी कवि हैं, उन्होंने अपनी सभी महत्वपूर्ण कृतियों में अत्यन्त उच्चकोटि की रस-निबंधना की है। सम्पूर्ण विनय पत्रिका में तुलसीदास ने आत्म-निवेदन के स्वरों में राम भक्ति की कथा को प्रवाहित किया है, तथा साथ में राम नाम को अमरता तथा प्रज्वलता प्रदान की है। मानस में भक्तिरस का पूर्ण परिपाक हुआ है। भक्ति शास्त्रियों के मतानुसार तो केवल भक्तिरस ही पूर्ण रस है –

> 'परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
> खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥'[1]

रामचरित मानस में यह इतना पुष्ट और प्रभावशाली होकर प्रकट हुआ है कि एकाध विचारक 'मानस' को सामान्य काव्य से भिन्न भक्तिरस का ग्रन्थ मानना अधिक उपयुक्त मानते हैं। 'रामचरितमानस' का अंगी रस भक्तिरस है। संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने भक्तिरस को गौरव नहीं दिया था, क्योंकि उनके समक्ष भक्तिरस काव्य कोई महाकाव्य नहीं था। 'रामचरितमानस' उस रस-परिपाटी से भिन्न कोटि का महाकाव्य है। तुलसी ने लीक छोड़कर भक्तिरस को अंगी रस के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। उसकी सर्वांगव्यापकता, एकतानता, प्रभविष्णुता और अद्वितीयता ने 'अंगी' शब्द को पूर्णतः सार्थक कर दिया है। परम्परावादी आचार्यों द्वारा उपेक्षित भक्ति-रस भी काव्यरस है।[2]

विनय पत्रिका भक्तिरस का एक अति उत्कृष्ट काव्य है, जो करुण, कोमल, संगीत और लय भरे छन्दों में मानव जीवन और उपासना का चरम आदर्श प्रस्तुत करती है। सामान्यतः उपास्य के प्रति उपासक की एकनिष्ठ पवित्र उपासना ही भक्ति कहलाती है। इस प्रकार तुलसी साहित्य का अंगीरस भक्तिरस ही है। इसके आलम्बन सत्, चित, आनन्दघन दशरथ पुत्र श्री राम हैं। उनके अद्भुत गुण और कर्म उद्दीपन है आश्रय है भक्त। अनुकूल अनुभावों और संचारी भावों से परिपूर्ण होकर उनकी रामपद रतिमयी चित्तवृत्ति भक्तिरस रूप में प्रकट हुई।

---

१. भक्तिरसायन – २ । ७६

२. उदयभानु सिंह, तुलसी-काव्य मीमांसा, पृ० ४२६

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्यों में काव्यशास्त्रीय परम्परा में विख्यात नवरस (शान्त, शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, रौद्र, भयानक और बीभत्स) तथा वैष्णव आचार्यों द्वारा स्वीकृत भक्तिरस का साक्षात उल्लेख किया है । आचार्य विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत वात्सल्य रस का भी प्रतिपादन किया है, यद्यपि उन्होंने वात्सल्य रस का नाम नहीं लिया है, तथापि उनके काव्य में वात्सल्य रस की अभिव्यंजना हुई है । इस प्रकार उनके काव्य में ग्यारस रसों की व्यंजना प्रस्तुत है, परन्तु उन्होंने अपने काव्य का एक मात्र रस `भक्तिरस` ही माना है ।

तुलसीदास की दृष्टि में उनके काव्य का एक ही मुख्य विषय है और वह है— राम यश का गान —

> भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक ।
> सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक ।।[1]
> एहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान श्रुति सारा।।
> मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।।[2]
>
> ^ ^ ^
>
> राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु ।[3]

तुलसीदास ने अन्य रसों का तिरस्कार किए बिना ही भक्तिरस की मुख्यता प्रतिपादित की है । अपने काव्य में अंगीरस रूप में भक्तिरस को ही रखा है । भक्तों के लिए भक्तिरस ही एक मात्र रस है । काव्यरसों के रूप में स्वीकृत शृङ्गारादि रस इसी अंगी भक्तिरस के आश्रित एवं उपजीवी है, इससे स्वतंत्र होने पर ही तुलसी के लिए वह विषय-रस है ।

तुलसीदास काव्य-रसों की आवश्यकता,उनकी मधुरता और उनके स्वरूप से अनभिज्ञ नहीं थे, वरन् वे उसके शास्त्रीय स्वरूप से अच्छी तरह परिचित थे । इसके साथ ही साथ वे इस बात से भी अच्छी तरह परिचित थे कि मधुर भक्तिरस का आस्वादन कर लेने पर ये काव्यरस अत्यन्त फीके और अनरस लगते हैं ।

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा ८, पृ० १६

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० १, पृ० १६

३. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दो० २०८, पृ० ५६८

जो मोहि राम लागते मीठे ।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वे जाते सब सीठे ।।[1]

रामचरित मानस में तो उन्होंने इन नव रसों को सरोवर के सुन्दर जलचर जीव की संज्ञा दी है — 'नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ।'[2] तुलसीदास ने अपने काव्य में अटूट श्रद्धा और अन्धविश्वास की-सी भक्तिभावना से जुड़ते हुए यहाँ तक कहा है कि मेरी रचना में कविता का एक भी रस नहीं है अपितु इसमें जो कुछ भी है वह सिर्फ राम का प्रताप है —

'जदपि कवित रस एकउ नाहीं । राम प्रगट एहि माहीं'

अत: यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि तुलसी ने जैसी घनीभूत निबंधना, अविच्छिन्न धारा और सशक्त ध्वनि भक्तिरस के प्रति ध्वनित की है वैसी अन्य रसों के प्रति नहीं ।

तुलसीदास के सभी ग्रन्थों का उद्देश्य रामचरित का यशोगान करना है और इस 'राम-गान' को उन्होंने अपने विविध ग्रन्थों में विविध दृष्टियों और विविध कोणों से सम्पन्न किया है । इस विविधता के अनुरूप ही रस परिकल्पना की विविधा भी हमें उनके काव्य में मिलती है ।[3]

तुलसीदास का रामचरित मानस काव्यरस-परिपुष्ट-अंगी भक्तिरस का काव्य है, विनयपत्रिका शुद्ध भक्तिरस का ग्रन्थ, कवितावली भक्ति परिपुष्ट काव्य-रसों की परिकल्पना, सामने लाती है और गीतावली भक्तिरस के समन्वय का काव्य है । तुलसी के काव्य में रस परिकल्पना की व्याख्या करने के लिए हम इन काव्यों को ही आधार मानकर यहाँ चले हैं ।

शान्त भक्तिरस —

शान्त भक्तिरस का स्थायी भाव संकल्प-विकल्प से रहित तत्वज्ञानी भक्तों की शांतारति है । तुलसीदास की भक्ति में शान्त भावना सहज रूप से घुली हुई है, परन्तु मानस का अंगी रस भक्तिरस ही है और अंग रसों में उन्होंने विविध काव्यरसों

---

१. विनय पत्रिका, पद संख्या - १६६
२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ५, पृ० ५०
३. डा० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना, पृ० ३५८

का प्रयोग किया है। रामचरितमानस में इस शान्त भक्तिरस का प्रयोग जनसाधारण को सम्बोधित करते हुए किया गया है—

एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।।
नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।।[1]

...

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई।।[2]

विनयपत्रिका अपने में ही परिनिष्ठित भक्तिरस का काव्य है। भक्तिरस के परिपाक की दृष्टि से इसे तुलसीदास की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है। 'विनय पत्रिका में तुलसी की गम्भीर एवं प्रांजल अनुराग-भावना आत्माभिव्यंजना के रूप में व्यक्त हुई है। अतः इसकी रस परिकल्पना में जो अनुभूति की तीव्रता है वह अन्यत्र नहीं मिलती।'[3] यहां हम विनयपत्रिका से कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं --

हे हरि। यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-संदेह न जाई।।
... ...
जनविचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया-बिबेक तें, व्यवहारी सुखहारी।।
तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति, संत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै।।[4]

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु। दास-हित। मोह न छूटै माया।।
बाक्य-ग्यान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई।।
... ...
जबलगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मनमाहीं।
तुलसिदास तबलगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं।।[5]

१-२. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, चौ० १-२, पृ० १०५६
३. डा० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना, पृ० २५६
४. विनयपत्रिका, पद संख्या - १२१
५. विनयपत्रिका, पद संख्या - १२३

इन पदों में शान्त भक्तिरस की गहरी अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। पं० चन्द्रबली पाण्डे का कथन है कि 'विनयपत्रिका' वास्तव में शान्तरस का ही ग्रन्थ है। शान्तरस की जैसी धारा विनयपत्रिका में बही है वैसी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं है।' इस प्रसंग में उन्होंने तुलसी के 'मूल उपदेश' का उदाहरण दिया है -

लाभ कहा मानुषतनु पाये।.......
... ...
सुर दुरलभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गंवाये ।।
गई न निज पर बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाये।
तुलसिदास बीते यह अवसर का पुनि के पछताये ।।[1]

विनयपत्रिका में श्री राम के महत्व ज्ञान, आत्म दैन्य, निरवलम्बन, विश्वास, अनन्यता, आत्म-निवेदन आदि भावों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

रस परिकल्पना की दृष्टि से कवितावली ही तुलसी की एक ऐसी कृति है जिसमें केवल शान्त और दास्य भक्तिरस के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इतना अवश्य है कि ये रस भक्तिभावना की सामान्य चेतना को अपने में समेटे हुए हैं। काव्यरसों का ऐसा सुन्दर वर्णन तुलसीदास ने अपनी किसी अन्य कृति में नहीं किया है जैसा कि कवितावली में प्रस्तुत है। शान्त भक्तिरस के उदाहरण कवितावली के उत्तरकाण्ड में देखे जा सकते हैं।

गीतावली एक गीति काव्य है इसमें तुलसी द्वारा प्रस्तुत एक नया मोड़ द्रष्टव्य है। इसमें उन्होंने राम को आदर्श रूप में रखते हुए राम-काव्य और कृष्ण-काव्य की अलग-अलग धाराओं को एक समन्वित रूप में प्रवाहित किया है।

दास्य भक्तिरस -

रामचरितमानस भक्तिरस परिपूर्ण काव्य होने के साथ-साथ ज्ञान विवेक से भी भरा हुआ है। इसकी कथा परिचित एवं सहज संवेद्य होने के कारण जन-सामान्य के अधिक निकट है। इसी कारण ये समाज में लोकमंगल के शुभ प्रभाव के रूप में व्याप्त है। तुलसीदास ने अपनी लगभग सभी रचनाओं में दास्य भक्तिरस का प्रयोग किया है। दास्य-भाव उनकी भक्तिरसात्मक कृतियों का अन्तर्यामी भाव है। यही कारण है कि वात्सल्य

---

१. पं० चन्द्रबली पाण्डे - तुलसीदास, पृ० संख्या २५६

के आश्रय और साख्य के आश्रय भी उनके प्रति दास्य-भाव का निवेदन करते हैं। तुलसीदास मूलत: दास्य भक्ति के कवि हैं --

मोरे सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही ।।[१]

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ।।[२]

पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ।।[३]

विनयपत्रिका में दो भक्तिरस मुख्यरूप से अभिव्यक्त हुए हैं प्रथम - शान्त भक्तिरस और द्वितीय - दास्य भक्तिरस। शान्त भक्तिरस का विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। दास्य भक्तिरस भी विनयपत्रिका में परिपक्व रूप में दृष्टव्य है --

नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ।।[४]

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ।।
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ।।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ।।[५]

इस प्रकार के दास्यभाव से परिपूर्ण प्रेम-सिंचित भाव अन्यत्र भी दृष्टिगोचर हुए हैं।

कवितावली में भी दास्य भक्तिरस का वही रूप है जो मानस और विनय-पत्रिका में है --

महाबली बालि दलि, कायर सुकंठु कपि
सखा किए महाराज! हो न काहू कामको।

---

१. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, चौ० १, पृ० ५६३
२. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दो० ७१, पृ० ४३६
३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ३, पृ० २२१
४. विनयपत्रिका, पदसंख्या १०४
५. विनयपत्रिका, पदसंख्या १०५

भ्रात-घात-पातकी निसाचर सरन आएं,
किया अंगीकार नाथ। एते बड़े कामको ।।
राम दशरत्थके। समर्थ तेरे नाम लिएं,
तुलसी- से कूरको कहत जगु रामको।
आपने निवाजेकी तो लाज महाराज को
सुभाउ, समुफत मनु मुदित गुलामको ।।[1]

गीतावली में भी दास्य भक्ति की व्यंजना हुई है, परन्तु यह रस प्राकृत रस रूप में ही सिमट कर रह गया है। यह भक्ति भाव कई स्थलों पर अभिव्यक्त हुआ है। जैसे -- अहल्योद्धार, शबरी मिलन इत्यादि --

रामपद पदुम-पराग परी।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी ।।
प्रबल पाप पति-साप दुसह दव दारुन जरनि जरी ।
... ...
बारकति हृदय सरूप, सील, गुन प्रेम-प्रमोद-भरी।
तुलसिदास अस केहि आरत की आरति प्रभु न हरी ?।।[2]
< ^ <
परसि जो पायँ पुनीत सुरसरी सोहै तीनि-गवनी।
तुलसिदास तेहि चरन-रेनुकी महिमा कहै मति कवनी ।।[3]

अन्य और भी प्रसंग है परन्तु काव्य दृष्टि से इन प्रसंगों में राम व्यंजना को स्वीकार नहीं किया गया है। ये उद्धरण भाव व्यंजना तक ही सिमट कर रह गए हैं, किन्तु पर्यवसित रूप में यह भाव-व्यंजना सामान्यत: विभाव के महत्त्व को उभारती हुई भक्तिरस का ही परिपाक करती है।

सख्य-भक्तिरस -

सख्य भक्तिरस के भी कुछ उदाहरण रामचरितमानस में देखने को मिलते हैं। मानस में भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा विभीषण राम के सख्य के रूप में प्रस्तुत किए गए

---

१. कवितावली, गो० तुलसीदास, व्याख्याकार, इन्द्रदेवनारायण, उत्तरकाण्ड, पृ० १००
२. गीतावली, गो० तुलसीदास, बालकाण्ड, ५७, पृ० १०२
३. गीतावली, गो० तुलसीदास, बालकाण्ड, ५८, पृ० १०३

हैं, परन्तु यहाँ इनकी भक्ति सख्य भाव की न होकर दास्य भाव की परिलक्षित हुई है। निम्नलिखित उदाहरण में सख्य भाव की भक्ति है —

सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने।
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई।[1]

× × ×

केसव ! कारन कौन गुसाईं।
जेहि अपराध असाध जानि मोहिं तजेउ अग्यकी नाईं।।
परम पुनीत संत कोमल-चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र, ब्याध, गनिकहि तारेहु, कछु रही सगाई।।
... ...
तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई।।[2]

दूसरा उदाहरण विनयपत्रिका से लिया गया है। इन पदों में सख्य भाव का समावेश है। दूसरे उदाहरण में तो तुलसीदास अपने सखा से नाराज़ होकर डांट तक लगाते हुए प्रतीत हुए हैं।

वात्सल्य-भक्तिरस-

वात्सल्य-भक्तिरस का स्थायी भाव ईश्वर-विषयक वात्सल्य है। बालक राम के प्रति उत्पन्न वात्सल्यरस, वात्सल्य भक्तिरस में ही पर्यवसित हुआ है यह भक्तिरस श्रीराम के जन्म के साथ ही प्रारम्भ हुआ— शिशु रूप में ही माता को अखण्ड अद्भुत रूप के दर्शन करा के —

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।।[3]

यहाँ अद्भुत मिश्रित भक्तिरस की अनुभूति अभिव्यक्त है।

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूदि चरननि सिरु नावा।
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी।।[4]

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० १, पृ० २३३
२. विनयपत्रिका, पद संख्या ११२, पृ० १८९
३. रामचरितमानस, दोहा - २०१, पृ० २१०
४. रामचरितमानस, चौ० ३, पृ० २११

बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि ।
अब जनि कबहूं व्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ।।[१]

यहाँ शिशु राम की सुन्दर कमनीय झलक दिखाते हुए तुलसी ने मातृ हृदय को भक्तिरस में निमग्न दिखाया है । काव्य में जहाँ कहीं भी माँ कौसल्या भक्तिरस से हट कर स्वाभाविक वात्सल्य की अनुभूति करने लगती हैं, वहीं तुलसीदास तुरन्त श्री राम के परब्रह्म रूप की ओर संकेत करते मिल जाते हैं -

हृदयँ अनुग्रह इंदु प्रकासा । सूचत किरन मनोहर हासा ।।
कबहुं उछंग कबहुं बर पलना । मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना ।।[२]
< < <
व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ।।[३]

जन्म के समय ही मुनि वशिष्ठ श्रीराम की महत्ता और परब्रह्मता को स्वीकार करते हुए चारों भाईयों का नामकरण संस्कार सम्पन्न करते हैं -

जो आनंद सिंधु सुखरासी । सीकर तें त्रैलोक सुपासी ।।
सो सुखधाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक बिश्रामा ।।[४]
< < <
बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ।।
जाके सुमिरन तें रिपु नासा । नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ।।[५]
< < >
लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार ।
गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ।।[६]

वात्सल्य भक्तिरस में भगवान वात्सल्य के विष्यालंबन है ।

रस परिकल्पना की दृष्टि से कवितावली में भक्तिरस की अपेक्षा काव्यरसों को

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दो० २०२, पृ० २११
२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ४, पृ० २०७
३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दो० १६८, पृ० २०७
४-५ रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ३-४, पृ० २०६
६. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दो० १६७, पृ० २०६

अधिक उभारा गया है । मानस में जहाँ काव्यरसों के ऊपर भक्तिरस छाया हुआ है, कवितावली में वहीं काव्यरस भक्तिरस के ऊपर है । कवितावली में भी राम को ही भक्ति का मूल आदर्श रखा गया है जैसाकि मानस में है परन्तु यहाँ राम के महत्व को अनावश्यक चेतना एवं अलौकिकत्व-- प्रदर्शन से आच्छादित नहीं किया गया है । मानस में इन तत्वों का वृहद रूप में प्रयोग करने के कारण ही काव्यरसों को भक्तिरस के भीतर समेट लिया गया है, और कवितावली में इस प्रयोग के न होने के कारण काव्यरसों का प्रकृत एवं सहज विकास हो सकता है । कवितावली में भक्तिरस मुख्यत: दो ही प्रस्तुत हुए हैं —शान्त भक्तिरस — दास्य भक्तिरस जिनकी व्याख्या हम आगे कर चुके हैं ।

गीतावली में वात्सल्य भक्तिरस की अभिव्यंजना तुलसी ने मुक्त हृदय से की है, इसमें संयोग और वियोग दोनों पक्षों को उभारा गया है । वात्सल्य का वियोग पक्ष अत्याधिक मार्मिक है । संयोग वर्णन में वात्सल्य भक्तिरस कई रूपों में अभिव्यक्त हुआ है, जैसे —

छगन-मगन अँगना खेलिहौ मिलि,ठुमुक ठुमुक कब धैहौ ।[1]
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहिं बुलैहौ ।।
× × ×
पगनि कब चलिहौ चारौ भैया ?
प्रेम-पुलकि, उर लाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया ।।[2]

वात्सल्यता की अभिव्यक्ति करते हुए कवि इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाता चल रहा है कि राम परब्रह्म हैं और प्राणी रूप में इस संसार में अवतरित हुए हैं -

माथे हाथ ऋषि जब दियो राम किलकन लागे ।
महिमा समुझि,लीला बिलोकि गुरु सजल नयन,तनु पुलक, रोम-रोम जागे ।।

माताओं द्वारा बालकों को निन्द्रा कराने की चेष्टाएं और बालकों की बाल-क्रीड़ाओं को देखकर देवगणों का प्रसन्न होकर सुमन-वर्षा करना यहां भक्तिरस और भी

१-२. गीतावली, बालकाण्ड, ८-९, पृ० ५०-५१

३. गीतावली, बालकाण्ड, १३, पृ० ५६

सफल रूप में प्रकट हुआ है क्योंकि कौसल्या आदि राम के ब्रह्मतत्व से अनभिज्ञ नहीं हैं, मुनि वशिष्ठादि इसे और भी स्पष्ट कर देते हैं —

याके चरन-सरोज कपट तजि जे भजिहैं मन लाई ।
ते कुल जुगल सहित तरिहैं भव, यह न कछु अधिकाई ।।[1]

राम के वन चले जाने पर वात्सल्य का वियोग पक्ष अत्यन्त मार्मिक होकर सामने आया है । यहाँ वात्सल्य रस का विधान भक्तिरस के रंजनार्थ ही हुआ है । तुलसीदास के वात्सल्य चित्रण में मनोवैज्ञानिकता एवं रसात्मकता सूर के समान नहीं आ पायी है । गीतावली में हम वात्सल्य भक्तिरस के वियोग पक्ष को राम की विदाई के समान देखते हैं ।

सुनहु राम मेरे प्रान पियारे ।
बारौं सत्य बचन श्रुति-सम्मत, जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे ।।
... ...
अतिसय प्रीति बिनीत बचन सुनि, प्रभु कोमल चित चलत न पारे ।
तुलसिदास जौं रहौं मातु-हित, को सुर-बिप्र- भूमि -भय टारे ?[2]
६ ६ ६
सोक कूप पुर परिहि, मरिहि नृप, सुनि सँदेस रघुनाथ-सिधायक ।[3]

तुलसीदास ने रामवियोग में प्राणी जगत के साथ-साथ प्राकृतिक जगत् और जीव-जन्तुओं को भी विरहाकुल दिखाया है -

अली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि भरि पतिको हित, मातु हेतु सुत जैसे ।।
... ...
तुलसी प्रभु के बिरह बधिक हठि राजहंस-से जोरे ।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम-लखन के घोरे ।।[4]

यहाँ तुलसीदास ने राम वियोग में, राम और लक्ष्मण के घोड़ों को नेत्र से आंसू बहाते हुए तक दिखाया है । आगे राम वियोग में सारे अयोध्या समाज को शोक सन्तप्त दिखाया है ।

---

१. गीतावली, बालकाण्ड, १६, पृ० ५८
२. गीतावली, अयोध्याकाण्ड- २, पृ० १७५
३. गीतावली, अयोध्याकाण्ड - ३, पृ० १७६
४. गीतावली, अयोध्याकाण्ड - ८६, पृ० २६३

अवध सकल नर-नारि बिकल अति, अकनि बचन अनभाए ।[1]
तुलसी राम-बियोग-सोग-बस, समुझत नहि समुझाए ।।

तुलसी के वात्सल्य में संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष ही अधिक मार्मिक होकर उभरा है । इनके वात्सल्य भक्तिरस का अर्थ आराध्य राम की बाल-छवि पर मुग्ध होकर उनके बाल चरित्र का गान करना ही है ।

मधुर भक्तिरस—

कुछ आचार्यों ने शृङ्गार को ही रामचरितमानस का अंगीरस सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । 'मानस' भक्ति ग्रन्थ है, भक्ति मार्ग में चाहे वह वात्सल्य, सख्य,माधुर्य या दास्य किसी भी भाव की उपासना का मार्ग ब्रह्म के प्रति आकर्षण या रति का होना अनिवार्य है । अत: 'मानस' में जो प्रधान रस है वह अलौकिक शृङ्गाररस ही है और इसी को गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों ने भक्तिरस कहा है ।[2]

तुलसी ने मधुर भक्ति रस का भी प्रयोग किया है पर यह अत्यन्त मर्यादित एवं सीमित रूप में व्याप्त हुआ है । तुलसी के मर्यादावाद का प्रकट निदर्शन शृङ्गार-वर्णन में मिलता है । यहाँ तक कि उन्होंने शिव और पार्वती के शृङ्गार-विलास का वर्णन करना भी मर्यादा के विरुद्ध समझा है —

जगत मातु पितु संभु भवानी । तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी ।[3]

जब शिव और पार्वती का शृङ्गार ही उनके लिए अवर्ण्यनीय है तो राम और सीता के सौन्दर्य वर्णन का तो प्रश्न ही नहीं उठता । राम और सीता के संयोग और वियोग का विशद निरूपण करते हुए भी उसे सर्वथा मर्यादित रखा है । तुलसीदास सीता के वर्णन में कान्ति, मुखमण्डल, आभूषण और कर तक ही सीमित रहे आगे बढ़ने का उन्होंने साहस भी नहीं किया तथा नेति, नेति कह कर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया । परन्तु गीतावली में यह मर्यादा कुछ भंग होती-सी प्रतीत हुई है ।

---

१. गीतावली, अयोध्याकाण्ड - ८८, पृ० २६५
२. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ५५६
३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० ११६

तुलसीदास ने अपने काव्य में मधुर भक्तिरस के दोनों पक्षों को प्रस्तुत किया है। संयोग पक्ष के उदाहरण हम पुष्पवाटिका प्रसंग, विवाह के समय कोहबर में, वन-प्रसंग में ग्राम-वधुओं द्वारा रामादि के दर्शन पर देखते हैं।

पूर्वानुराग रूप में हमें राम तथा सीता (नायक-नायिका) दोनों की ओर श्रृंगारिक चेष्टाएँ केवल मानस में ही दिखायी पड़ती हैं। मानस में शृङ्गारिक प्रसंग की अवतारणा सर्वप्रथम जनकपुर की पुष्पवाटिका में हुई है। जहाँ एक ओर सीता की शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन है तो दूसरी ओर राम की।

सखी के वचन सुनकर सीता के नेत्र राम दर्शन के लिए आकुल हो उठे —

तासु बचन अति सियहिं सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।।[1]

नारद जी के वचनों का स्मरण करके सीता जी के मन में प्रीति उत्पन्न हो उठती है और वह चकित होकर चारों ओर इस प्रकार देखती हैं मानों भयभीत मृगछौनी हो --

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत ।।[2]

यहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सीता की उत्कण्ठा और लज्जा का संकेत 'चकित' और सभीत जैसे शब्दों से किया गया है। किन्तु साथ-साथ—

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।।

कह कर पुरानी प्रीति का हवाला देकर उनके ब्रह्मतत्व, अवतार रूप को स्पष्ट करते हुए लौकिक शृङ्गार वर्णन को ढांक देते हैं। गीतावली में इस प्रसंग का तुलसीदास ने आदर्शतापूर्ण वर्णन किया है —

सखिन सहित तेहि औसर बिधि के सँजोग
गिरिजाहु पूजिबेको जानकीहु आई हैं।
निरखि लखन राम जाने ऋतुपति-काम,
मोहि मानो मदन मोहिनी मूड नाई हैं।

---

१) रामचरितमानस, बालकाण्ड - चौ० ४, दो० २२६, पृ० २३७
२)

राघोजू- श्रीजानकी—लोचन मिलिबेको मोद
कहिबेको जोगु न मैं बातें-सी बनाई हैं।[१]

दूसरी ओर सीता के रूप-सौन्दर्य की झाँकी देखने के बाद राम पर इसका प्रभाव ऐसा पड़ता है कि उनके नेत्र पलक गिराना ही भूल जाते हैं --

अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल ।।[२]

इसके बाद की कुछ चौपाईयों में भी यह प्रसंग चला है, परन्तु तुलसीदास ने राम के चरित्र को अमर्यादित नहीं होने दिया, बल्कि कुछ चौपाईयों के बाद इस प्रसंग को एक मोड़ दिया है। विवाह के समय रामचरितमानस और कवितावली में इसकी उद्भावना हुई है -

दूलह श्रीरघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि बेद जुआ जुरि बिप्र पढ़ाहीं ।।
राम को रूपु निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं ।।[३]

इस वर्णन में तुलसीदास ने दाम्पत्य-रति की कोमल, सुन्दर व्यंजना की है। यहाँ सीता की अपनी सारी सुध-बुध भूल कर, अपने हाथ के कंकण में पड़ती हुई श्री रामचन्द्र की परछाहीं को निहारने में मग्न हैं। यहाँ राम आलम्बन हैं, जानकी के कंकण में प्रतिबिम्बित होने वाली राम की आलौकिक शोभा उद्दीपन और सीता आश्रय है। उनका सुध-बुध खोना, निर्निमेष देखना अनुभाव है। इन सबसे पुष्ट दाम्पत्य रति शृंगाररस भी भक्तिरस का अंग प्रतीत हुआ है। कवितावली की तरह रामचरितमानस में भी इस दृश्य का वर्णन है।

कोहबरहिं आने कुँअर कुँअरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै।
... ...
निज पानि मनि महुँ देखिअति मूरति सुरूपनिधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी ।।[४]

---

१. गीतावली, बालकाण्ड - पद - ७१, पृ० १२१
२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० २३८
३. कवितावली - पद संख्या - १७,
४. रामचरितमानस, छन्द - २-३, पृ० ३३७

यहाँ भी तुलसीदास ने उसी भाव को दर्शाते हुए शृङ्गाररस का सहारा लेते हुए दाम्पत्य रति की व्यंजना की है ।

गीतावली में आकर यह प्रसंग सौम्यता और शालीनता के स्थान पर उन्मुक्त होकर प्रकट हुआ है । यहाँ सीता जी शीलता और संकोचता के साथ परछाहीं नहीं देखती वरन् दोनों परस्पर एक दूसरे को नेत्रों की कनखियों से देखते हैं --

जैसे ललित लखन लाल लोने
तैसियै ललित उर मिला, परसपर लखत सुलोचन कोने ।।[1]

दाम्पत्य रति के साथ-साथ तुलसी ने सामान्य कान्तारति का भी वर्णन किया है । मानस में जनकपुर पहुँचने पर गुरु की आज्ञा लेने के पश्चात् दोनों भाई, राम-लक्ष्मण नगर घूमने निकलते हैं । नगरवासी इस रूप-सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते हैं । उनके हाव-भाव, उनकी प्रेम दशा अजीब-सी हो जाती है । एक सखी जो सर्वप्रथम इन दोनों भाइयों को देखती है उसकी प्रेम विकलता का वर्णन तुलसीदास ने अत्यन्त सजीवता के साथ किया है --

एक सखी सिय संगु बिहाई । गई रही देखन फुलवाई ।।
तेहिं दोउ बंधु बिलोके जाई । प्रेम बिबस सीता पहिं आई ।।[2]
तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन ।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन ।।[3]

यह आकर्षण इतना सहज निर्मल और सजीव है कि इसे सामान्य कान्तारति ही कहा जा सकता है । मानस में इससे सम्बन्धित और दोहे ग्राम-पंथ में ग्रामीण वधुओं के,राम के सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण में भी दिखाए गए हैं । कवितावली में भी तुलसीदास ने इसको चित्रित किया है -

धरि धीर कहैं, चलु, देखिअ जाइ, जहाँ सजनी । रजनी रहिहैं ।
कहिहैं जगु पोच, न सोचु कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं ।।
सुखु पाइहैं कान सुनें बतियाँ फल, आपसुमें कछु पै कहिहैं ।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकें, पुलकीं लखि रामु हिये महिहैं ।।[4]

---

1. गीतावली, पद संख्या - १०७, पृ० १६८
2. रामचरितमानस, चौ० ४ , पृ० २३६
3. रामचरितमानस, दो० २२८, पृ० २३७
4. कवितावली, पद संख्या २३, पृ० ३२

गीतावली में भी कान्तारति के प्रति तुलसीदास ने विविध चित्र प्रस्तुत किए हैं । यहाँ भी वन पथ में ग्रामीण वधुएँ इन तीनों के सौन्दर्य को देखकर अपने नेत्रों को सफल कर रही हैं । ग्राम वधुओं का राम-लक्ष्मण के प्रति यह आकर्षण नितान्त शुद्ध और सात्विक है --

सॉवरे गोरे पथिक बीच सोहति अधिक,
तिहुँ त्रिभुवन-सोभा मनहु लूटी ।
तुलसी निरखि सिय प्रेमबस कहैं तिय,
लोचन- सिसुन्ह देहु अमिय घूटी ।।[1]

< < ^

तुलसी-स्वामी-स्वामिनि जोहे मोही हैं भामिनि,
सोभा-सुधा पिए करि अँखिया दोनी ।।[2]

वियोग पक्ष का वर्णन भी तुलसीदास ने किया है । मानस में अयोध्याकाण्ड,सुन्दरकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, आदि काण्डों में इनके उदाहरण द्रष्टव्य हैं । गीतावली के अयोध्या और सुन्दरकाण्ड में भी वियोग का वर्णन हुआ है । तुलसी ने अपने काव्य में राजा दशरथ की मृत्यु के अवसर पर इस पक्ष को उभारा है । दूसरे सीता हरण के समय राम सीता वियोग में जन-सामान्य की तरह लताकुंजों, जीव-जन्तुओं से सीता का पता पूछते फिरते हैं । ऋतुएँ उन्हें दाहक प्रतीत होती हैं ।

इन पंक्तियों में तुलसीदास ने श्री राम को एक साधारण मनुष्य की तरह विलाप करते हुए दिखाया है तथा लक्ष्मण उन्हें दिलासा दे रहे हैं --

हा गुन खानि जानकी सीता । रूप सील ब्रत नेम पुनीता ।।
लछिमन समुझाए बहु भाँती । पूछत चले लता तरु पाँती ।।[3]

इसी सन्दर्भ में गीतावली में —

देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति,
तुलसी गहन बिनु दहन दहे ।

---

१. गीतावली, पद संख्या २१, पृ० १६३
२. गीतावली, पद संख्या २२, पृ० १६४
३. रामचरितमानस, दो० ५ , पृ० ७१२

अनुज दियो भरोसो, तौलौं है सोचु रघरो सो,
सिय समाचार प्रभु जौलौं न लहे ।।[1]

विरहाकुल श्रीराम पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों से सीता जी का पता पूँछते चलते हैं --

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ।।
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ।।[2]

बूझत बन-बेलि-विटप, खग-मृग, अलि-अवलि सुहाई ।
प्रभुकी दसा सो समो कहिबे को कवि उर आह न आई ।।[3]

यहाँ राम ने अत्यन्त संयत रूप में वेदना अभिव्यक्त की है । यहाँ एक प्रश्न उठता है कि श्री राम जैसे धीरोदात्त नायक, पत्नी वियोग में एक साधारण मनुष्य की तरह विलाप करते हैं इसका उत्तर तुलसीदास श्रीराम के ब्रह्मतत्व को ढांक कर नरतत्व को प्रकट करते हुए नरलीला प्रस्तुत करते हैं --

एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहुँ महा बिरही अति कामी।।
पूरनकाम राम सुखरासी । मनुजचरित कर अज अविनासी ।।[4]

वियोग अवस्था के और भी प्रकरण आए हैं जैसे रावण द्वारा सीता हरण के समय, अशोक वाटिका में रावण द्वारा कष्ट दिये जाने पर । विरह की चरमावस्था सीता जी के विरह में, अशोक वाटिका में हुई है --

तजौं देह करु बेगि उपाई । दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई ।।
आनि काठ रचु चिता बनाई । मातु अनल पुनि देहि लगाई ।।
सत्य करहि मम प्रीति सयानी । सुनै को श्रवन सूल सम बानी ।।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि शृङ्गाररस अत्यन्त व्यंजनापूर्ण, संक्षिप्त और भक्तिरस से ओत-प्रोत है । "मानस में तुलसी का शृङ्गार संचारियों के माध्यम से चित्रित होकर भी अस्फुट है ।"[5]

---

1. गीतावली, पद संख्या १०, पृ० २७७ 3- गीतावली, पदसंख्या ११, पृ० २७८
2. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ७३५ ४- रामचरितमानस, चौ० ८-९, पृ० ७३३
5. डा० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना, पृ० ३६६

काव्यरस -

तुलसी की दृष्टि में उनके काव्य का एक मात्र लक्ष्य और एक मात्र विषय राम का यशगान करना है। इस गान को उन्होंने विविध ग्रन्थों में विविध दृष्टिकोणों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस विविधता के अनुरूप उनकी रचनाओं में रस विशेष की विविधता भी हमें देखने को मिलती है। इनकी विविध रचनाओं में उपर्युक्त अंगी भक्तिरस विविध रूपों में परिकल्पित हुआ है। इस अंगी रस के अन्तर्गत उन्होंने सभी अंग रसों को समेट लिया है। "पर तुलसी की दृष्टि में काव्यरसों एवं भक्तिरसों की पृथक् स्थिति की चेतना जागरूक रहती है। वे सदा यत्नशील रहते हैं कि उनके काव्य-रस कभी विषय-रस न बनने पाए।"[1] भक्तिरस के परिपाक की दृष्टि से विनयपत्रिका तुलसी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। रामचरितमानस में भक्तिरस और काव्यरस दोनों का समावेश है। मानस का अंगीरस भक्तिरस है और काव्यरस उसके अंगरूप हैं। काव्यरस के प्रति अपना दृष्टिकोण "मानस" में तुलसीदास ने स्वयं ही प्रकट कर दिया है —

नव रस जप तप जोग विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।।[2]

शृङ्गार रस-

तुलसीदास ने शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों प्रकार के पक्षों का वर्णन किया है। पूर्वानुराग रूप में हमें राम और सीता (नायक-नायिका) दोनों की ओर से शृङ्गारिक चेष्टाएँ मिलती हैं। कवितावली में भी इन शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन है परन्तु ये चेष्टाएँ अत्यन्त सघन, सजीव एवं मधुर हैं। ग्राम पथ में ग्रामीण वधुओं की चेष्टाएँ सजीव और सरस हैं। ये सीता जी से जिस तरह प्रश्न करती हैं वे उतनी ही शालीनता से उसका उत्तर देती हैं -

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।।[3]

खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि।।

भईं मुदित सब ग्रामबधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं।।[4]

---

1. डा० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना, पृ० ३५८
2. रामचरितमानस, चौ० ५, पृ० ५०
3-4 रामचरितमानस, चौ० १, दोहा - ११७, पृ० ५८२

कवितावली की ग्रामीण वधुएँ रामचरितमानस की ग्रामीण वधुओं की तरह संकोच और शिष्टाचार का प्रदर्शन नहीं करती वरन् सात्त्वभाव से उनसे पूँछती हैं --

'पूँछति ग्रामबधू सिय सों, कहौ, साँवरे-से, सखि । रावरे को है ।[1]

सीता जी भी उनके आशय को समझकर बड़ी चतुरता से उत्तर देती हैं --

सुनि सुंदर बैन सुधारस- साने सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करिनैन, दे सैन, तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली ।।[2]

यहाँ शृङ्गार को हम काव्य-रस-रूप में अभिव्यक्त पाते हैं । इसी प्रकार वियोग शृङ्गार के उदाहरण भी हम देखते हैं । यह विरह सीता हरण के समय, अशोक वाटिका में परिलक्षित हुआ है ।

हास्यरस -

मानस में हास्य रस बहुत नहीं मिलता फिर भी दो चार स्थल ऐसे हैं जहाँ यह रस स्पष्ट हो उठा है । सर्वप्रथम तो हम उस स्थल को ले सकते हैं जब श्रीराम, सीता और लक्ष्मण के साथ गंगा पार कराने के लिए केवट से निवेदन करते हैं, परन्तु वह बिना चरण पखारे अपनी नाव पर चढ़ाने के लिए तैयार ही नहीं होता । उसका कहना है कि मैं आपके चरणों की महिमा जान चुका हूं जिसके छू लेने मात्र से पत्थर भी स्त्री रूप में परिवर्तित हो जाता है । अत: अगर ऐसा हो गया कि मेरी नाव स्त्री रूप में परिवर्तित हो गई तो मेरी जीविका का साधन तो जायेगा ही, साथ ही साथ सपत्नी दोष भी लगेगा । अत: आप मुझे अपने चरण पखार लेने दें । यहाँ हास्य रस की अभिव्यक्ति हुई है ।--

चरन कमल रज कहुँ सबु कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ।।
छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ।।
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ।।[3]

१-२ कवितावली, पद० २१-२२, पृ० ३१
३ रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० ४६५

कवितावली में भी हास्य रस के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं —

रावरे दोषु न पायन को, पग धूरि को भूरि प्रभाउ महा है ।
पाहन तें बन-बाहनु काठको कोमल है, जलु खाइ रहा है ।
पावन पाय पखारि के नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ।
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ।।[1]

कवितावली के केवट प्रसंग में संचारी हास की झलक है --

तुलसी जिन्हकी धूरि परसि अहल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह-गौने-सो लेवाइके ।
तेई पाय पाइके चढ़ाइ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौं न पठावनी के ह्वै हौं न हँसाइ के ।।[2]

पूर्णरूपेण व्यंजित हास्य का भी एक उदाहरण कवितावली में मिलता है --

बिंधिके बासी उदासी तपी ब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतमतीय तरी `तुलसी`, सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे ।।
ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसें पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्ही भली रघुनायक जू । करुना करि कानन को पगु धारे ।।[3]

विन्ध्य पर्वत पर रहने वाले उदासी और तपस्वी लोग बिना स्त्री के दुखी थे वे मुनिगण यह जानकर बहुत प्रसन्न होते हैं कि गौतम की स्त्री अहल्या तर गयी और कहते हैं, हे नाथ ! अच्छा हुआ जो आप इस वन में पधारे अब यहाँ के सब पत्थर चन्द्रमुखी स्त्री हो जायेंगे । कवितावली में जितना भी हास्य प्रदर्शित है सब स्वतन्त्र काव्यरस के रूप में, भक्तिरस का उस पर प्रभाव नहीं है ।

मानस में इस रस का दूसरा स्थल नारद प्रसंग में है । यहाँ हास्य की अभिव्यक्ति नारद के अभिमान को दूर करने के उद्देश्य से हुई है । काम को जीतने का दावा करने वाले नारद जी, किसी सुन्दर राजकुमारी की सुन्दरता की प्रशंसा सुनकर इतना बावला हुए कि भगवान विष्णु से यह प्रार्थना की मुझे ऐसा रूप दीजिए जिससे राजकुमारी

---

१. कवितावली, पद ७, पृष्ठ २३
२. कवितावली, पद ८, पृष्ठ २५
३. कवितावली, पद २८, पृष्ठ ३५

मोहित होकर स्वयंवर में मेरे ही गले में माला डाले । किन्तु विष्णु भगवान ने उन्हें सुन्दर के स्थान पर बन्दर का रूप दे दिया । स्वयंवर में राजकुमारी जब माला लेकर आगे बढ़ी तब वह उचक-उचक कर अपना सौन्दर्य से भरा हुआ मुखमण्डल आगे बढ़ाकर दिखाने लगे, उनकी इस हरकत से सभा में उपस्थित सभी राजकुमार हंसने लगे और अपने उद्देश्य में नारद जी सफल नहीं हो सके --

> जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहिं न बिलोकी भूली ।।[1]
> पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं । देखि दसा हर गन मुसुकाहीं ।।

तीसरा हास्य स्थल जनकपुर में लक्ष्मण-परशुराम संवाद का है । यह संवाद शिव धनुष भंग के अवसर पर, परशुराम के क्रोध के फलस्वरूप उपस्थित हुआ है । यह प्रसंग काफी देर तक चला है । इसके एक दो उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं --

> बिहसि लखनु बोले मृदु बानी । अहो मुनीसु महाभटमानी ।[2]
> पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू । चहत उड़ावन फूँकि पहारू ।।
>
> इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं । जे तरजनी देखि मरि जाहीं ।।[3]
>
> मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया । परिहरि कोपु करिअ अब दाया ।।[4]
> टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने । बैठिअ होइहिं पाय पिराने ।।
>
> जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई । जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई ।।[5]

इन सभी दोहों में हास्य रस द्रष्टव्य है ।

हास्य रस का चौथा और अन्तिम स्थल हमें लंकाकाण्ड में देखने को मिलता है । लंका विजय के पश्चात् विभीषण मणियों के समूह और वस्त्रों के अम्बार को श्रीराम के चरणों में लाकर रखता है और प्रभु की आज्ञा से उसे विमान में चढ़कर आकाश से बरसा देता है, तत्पश्चात् जो दृश्य उत्पन्न होता है वह हास्यरस को अभिव्यक्त

---

१. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १४७

२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २७८

३. रामचरितमानस, चौ० २, पृ० २७६

४-५ रामचरितमानस, चौ० १, २, पृ० २८३

करता है —

जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं । मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं ।[1]
हँसे राम श्री अनुज समेता । परम कौतुकी कृपा निकेता ।।

मणियों को बानर कोई खाने की वस्तु समझ कर मुंह में ले लेते हैं पर फिर उसे वैसा न पाकर उगल देते हैं । हास्य की व्यंजना तुलसीदास ने शिव विवाह के अवसर पर भी की है । शिव जी की अनोखी बरात बरातियों के प्रति, तथा विष्णु भगवान् की इन उक्तियों में भी हास्य व्यंजित है । हे भाई ! हम लोगों की यह बरात वर के योग्य नहीं —

बर अनुहारि बरात न भाई । हँसी करैहहु पर पुर जाई ।।
बिष्नु बचन सुनि सुर मुसुकाने । निज निज सेन सहित बिलगाने ।।[2]

इस हास्य विनोद का विभाव शिव विषयक रति है ।

करुण रस —

इस रस की अभिव्यक्ति गीतावली और मानस में हुई है । यह रस राम के वियोग में दशरथ विलाप में, राजा दशरथ की मृत्यु के अवसर पर, कौशल्या विलाप, लक्ष्मण शक्ति पर राम विलाप और रावण मृत्यु पर मन्दोदरी विलाप आदि अवसर पर अभिव्यक्त हुआ है । मानस में कुछ प्रसंगों में यह रस अत्यन्त मार्मिक होकर उभरा है । प्रथम तो राम को वनवास दिए जाने पर अयोध्या में शोक जन्य वातावरण, तदनन्तर राजा दशरथ का मृत्यु को प्राप्त करना, शोक को और भी घनीभूत करता है । कैकेयी द्वारा चौदह वर्ष का वनवास मांगने के फलस्वरूप राजा दशरथ शोकाकुल हो उठे । उनकी दशा जल विहीन मछली की भांति हो गई —

ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता । करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता ।।[3]
कंठु सूख मुख आव न बानी । जनु पाठीनु दीन बिनु पानी ।।
राम राम रट बिकल भुआलू । जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू ।।[4]

---

१. रामचरितमानस, चौ० ४, पृ० १००६
२. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० १०४
३. रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ४०४ ४- रामचरितमानस, चौ० १, पृ० ४०६

सोक बिबस कछु कहै न पारा । हृदयं लगावत बारहिं बारा ।।[1]

राम वन प्रस्थान के समय सारी अयोध्या नगरी शोक सागर में निमग्न दिखायी देती है—

मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदयँ समाइ ।
मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाई ।।[2]

सोक कूप पुर परिहि, मरिहि नृप, सुनि सँदेस रघुनाथ-सिधायक ।[3]

गीतावली में तुलसीदास राम बिछोह में होने वाले कार्यों को पहले से ही बता देते हैं । राम के वन को जाने पर मानस में यह रस सर्वत्र व्याप्त दिखायी देता है — नर-नारी, जीव-जन्तु, पेड़-पौधों, नदी-नाले हरएक विरहाकुल दिखायी दिया है ।

लंकाकाण्ड में लक्ष्मण के शक्ति लगने पर भी इस रस का प्रादुर्भाव हुआ है । राम अत्यन्त व्याकुलता के साथ लक्ष्मण को उठने के लिए कहते हैं —

सो अनुराग कहाँ अब भाई । उठहु न सुनि मम बच बिकलाई ।।[3]
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू । पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ।।

भरे नीर राजीव -नयन सब अँग परिताप तए हैं ।
कहत ससोक बिलोक बँधु-मुख बचन प्रीति गुथए हैं ।[4]

जानत हौं या उर कठोरतें कुलिस कठिनता पाई ।
सुमिरि सनेह सुमित्रा- सुतको दरकि दरार न जाई ।।
तात-मरन, तिय-हरन, गीध-बध, भुज दाहिनी गवाई ।[5]
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई ।।

यहाँ लक्ष्मण के प्रेम में राम को विरहाकुल दिखाकर तुलसी ने काव्योचित कार्य किया है । इस दृष्टि से शोक अपनी चरम अवस्था में अभिव्यक्त हुआ है ।

---

१. रामचरितमानस, दो० ३, पृ० ४१३
२. रामचरितमानस, दो० ४६, पृ० ४१५
३. रामचरितमानस, दो० ३, पृ० ६२७
४. गीतावली, पद - ५, पृ० ३५८
५. गीतावली, पद - ६, पृ० ३५६

रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी विलाप में भी यह रस देखा जा सकता है —

पति गति देखि ते करहिं पुकारा । छूटे कच नहिं बपुष सँभारा ।।
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना । रोवत करहिं प्रताप बखाना ।

इन समस्त प्रसंगों में शोक की परिकल्पना मर्मस्पर्शी है । विनयपत्रिका में काव्य-रसों की व्यंजना नहीं की गई है न ही स्वतन्त्र और न ही अंगरूप में, अतः विनयपत्रिका में काव्य-रसों की आशा करना व्यर्थ है ।

भयानक रस -

तुलसी के काव्य में भयानक रस सर्वाधिक रूप में कवितावली में मिलता है । मानस में भी कई स्थलों पर इस रस की अभिव्यक्ति हुई है । इस रस की नियोजना विशेष रूप से बालकाण्ड में धनुष भंग के समय, लंका-दहन में तथा लंकाकाण्ड के युद्ध-प्रसंग में हुई है -

हय हिहिनात, भागे जात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि-पेलि रौंदि-खौंदि डारहीं ।
नाम लै चिलात, बिललात, अकुलात अति,
'तात तात ! तौंसियत, झौंसियत, झारहीं '।[1]

× × ×

लपट कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने, पहिचानै कौन काहि रे ।
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल जात भ्रात ! तूँ निबाहि रे ।।[2]

मानस में भी इसी रूप का वर्णन है —

निबुकि चढ़ेउ कपि कनक उटारीं । भईं सभीत निसाचर नारीं ।।
हरि बिसाल परम हरुआई । मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई ।।
जरइ नगर भा लोग बिहाला । झपट लपट बहु कोटि कराला ।[3]

---

१. कवितावली, पद संख्या १५, पृ० ५७
२. कवितावली, पद संख्या १६, पृ० ५७
३. रामचरितमानस, दो० २५ , पृ० ८२१

इन प्रसंगों में भय की कल्पना हुई है । मानस में भय के अन्य और भी बहुत प्रसंग देखने को मिलते हैं, परन्तु अधिकांश में भय की स्थिति हलके संचारियों के रूप में ही व्याप्त है ।

वीर-रस—

तुलसी के काव्य में वीर रस मुख्य रूप से मानस, कवितावली, गीतावली में देखा जा सकता है । मानस के उत्तरकाण्ड को छोड़कर अन्य सभी काण्डों में वीर-रस की छटा बिखरी हुई है । मानस में लक्ष्मण और परशुराम संवाद में भी इसकी झलक मिलती है । कवितावली और गीतावली में—सुन्दर और लंकाकाण्ड में वीररस के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं --

तुलसी लखि कै गज केहरि ज्यों झपटै, पटकै सब सूर सलीलै ।
भूमि परे भट घूमि कराहत, हाँकि हनै हनुमान हठीले ।।[1]

उत पचार दसकंधर इत अंगद हनुमान ।
लरत निसाचर भालु कपि करि निज निज प्रभु आन ।।[2]

वीर रस की सुन्दर परिकल्पना लंकाकाण्ड में हुई है । एक तरफ से रावण ललकार रहा है और दूसरी तरफ से अंगद और हनुमान । राक्षस और वानर अपने-अपने स्वामी की जय बोलकर लड़ रहे हैं ।

रौद्र रस—

मानस और कवितावली दोनों में रौद्र रस परिलक्षित हुआ है । शेष कृतियों में रौद्र रस का अभाव है । कवितावली में सुन्दर और लंकाकाण्ड में इसका अच्छा परिपाक हुआ है । मानस में उत्तरकाण्ड को छोड़कर अन्य सभी काण्डों में इसका प्रयोग हुआ है —

आइ बना भल सकल समाजू । प्रगट करउं रिस पाछिल आजू ।।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू । लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ।।[3]

---

1. कवितावली, पद संख्या ३२, पृ० ७८
2. रामचरितमानस, दो० ८०, पृ० ६५३
3. रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० ५६०

तैसेहिं भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ।।
जौं सहाय कर संकरु आई । तौ मारउँ रन राम दोहाई ।।[1]

अति सरोष माखे लखनु लखि सपथ प्रवान ।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान ।।[2]

यहाँ लक्ष्मण आश्रय भरत और शत्रुघ्न आलम्बन हैं । अमर्ष, उग्रता एवं गर्व आदि यहाँ संचारी भाव हैं, क्रोध का स्थायी भाव यहाँ समूची अभिव्यक्ति में परिव्याप्त दिखाई दिया है । `प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू` के द्वारा आश्रय की प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई है । सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में रौद्र रस का संचार हुआ है ।

वीभत्स-रस -

वीभत्स रस का वर्णन मानस और कवितावली के युद्ध वर्णन में कुछ स्थल पर मिलता है--

ओझरीकी झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूँडके कमंडलु खपर किएँ कोरि के ।
जोगनीं झुटुंग झुंड-झुंड बनीं तापसीं -सी,
तीर-तीर बैठीं सो समर-सरि खोरि के ।।
श्रोनितसों सानि-सानि गूदा खात सतुआ - से,
प्रेत एक पिअत बहोरि घोरि-घोरि के ।
`तुलसी` बैताल-भूत साथ लिएँ भूतनाथु,
हेरि-हेरि हंसत हैं हाथ-हाथ जोरि के ।।[3]

यहाँ भूत-प्रेत, डाकिनी इत्यादि आलम्बन हैं और उनकी क्रियाएँ उद्दीपन हैं ।

तुलसीदास ने मानस के लंकाकाण्ड में भी इसी प्रकार का वर्णन किया है --

खैंचहिं गीध आँत तट भए । जनु बंसी खेलत चित दए ।।
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं । जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं ।।[4]
x x x

१-२ रामचरितमानस, चौपाई ४, दो० २३०, पृ० ५६०
३. कवितावली, पद संख्या ५०, पृ० ८८
४. रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० ९४३

जोगनि भरि भरि खप्पर संचहिं । भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं ।।[1]
भट कपाल करताल बजावहिं । चामुंडा नाना बिधि गावहिं ।।

इन चौपाइयों में बीभत्स रस का अच्छा परिपाक है ।

अद्भुत-रस -

तुलसीदास ने इस रस का प्रयोग सर्वाधिक रूप से किया है । मानस में यह रस शुरू से लेकर अन्त तक व्याप्त है । राम के विस्मय पूर्ण कार्य— माता को मुंख में ब्रह्माण्ड का दर्शन करना, पालने से उतर कर भगवान के नैवेद्य का भोग करना । लंकाकाण्ड में तो यह रस विस्तृत रूप से व्याप्त है । नल-नील का समुद्र में पाषाण तैराना, राम का अपने स्थान से बैठे-बैठे ही रावण का छत्र गिराना, रावण के असंख्य योद्धाओं का मिलकर भी अंगद का चरण न हिला पाना, लंका में राम दल के पहुँचते ही सारे वृक्षों का फलों से भर जाना, इन सारे प्रसंगों में अद्भुत-रस का परिपाक है -

बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई । भए उपल बोहित सम तेई ।।[2]

सब तरु फरे राम हित लागी । रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी ।[3]
खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं । लंका सन्मुख सिखर चलावहीं ।।

कवितावली में भी यह रस व्याप्त है —

लीन्हो उखारि पहारु बिसाल, चल्यो तेहि काल, बिलंबु न लायो ।
मारुतनंदन मारुत को, मनको, खगराजको बेगु लजायो ।।
तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो, पै हिएँ उपमाको समाउ न आयो
मानो प्रतच्छ परब्बतकी नभ लीक लसी, कपि यों धुकि धायो ।।[4]

यहाँ आलम्बन हनुमान हैं तथा उनकी क्रियाएं उद्दीपन विभाव हैं । हनुमान के अद्भुत कार्य के दर्शक आश्रय हैं । रस के ये सभी अवयव स्थायीभाव आश्चर्य का परितोष कर कर रहे हैं । जिसमें अद्भुत रस की निष्पत्ति हो रही है । अद्भुत का समावेश भक्तिरस के विभाव-पक्ष में अधिक हुआ है । मानस में अद्भुत रस सहज रूप से भक्तिरस के साथ घुलमिल गया है ।

---

१. रामचरितमानस, चौपाई ४, पृ० ८६३
२. रामचरितमानस, चौपाई ४, पृ० ८६३
३. रामचरितमानस, चौपाई ३, पृ० ८६५
४. कवितावली, पद संख्या ५४, पृ० ६०

वात्सल्य-रस

मानस में वात्सल्य रस राम का आश्रित है । राम के महत्व के कारण यह रस भी भक्तिरस में ही पर्यवसित हुआ है- एक स्वतन्त्र रूप में परिकल्पित नहीं हो पाया।

मानस में इस रस का परिपाक अत्यन्त सीमित परन्तु सफल रूप में हुआ है --

धूसर धूरि भरे तनु आए । भूपति बिहसि गोद बैठाए ।

< < <

भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ ।

भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ।।[1]

यहाँ राम आलम्बन तथा दशरथ आश्रय है । राम की बाल सुलभ चेष्टाएं उद्दीपन हैं । `राजा का बिहसि कर राम को गोद में बैठा लेना अनुभाव है । कवितावली और गीतावली में भी यह रस द्रष्टव्य है --

कबहूं ससि मागत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं ।

कबहूं करताल बजाइके नाचत मातु सबै मन मोद भरैं ।

कबहूं रिसिआइ कहैं हठिकै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं ।[2]

अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं ।।

< < <

राम-सिसु गोद महामोद भरे दसरथ

कौसिलाहु ललकि लषनलाल लये हैं ।

... ...

बाहि चुचुकारि चूमि लालत लावत उर

तैसे फल पावत जैसे सुबीज बये हैं ।

शान्तरस -

मानस में शान्तरस सर्वत्र छाया हुआ है । उत्तरकाण्ड में शान्तरस विशेष रूप

---

1. रामचरितमानस, दोहा २०३, पृष्ठ २१३
2. कवितावली, पद संख्या ४, पृष्ठ ६
3. गीतावली, पद संख्या ११, पृष्ठ ४३

से परिलक्षित है, परन्तु यह शान्तरस स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ है अंगी, भक्तिरस के रूप में व्याप्त है।

अत: यह द्रष्टव्य है कि मानस में काव्यरसों की स्थिति भक्तिरस की सापेक्षता में ही है। इसी भक्तिरस को तुलसी ने एक विशेष रस कहा है -- 'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।' और काव्य रसों को इन्हीं का शोभावर्धक तत्व कहा है। विनयपत्रिका पूर्णत: भक्तिरस का काव्य है उसमें काव्यरसों की चारुता का योग नहीं है। कवितावली में काव्यरसों का सहज एवं प्रकृत विकास किया गया है, परन्तु सभी काव्यरसों का समान चित्रण नहीं हुआ है और न ही सभी काव्यरसों की परिकल्पना की गई है। कवितावली में तुलसीदास ने रौद्र, वीर, भयानक रसों का परिपाक अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ रूप में किया है। गीतावली में काव्य-रसों के रूप में करुण और वीर इन दो रसों की व्यंजना की गई है, परन्तु बहुत दूर तक यह भी स्वतन्त्र रूप से नहीं चल सके हैं। वात्सल्य, मधुर और हास्य - इन रसों को भक्तिरस अंगी रूप में प्रकट किया गया है।

'कृष्णभक्ति काव्य — (सूरदास एवं नन्ददास)'

काव्य का सबसे उच्च उद्देश्य रसास्वादन कराना है। काव्य इस तरह का होना चाहिए कि वह पाठक को तन्मय और आनन्द विभोर कर सके। वैष्णव आचार्यों ने भक्तिरस को काव्य की आत्मा माना है।

अष्टछापी कवियों में रस दृष्टि से मुख्यत: दो ही नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रथम-सूरदास

द्वितीय-नन्ददास

परन्तु विशेषत: सूर ही अष्टछाप के प्रतिनिधि कवि माने गए हैं। सूर का काव्य, सम्प्रदाय-निष्ठ काव्य है और इस सम्प्रदायिक चेतना से उन्होंने अनुरंजन ही पाया है आच्छादन नहीं। सूरसागर पूर्णत: भक्तिरस का एक भाव प्रबन्ध परिलक्षित होता है। इसमें भाव, विकास का एक सुनियोजित क्रम दृष्टिगोचर हुआ है। सूरदास ने भगवान् की बाललीला का वर्णन मुक्त हृदय से किया है। दशम स्कन्ध में हम भक्तिरस, श्री कृष्ण की बाल लीला और किशोर लीला के पदों में मुखरित रूप में पाते हैं। भक्ति-काव्य में वात्सल्यरस की प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण श्रेय सूरदास को ही जाता है। इस सन्दर्भ में विश्वनाथ मिश्र का कथन अन्यथा नहीं है — सूरदास ने बाललीला के रूप में जो कुछ दिया वह साहित्य शास्त्रियों के वत्सल रस का अमोघ, अप्रत यं उदाहरण हो गया कि उसकी रसवत्ता उस अस्तित्व में रहते खण्डित ही नहीं हो सकती है।

वात्सल्य के अतिरिक्त सूरदास ने भक्तिरस की प्रतिष्ठापना में भी बहुत योगदान किया है। नन्ददास ने भी भक्तिरस का वर्णन किया है। अपने इस 'भगतिरस' को उन्होंने प्रेमरस, हरिरस, हरिलीला रस, उज्ज्वलरस, अद्भुतरस इत्यादि नामों से अभिहित किया है।

कृष्णभक्तिधारा के भक्त कवियों ने अपने काव्य में भक्तिरस को तो प्रमुखता दी है, साथ ही साथ अन्य रसों की भी चर्चा की है। परन्तु नन्ददास इसका अपवाद हैं — उन्होंने स्वतन्त्र रूप से रस संख्या का वर्णन करने का प्रयत्न किया है। सूर के काव्य में भी यद्यपि सभी रस मिल जाते हैं तथापि उन्होंने रसों की संख्या के सैद्धान्तिक विवेचन का उपक्रम नहीं किया है। केवल शृंगार रस का नामोल्लेख निकुंज लीला वर्णन

में हुआ है —

कला चौसट्ठि, संगीत सिंगार रस, कोक-बिधि बंद प्राटि भेद से सेरी ।।[१]

पर इसका यह मतलब नहीं कि सूरदास रस के शास्त्रीय स्वरूप से परिचित नहीं थे । इस सन्दर्भ में उनकी `साहित्य लहरी` को देखा जा सकता है ।

सूरदास ने श्री कृष्ण की लीलाओं का आश्रय लेकर वात्सल्य, सास्य और माधुर्य, तीन रसों की परिकल्पना प्रमुख रूप से की है । साथ ही सूर ने अपने विनय के पदों में दास्यभक्ति का रूप प्रदर्शित किया है ।

भक्त के हृदय में अपने आराध्य के प्रति जब प्रेम भाव उत्पन्न होता है तो वह अदम्य आसक्ति का रूप ग्रहण करता है और स्वत: सांसारिक विषय वासनाओं से विरक्ति प्राप्त कर लेता है । कृष्ण के प्रति सास्य में उत्पन्न `प्रेमरति` ही —वात्सल्य, सास्य और माधुर्य तीन रूपों में प्रस्फुटित हुई है ।

सूरदास ने सर्वप्रथम वात्सल्य और सास्य भाव से प्रेरित होकर रचनाएँ प्रस्तुत की तत्पश्चात् माधुर्य-भाव की रचनाओं से कृष्ण-काव्य में रस आप्लावित किया ।

गोस्वामी ने भक्ति के पाँच मुख्य और सात गौण भेद किए हैं । इनके द्वारा प्रयुक्त पाँच मुख्य रस भक्ति काव्य के अन्तर्गत निम्नलिखित नामों से प्रयुक्त किये गये हैं --

१- शान्त भक्तिरस	-	शान्त भक्तिरस
२- प्रीत भक्तिरस	-	दास्य भक्तिरस
३- प्रयो भक्तिरस	-	सख्य भक्तिरस
४- वात्सल्य भक्तिरस	-	वात्सल्य भक्तिरस
५- मधुर भक्तिरस	-	मधुर भक्तिरस

जहाँ तक शान्त रस का सम्बन्ध है यह अन्य लौकिक रसों में चाहे जितना भी श्रेष्ठ हो, परन्तु इन पाँच भक्तिरसों में इसका स्थान निम्न कोटि का है, क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण के प्रति ब्रह्मभावना प्रमुख रूप से प्रकट होती है तथा लीलामय रूप की ओर ध्यान नहीं जाता है । जिसके कारण इस रस में अन्य भक्ति रसों के समान आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती । इस रस का आनन्द आत्मस्वरूप के आनन्द से कुछ घनीभूत अवश्य होता है किन्तु उसमें चरम उत्कृष्टता नहीं आ पाती —

---

१. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पद संख्या- ३०७९

प्राय: स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम ।
किन्त्वात्मसौख्यमघनङ्घ त्वीशमयं सुखम् ।।[1]

तत्रपीशस्वरूपानुभवस्यै वीरुहेतुता ।
दातादिवन्मनोज्ञत्वलीलादेर्न तथा मता ।।[2]

अष्टछापी कृष्ण काव्य में शान्त रस की परिकल्पना नहीं की गई है, क्योंकि शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है । हाँ सूर के विनय के पदों में अवश्य ऐसे पद देखने को मिल जाते हैं जिसमें माया, प्रपंच, जगत की निस्सारता इत्यादि का वर्णन किया गया है । ये समस्त प्रतियाँ तत्व बोध और निर्वेदमूलक हैं परन्तु इनमें विशिष्ट रूप से शान्त रस का परिपाक नहीं हुआ है । आगे के दोनों भक्तिरसों की प्रशंसा करते हुए रूपगोस्वामी ने वात्सल्य को उत्कृष्ट स्थान दिया है—

अप्रतीतो हरिरते: प्रीतस्य स्यादसुष्टता ।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षति: ।।[3]

वात्सल्य भक्तिरस के अन्तर्गत श्री कृष्ण के बाल रूप के प्रति नन्द-यशोदा के स्नेह भाव की अभिव्यक्ति है । इसके साथ-साथ इस भाव को भी अभिव्यक्त कर दिया गया है कि कृष्ण सामान्य नहीं एक अलौकिक बालक हैं और लीलारूप धारण करके अवतरित हुए हैं ।

सख्य भक्ति के अन्तर्गत भक्त साम्य भाव से भक्ति करता है । इसमें भक्त श्री कृष्ण का सखा बन जाता है और इस प्रकार अपने सख्य-भाव के कारण कृष्ण की गोप्य से गोप्य लीलाओं में भाग लेता है । कृष्ण की इन लीलाओं में राधा और गोपियों के श्रृंगारिक हास विलास, क्रीड़ा, केलि, आलिंगन, परिरंभन, चुम्बन, रति

१-२. रूपगोस्वामी, भक्ति रसामृत सिन्धु, पश्चिमी विभाग : प्रथमा शान्तरस लहरी, कारिका ५, ६, पृ० ३१६ ।

३- भक्तिरसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग चतुर्थी वत्सल्यभक्तिरस लहरी - २८, पृष्ठसंख्या

आदि भी आते हैं, जिसमें भाग लेने के अधिकारी या तो राधा की सखियां हैं या फिर कृष्ण के 'अष्टसखा' ।

दास्य भक्ति के अन्तर्गत भक्त आत्म लघुता की भावना से ग्रस्त होकर भगवान् के प्रति अपने को दीन, हीन, लघु रूप में प्रदर्शित करते हुए भक्ति करता है ।

पांचवें वर्ग के अन्तर्गत मधुर भक्तिरस को रखा गया है । अष्टछापी काव्य में मधुर-रस का ही प्रधानता है । सूर के काव्य भी मधुर रस प्रधान ही हैं । मधुर-रस की अनुभूति-प्रतिक्रिया अन्य सभी भक्तिरस के रूपों की अपेक्षा विविध रूपा होती है । मधुर भावना में अष्टछापी कवि संयोग भावना के रसिक रहे हैं, परन्तु सूर ने वियोग वर्णन को महत्व दिया है । मधुर रस की व्याख्या इन कवियों ने युगलोपासना, निकुंज-लीला, नित्य विहार, सहचरी-भाव इत्यादि में मुख्य रूप से की है ।

दास्य भक्तिरस—

दास्य भक्तिरस का स्थायी भाव भक्त द्वारा भगवान के महत्व और अपने लघुत्व को प्रदर्शित करने वाली भगवद्विषयक रति है । इसमें आलम्बन पक्ष में भगवान के गुणों को रखा गया है, और आश्रय पक्ष में आत्म लघुता, शरणागति भाव को । इस प्रकार जब आलम्बन और आश्रय दोनों पक्ष उभर कर सामने आते हैं तब दास्य रति अपनी चरम अवस्था में अभिव्यक्त होती है ।

सूर के काव्य में दास्य भक्तिरस अत्यन्त उच्चकोटि के रूप में द्रष्टव्य है । सूर ने नौ स्कन्धों की कथा दास्यपरक भाव से ही की है ।इसमें उन्होंने भगवान की महत्ता, शक्ति,शरण्यता, संरक्षता एवं अन्य गुणों के चित्र प्रस्तुत किए हैं । विनय के पद भी उन्होंने दास्य भाव से ही प्रस्तुत किए हैं । दोनों में अन्तर सिर्फ इतना है कि विनय के पदों की शैली आत्म परक है, और नौ-स्कन्धों की कथा में विषय-परक ।

नन्ददास के भी इस रस से सम्बन्धित कुछ पद भाषा-दशम-स्कन्ध में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं, परन्तु इनके पदों में दास्य भक्तिरस पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया है, वे भाव कोटि तक ही आकर रह गया है, रस-रूपता को प्राप्त नहीं कर सका है ।

अष्टछाप के सभी कवियों ने दास्य भाव से प्रेरित होकर पद लिखे हैं किन्तु

सभी के पदों में दास्य भक्ति नहीं उभर पायी है। सूर और परमानन्ददास को छोड़कर अन्य अष्टछाप कवियों में प्रार्थना के पद मौजूद हैं, परन्तु उनमें दासभाव की प्रार्थना नहीं है। किसी पद में कान्ताभाव की पाद-सेवा का भाव है तो किसी में कान्ताभाव से ही संयोगसुख पाने की कामना।[1]

सूर ने विनय के पदों में अपने आपको अत्यन्त लघु, निरीह और निराश्रित बताते हुए पश्चाताप और आत्म निरीहता के भावों को प्रदर्शित करते हुए पद लिखे हैं—

(क) अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा - सब्द - रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
... ...
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।[2]
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल॥

(ख) प्रभु मेरे, मोसौं पतित उधारौ।
कामी, कृपिन, कुटिल, अपराधी, अधनि भरयौ बहु भारौ।
... ...
गीध-व्याध-गज-गनिका उधरी, लै लै नाम तिहारौ।[3]
सूरदास प्रभु कृपावंत ह्वै, लै भक्तनि मैं डारौ॥

कुछ पद सूर ने ऐसे लिखे हैं, जिनमें उन्होंने अपने को भगवान का बहुत ही इष्ट मित्र दर्शाते हुए सखा भाव से पद लिखे हैं, परन्तु इन पदों में रस, दास्य भक्ति-रस ही है।

---

१. डा० दीनदयाल गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय- भाग २, पृ० ६०६

२. सूरदास, सूरसागर, प्रथम स्कन्ध- पद संख्या १५३, श्री नन्ददुलारे बाजपेयी

३. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद संख्या - १७८

(क) मोसौं बात सकुच तजि कहियै ।
कत ब्रीडत, कोउ और बतावै, ताही के ह्वै रहियै ।
... ...
तीन्यौ पन मैं ओर निबाहे, स्वांग कौं काछे ।[1]
सूरदास कौं यहै बड़ौ दुख, परत सबनि के पाछे ।।

(ख) आजु हौं एक-एक करि टरिहौं ।
कै तुमहीं, कै हमहीं माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं ।
... ...
कत अपनी परतीति नसावत, पायौ हरि हीरा ।[2]
सूर पतित तबहीं उठिहै, प्रभु जब हँसि दैहौ बीरा ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास ने इस रस के अन्तर्गत भगवान की महत्ता और अपनी निम्नता को प्रदर्शित किया है । अपनी इसी सरसता और सरलता के कारण दास्यमूलक भगवत प्रेम के काव्य की पहुंच जन-सामान्य के हृदय तक पहुंची है ।

सख्य-भक्तिरस —

इस रस के अन्तर्गत भगवान् और भक्त की समानता का भाव उभर कर सामने आता है । इसमें भक्त भगवान् से सखा के रूप में मिलता है । इस तरह यह स्वाभाविक अनुभूति के रूप में द्रष्टव्य है । इस रस में ब्रज के अन्तर्गत, गोचारण-माखन-चोरी, गोपियों के साथ क्रीड़ा आदि का वर्णन आता है । इन सब प्रसंगों में सख्य भक्ति रसात्मक परिपाक से पूर्ण है । "सूर का सख्य-वर्णन विश्व-साहित्य में बेजोड़ है । ग्वाल-सखाओं में कृष्ण के प्रति भगवान् की भावना अथवा उनके विहित कार्यों के प्रति भक्ति-भाव सूर ने बहुत कम स्थलों पर दिखाया है, उधर भगवान कृष्ण स्वयं सखाओं को अपने गौरव से आक्रान्त नहीं करना चाहते ।[3] गोप-गोपियों के साथ सखावत् भाव से घुल-मिल कर खेलते हैं । खेल-खेल में सखाओं से रूठते भी हैं, तत्पश्चात् सखाओं द्वारा उन्हें मनाया भी

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद संख्या - १३६
२. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद संख्या - १३४
३. डा० हरबंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० संख्या २४८

जाता है ।

(क) खेलत मैं को काको गुसैयाँ ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैया ।
जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ ।
रुहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ ।
सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत, दाउँ दियौ करि नँद-दुहैया ।[1]

< < <

(ख) सखा सहित गए माखन-चोरी ।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी ।
... ...
भुज गहि लियौ कान्ह एक बालक, निकसे ब्रज की खोरि ।[2]
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि ।।

सूरसागर के सखा भाव की सबसे बड़ी विशेषता उसमें स्वाभाविकता का समावेश है । अत्यन्त स्वाभाविक भाव से कृष्ण गोप-गोपियों के साथ लीला करते हैं । उनकी अमानवीय लीला के प्रति सखाओं में विस्मय और आतंक के भाव उठते तो जरूर हैं परन्तु वे क्षणिक रहते हैं, तत्पश्चात् वे फिर सख्य भाव से क्रीड़ायें करने लगते हैं । कृष्ण के सखा उनकी मुरली से अत्यन्त प्रभावित है, मुरली की धुन सुनने के लिए वह हमेशा लालायित रहते हैं और कह उठते हैं —

'छबीले मुरली नैकुँ बजाउ
बलि बलि जात सखा यह कहि कहि, अधर-सुधा-रस प्याउ ।[3]

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पद की विवेचना करते हुए लिखा है कि -- 'इस गान में ग्वाल-बालों को उपलक्षण करके सूरदास की आत्मा अपनी आकुलता प्रकट

---

1. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या - ८६३
2. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या - ८८८
3. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या - १८३५

करती है । - - - अगर हमसे कोई पूछे कि 'सूरसागर' के 'सेन्ट्रल थीम' क्या है तो बिना किसी हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे, 'छबीले मुरली नैंकु बजाउ ।' निःसन्देह सखाओं के व्याज से सूर ने स्वयं अपने मनोभाव को प्रकट किया है ।[1]

साख्यलीला के मुख्यता प्रसंग बाल-लीला के अन्तर्गत आए हैं । सूर की गोपियों में भी यह भाव देखा जाता है, लेकिन यह भाव कुछ दूर तक तो साख्य रहता है परन्तु धीरे-धीरे काममूलक भावना में मिल जाता है, अतः इसे साख्य भक्ति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता ।

नन्ददास ने भी सख्य-भक्ति के रसात्मक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उनके यह चित्र भावात्मकता की दृष्टि से उत्तम नहीं है ।

वात्सल्य-भक्तिरस -

अष्टछाप के कवियों ने वात्सल्य भक्तिरस का वर्णन अपने काव्य में अवश्य किया है । सूर के पदों में तो वात्सल्य भाव का, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

वात्सल्य भक्तिरस का मूल भाव भी कृष्ण के शिशु रूप के प्रति पितृ-रति है । इसमें आलम्बन-स्वरूप भगवान् का बाल्यरूप है तथा कृष्ण, बाल्य असमर्थ शिशु के रूप में ही प्रदर्शित किये गये हैं । अष्टछापी कवियों ने काव्य को लौकिकता से बचाये रखने के लिए आवश्यकतानुसार वात्सल्य भक्ति की परिकल्पना में आलम्बन के प्रति महत्व-चेतना को बनाए रखा है ।

वात्सल्य सम्बन्धी पदों में दो प्रकार की रीति के पद मिलते हैं । प्रथम वह जिसमें नन्द-यशोदा को रखा जा सकता है और द्वितीय वह जिसमें स्वयं कवि ही श्रीकृष्ण के बाल रूप के प्रति अपनी भावाभिव्यक्ति करता हुआ प्रत्यक्ष होता है ।

सूर में वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति अत्यन्त मोहक ढंग से हुई है —

---

१. डा० हरबंशलाल शर्मा, सूर और उसका साहित्य, पृ० संख्या २४३

मोहन हौं तुम ऊपर वारी ।
कंठ लगाइ लिए, मुख चूमति, सुन्दर स्याम बिहारी ।
काहे कौं ऊखल सौं बांध्यौ, कैसी मैं महतारी ।
अतिहिं उतंग बयारि न लागत, क्यौं टूटे तरु भारी ।
बारंबार बिचारति जसुमति, यह लीला अवतारी ।
सूरदास स्वामी की महिमा, कापै जाति बिचारी ।।[1]

माता यशोदा अत्यन्त विकल भाव से अपने लाल-गोपाल को हृदय से लगा लेती है और अपने को कोसती है कि मैं कैसी माँ हूँ, क्यों अपने पुत्र को ऊखल से बाँध दिया। अगर ये भारी पेड़ कृष्ण के ऊपर गिर जाते तो - - ---- - वह इस बात से अनभिज्ञ है कि ये लीला भी श्रीकृष्ण की अपनी लीला है ।

सूर के वात्सल्य पर प्रकाश डालते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि -- 'यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है, जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाये हुए है ।- - -- - - - -- 'यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है । माता संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है, जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं । सूरदास जहां पुत्रवती जननी के प्रेमपेलव हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं, वहां वियोगिनी माता के करुण-विगलित हृदय को भी छूने में समर्थ हुए हैं ।'[2]

सूरदास ने वात्सल्य के संयोग पक्ष के साथ-साथ वियोग पक्ष का भी अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है । इस वियोग पक्ष की अनुभूति, कृष्ण के मथुरा गमन की सूचना से ही प्रारम्भ हो जाती है और तब तक चलती है जब तक वह लौट कर नहीं आ जाते । माता को यह विश्वास नहीं होता कि उनके लाल की कोई अन्य व्यक्ति इस प्रकार देख-भाल कर सकेगा ।

नन्ददास ने भी इस रस का वर्णन किया है, पर इससे सम्बन्धित अधिक पद उनके काव्य में नहीं मिलते हैं । बाल भक्ति के अनुरोध के कुछ पद अवश्य देखने को मिलते

---

1. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पदसंख्या - १००६
2. डा० हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० सं० २४३

हैं —

किलकि-किलकि घुटरुनि की धावनि । डरपि के जननि-निकट फिरि आवनि ।
मैयन की वह गर-लपटावनि । चुमनि मधुर पयोधर प्यावनि ।।
ठाढ़े होन लगे रंगमगे । धरत जु धरनि चरन डगमगे ।
अंगुरि गहाइ सुमंदहि मंद । ललनहिं चलन सिखावत नंद ।।
झुनुक झुनक वह पानि की डोलनि । मधुर ते मधुर सुतुतरी बोलनि ।।
आपुहि ललन चलन अनुरागे । दौरि पौरि लगि आवन लागे ।।[1]
अपने रंगनि खेलत मोहन । जसुमति डोलति गोहन गोहन ।।

नन्ददास ने वात्सल्यरस की सैद्धान्तिक स्थिति का वर्णन किया है । इनके पदों में माया, अलौकिकता आदि का हाथ अधिक है, जिससे की काव्य में स्वाभाविकता नहीं आने पायी है ।

जननी कहति तो वदन दिखाइ । डर तें कुँवर क्यों मुख बाइ ।।
बदन मध्य जो जसुमति चहै । सिगरों विस्व चराचर अहै ।।
... ...
है यह मो सुत को परभाव । और न कोऊ भाव अनुभाव ।।[2]
बहुर्यो हरे हरे पहिचान्यौ । अपुनो सुत परमेसुर जान्यौ ।।

इस क्रिया के द्वारा यशोदा श्रीकृष्ण के परम तत्व को पहचान जाती हैं, परन्तु तुरन्त माया द्वारा मूल तत्व को भूल कर सामान्य रूप में आ जाती है —

बहुरि सनेहमई रसमई । माया जननि ऊपर फिर गई ।।
डरे जु जननि डाट तें साँट निरखि पुनि हाथ ।[3]
मुख में विस्व दिखाइके बचे नाथ इहि साथ ।।

इस व्याख्या से सम्बन्धित पद सूरसागर में भी द्रष्टव्य हैं —

सूरसागर में श्रीकृष्ण माता यशोदा और बाबा नन्ददास को अलग-अलग

---

1. नन्ददास, नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, पृ० सं० - २४५
 - व्याख्याकार, नन्दकुमार बाजपेयी ।
2. नन्ददास, नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, पृ० २४८
3. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, पृ० सं० २४८

अपने मुख में ब्रह्माण्ड के दर्शन कराते हैं। किसी बालक के शिकायत करने पर माता यशोदा क्रोध में श्रीकृष्ण को पकड़कर लाती हैं और कहती हैं मुख से मिट्टी उगल वरना मैं तुझे अभी मारती हूं, और कृष्ण अपने बचाव पक्ष में मुंह खोल के दिखा देते हैं। माता यशोदा वहाँ मिट्टी के स्थान पर समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन करती हैं।

(क) मो देखत जसुमति तेरैं ढोटा, अबहीं माटी खाई।
... ...
ब्रज-लरिका सब तेरैं आगै, झूठी कहत बनाइ।
मेरे कहें नहीं तू मानति, दिखरावौं मुख बाइ।
अखिल ब्रह्मंड-खंड की महिमा, दिखराई मुख माँहिं।[1]
x x x

(ख) जसुदा देखति है ढिग खड़ी।
बाल दसा अवलोकि स्याम की, प्रेम-मगन चित बाढ़ी।
... ...
मुख कत मेलि देवता राख्यौ, घालै सबै नसाई।
बदन पसारि खिला जब दीन्ही, तीनौ लोक दिखाए।
सूर निरखि मुख नंद चकित भए, कछु बचन नहिं आए।।[2]

देवमूर्ति देने के लिए जब श्री कृष्ण मुख खोलते हैं तो उसमें तीनों लोक दिखाई देते हैं। नन्ददास कृष्ण के इस रूप को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वह अवाक् भाव से उस दृश्य को देखते ही रह जाते हैं। परन्तु तत्पश्चात् ही वह बाल सुलभ चेष्टाएं करने लगते हैं, फलस्वरूप यहाँ काव्य की भक्तिपरकता के साथ-साथ वात्सल्य भक्तिरस भी द्रष्टव्य हुआ है। इस प्रकार सूरसागर में वात्सल्य भक्तिरस के अन्तर्गत सखाओं में सख्य-रति और गोपिकाओं में कान्तारति का भाव उपलब्ध हुआ है।

मधुर-भक्तिरस -

कृष्ण काव्य में मधुर रस की प्रधानता है। सूर के साथ-साथ नन्ददास ने भी इस रस का प्रयोग किया है। इन कवियों ने इस रस का आस्वादन सरसतापूर्वक

---

1. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ८७३
2. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ३४६

किया है। मधुर-भक्ति की विचार भूमि का उपजीव्य श्रीमद्भागवत है। इन कवियों ने मधुर-रस की परिकल्पना— युगलोपासना, निकुंज-लीला, नित्य-विहार, वृन्दावन-लीला इत्यादि सन्दर्भों में की है।

मधुर-भक्तिरस में कान्तारति का आश्रय केवल राधा ही नहीं गोपियां और सामान्य वर्ग भी है। अखण्ड आनन्द रस के रूप में श्रीकृष्ण की उपासना करने वाली गोपियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है —

(१) परकीया भाव
(२) स्वकीया भाव
(३) सामान्य भाव

१- परकीया भाव - (जार-भाव):

वह गोपियां जो विवाहित होते हुए भी कृष्ण में आसक्त थीं, उनकी भक्ति परकीया भाव की भक्ति कहलाई।

२- स्वकीया भाव -

वह गोपियाँ जो कुमारियाँ थी, श्री कृष्ण के प्रति इच्छुक थीं और उनकी इच्छा भी पूर्ण होती प्रदर्शित की गई है वे गोपियां स्वकीया कहलाईं।

३- सामान्य भाव -

वह युवतियाँ जो श्री कृष्ण को यशोदा की भाँति प्रेम करती थीं और उनकी प्रेमानुभूति वात्सल्य-भाव से अभिभूत थी इस वर्ग की युवतियां सामान्य कहलाईं।

परकीया भाव—

इस सम्बन्ध में सूर आदि अष्ट छापी कवि चैतन्य-सम्प्रदाय की मान्यता से अधिक प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्होंने प्रेम का चरम घनत्व परकीया भाव में ही माना है। परन्तु चैतन्य सम्प्रदाय को छोड़कर ब्रज के शेष सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में राधा को स्वकीया ही माना गया है। इस सन्दर्भ में डा० शशि अग्रवाल ने कहा है -- 'वह गोपियाँ स्वकीया थीं किन्तु उनमें परकीया भाव था। वास्तव में परकीया होने में और परकीया भाव होने में बहुत अन्तर है। परकीया भाव से मधुर-

भक्ति में और भी तीव्रता आ जाती है।[1]

वल्लभ सम्प्रदाय में भी राधा को स्वकीया बताकर उसकी समस्त चेष्टाएं परकीया जैसी निर्दिष्ट की गई हैं, क्योंकि प्रेम की चरम अवस्था परकीया भाव में ही द्रष्टव्य है।

'परकीया भाव में तीन बातें विशेष हैं --अपने प्रियतम का निरन्तर चिन्तन, मिलन की उत्कण्ठा और तीसरी दोष दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीया भाव में ये बातें गौण हो जाती हैं।[2]

मन गयौ चित स्याम सौं लाग्यौ।
नाना विधि जतन करि परस्यौ,पुरुष चिकावत त्याग्यौ।।
इक पय पियत चली तजि बालक, छोम नहीं कछु कीन्हौ।
चली धाई अकुलाइ सकुच तजि, बोलि बेनु-धुनि लीन्हौ।।[3]
इक पति-सेवा करन चली उठि, व्याकुल तनु सुधि नाहीं।

इसी प्रकार -- मुरली की धुन सुनते ही गोपियां व्याकुल हो उठीं, हर तरह की लोक मर्यादा को त्याग कर वह श्रीकृष्ण से मिलने के लिए दौड़ पड़ीं--

जब ही बन मुरली स्रवन परी।
चकित भई गोप-कन्या सब, काम-धाम बिसरीं।।
कुल मर्याद बेद की आज्ञा नैंकुहूँ नहीं डरीं।
स्याम-सिंधु, सरिता-ललना-मन, जल की ढरनि ढरीं।।
अंग-मरदन करिबे कौं लागीं, उबटन तेल धरी।
जो जिहिं भाँति चली सो तैसैंहिं, निसि बन कौं जु खरी।[4]
सुत-पति-नेह, भवन-जन-संका, लज्जा नाहिं करी।

---

१. डा० शशि अग्रवाल, हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव, पृ० १५०
२. डा० शशि अग्रवाल, हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव, पृ० १५२
३. सूरसागर, प्रथम खण्ड, १६१७
४. सूरसागर, प्रथम खण्ड, १६१८

प्रेम का चरम घनत्व परकीया भाव में ही देखने को मिलता है । यहाँ उन गोपियों का वर्णन है जो विवाहित होते हुए भी पति-स्नेह से मुख मोड़कर, नदी की भाँति उमड़ती-घुमड़ती कृष्णरूपी सागर से मिलने के लिए व्याकुल चली आती है तथा कृष्ण मिलन के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा आने पर अपना शरीर तक त्याग कर देती है । ऐसा ही एक उदाहरण —

(क) मुरली-धुनि करी बलवीर ।
सरद निसि का इंदु पूरन, देखि जमुना तीर ।।
सुनत सो धुनि भई व्याकुल, सकल घोष-कुमारि ।
अंग अभरन उलटि साजे-रही कछु न सम्हारि ।।
गई सोरह सहस हरि पै, छांडि सुत-पति- नेह ।
एक ग्वाली रोकि के पति, सो गई तजि देह ।।[1]

^ < <

(ख) सुनत बन बेनु-धुनि चलीं नारी ।
लोक-लज्जा निदरि, भवन तजि, सुंदरि मिलीं बन जाइ के बन-बिहारी ।।
दरस कौं लहत मन हरष सबकौं भयौ, परम की साध अति करतिं भारी ।
यहै मन बच करम, तज्यौ सुत पति धरम, मेटि भव-भरम सहि लाज गारी ।[2]

इस रस की व्याख्या नन्ददास ने भी की है । भक्तिकाव्य में एक मात्र वही ऐसे कवि हैं जिन्होंने परकीया भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना है । परकीया भाव को जार-भाव और उपपति-रस के नाम से भी अभिहित किया जाता है -

(क) रसनि मैं जो उपपति रस आही । रस की अवधि कहत कवि ताही ।।[3]
सो रस जो या कुँवरिहिं होई । तो हौं निरिखि जिऊँ सुख सोई ।।
^ ^ <

---

1. सूरसागर, प्रथम खण्ड, १६२५
2. सूरसागर, प्रथम खण्ड, १६२७
3. नन्ददास ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, रूपमंजरी, चौपाई , पृ० १२४

(ख) जौ कहो उपपति-रस नहिं स्वच्छ । सब कोउ निंदत तरु अति तुच्छ ॥[1]
तहाँ कहति हैं ब्रजभामिनी । लहलहाति जन नव दामिनी ॥
यहाँ नन्ददास की गोपियाँ उपपति-रस की स्वच्छन्दता को हृदय से स्वीकार करती प्रतीत हुई हैं ।

स्वकीया-भाव -

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा का स्वकीया रूप स्वीकार किया गया है, और इसी भाव से इनकी व्याख्या की गई है । सूरदास और नन्ददास ने इस भाव को रस के सन्दर्भ में परिलक्षित किया है तथा रास के प्रसंग में राधा कृष्ण का परिणय दिखाया है —

(क) रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै ।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै ॥
जौ कहौं, कौन मानै, जो निगम-अगम-कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै ॥[2]
भाव सौं भजै, बिनु भाव मैं ये नहीं भावही माहिं ध्यानहिं बसावै ॥
< < <

(ख) घर-घर तैं निकसीं ब्रज-बाला ।
लीन्हें नाम जुवति जन-जन के, मुरली मैं सुनि-सुनि ततकाला ॥
इक मारग, इक घर तैं निकरीं, इक निकरतैं इक भईं बिहाला ।
एक नाहिं भवननि तैं निकरीं, तनपै आए परम कृपाला ॥
यह महिमा वेई जानैं, कवि सौं कहा बरनि यह जाई ।[3]
सूर स्याम रस-रास-रीति-सुख, बिनु देखैं आवै क्यौं गाई ॥

नन्ददास ने सभी गोपिकाओं को स्वीकाओं जैसा रूप दे दिया है । राधा तो स्पष्ट कहती है —

"मुँह सम्हारि [illegible] नि बोलिये उई कोउ गनिका नाहिं"[4]

---

1. नन्ददास ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, भाषा दशम स्कन्ध, पृ० ३२१
2. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १६२४
3. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १६२३
4. रमेश कुमार श , नन्ददास, पृ० संख्या २६७

नन्ददास द्वारा प्रयुक्त इस भाव का वर्णन 'रासपंचाध्यायी' और सिद्धान्त पंचाध्यायी में देखा जा सकता है। नन्ददास ने श्रीकृष्ण के प्रभुत्व को समझाने के लिए मुख्यत: इस भाव पर बल दिया है। कृष्ण, नित्य, आत्मानन्द, सदा एकरस, अखण्ड और घट-घट में निवास करने वाले अन्तर्यामी हैं। वे मनुष्य नहीं हैं। वे न तो काम के वश में हैं और न ही कामिनी के। गूढार्थ में इस भाव की व्याख्या करते हुए उन्होंने राधा कृष्ण के परिणय सुख के सन्दर्भ में रास रस का वर्णन किया है —

(क) नहि कछु इन्द्रिय-गामी कामी कामिनि के बस।
सब घट अंतरजामी स्वामी परम एक रस ॥[1]

(ख) अवधि-भूत गुन रूप नाद तर्जन जहं होई।
सब रस को निरास रास रस कहिए सोई ॥[2]

(ग) कमलनयन करुनामय सुंदर नंदसुवन हरि।
रच्यो बहत रस रास इनहिं अपनी समसरि करि ॥[3]

अत: यहाँ स्पष्ट रूप से यह परिलक्षित किया गया है कि कृष्ण और राधा की लीलाएँ जिनमें संयोग सुख को महत्व दिया गया है - माधुर्य भाव के स्वकीया प्रेम का अंग हैं।

सामान्य भाव -

सामान्य भाव के अन्तर्गत उन युवतियों की प्रेमानुभूति का वर्णन है जो सामान्य रूप, वात्सल्यभाव से प्रेमाभिव्यक्ति करती हैं। दूसरे शब्दों में वह युवतियां जो यशोदा की भाँति श्रीकृष्ण को प्रेम करती हैं —

माखन भरी कमोरी देखत लै-लै लागे खान।
चितै रहे मनि-खंभ -छाँह तन, तासौं करत सयान।
प्रथम आजु मैं चोरी आयौ, भलौ बन्यौ है संग।

---

1. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी, रोला ८८, पृ० सं० ४४
2. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी, स्केल- १३, पृ० सं० ३६
3. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण-सिद्धान्त पंचाध्यायी ६६, पृ० सं० ४३

आपु खात प्रतिबिंब खवावत, ि रत कहत, का रंग ?
जो चाहौ सब देउं कमोरी, अति मीठो कत डारत ।
तुमहिं देति मैं अति सुख पायौं, तुम जिय कहा विचारत ?
सुनि-सुनि बात स्याम के मुख की उमँगि उठी ब्रजनारी ।[1]
सूरदास प्रभु निरखि ग्वालि-मुख तब भजि चले मुरारी ।।

'नन्ददास के अनुसार सामान्य नायिका कुब्जा को माना जा सकता है, किन्तु कुब्जा-कृष्ण का प्रेम नन्ददास के काव्य में स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है । गोपिकाओं की व्यंग्यमयी उक्तियों में ही इसका संकेत है ।'[2]

अष्टछापी कवियों ने मधुररस की परिकल्पना के अन्तर्गत संयोग और वियोग दोनों पक्षों को उठाया है । इसका स्थायी भाव 'रति' माना गया है और इसमें शृङ्गार-रस की स्थिति ही मानी गई है । 'नन्ददास की रचनाओं में कृष्ण-रति का जो वर्णन मिलता है वह वस्तुत: लौकि- रति से अभिन्न दिखाई देता है किन्तु[3] भक्ति-भावापन्न होने के कारण नन्ददास उसे (मधुररस) में ही ग्रहण करते हैं ।'

नन्ददास के अनुसार रसतत्व श्रीकृष्ण हैं । संसार में कहीं भी जिस भी रूप में रस द्रष्टव्य है वह इसी रस-सागर का निकला हुआ कण है । अत: रस कहीं भी किसी भी रूप में आनन्द का आस्वादन या वर्णन करता है तो वह इसी परम तत्व का आस्वादन या वर्णन है —

नमो नमो आनंदघन, सुंदर नंद-कुमार ।
रस-मय, रस-कारन, रसिक, जग जाके आधार ।।[4]

सम्भवत: इसीलिए उन्होंने अपने को रसिक कहा है और श्रीकृष्ण के लिए भी रसिक शब्द का प्रयोग किया है । परन्तु इनकी यह रसिकता लौकिक न होकर अध्यात्मिक

---

१. सूरसागर, पद ८८३, पृ० संख्या ३५०
२. रमेश कुमार , नन्ददास, पृ० संख्या २६७
३. डा० रूप नारायण, नन्ददास-विचारक, रसिक कलाकार, पृ० ११८
४. नन्ददास ग्रन्थावली, रसमंजरी, दोहा १, पृष्ठ संख्या १४४

जगत की स्वरूपता को प्रदर्शित करती है—

नाहिन कछु शृङ्गार कथा इहि पंचाध्याई ।
सुंदर अति निरवृच परा तें इती बड़ाई ॥[1]

संयोग पक्ष—

सूर ने संयोग के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की अवस्था परिवर्तन और रूप परिवर्तन का उल्लेख किया है । गोपियां इस बात की शिकायत यशोदा से बार-बार करती हैं और कहती हैं कि श्रीकृष्ण बाहर उतने सीधे नहीं हैं जितना की तू समझती है —

(क) बानि देखे स्याम घर में, मई ठाढ़ी पौरि ।
प्रेम अंतर, रिस भरे मुख, जुवति बूझति बात ।
चिते मुखतन सुधि बिसारी, कियौ उर नख-घात ।
अतिहिं रस-बस भई ग्वालिनि, गेह देह बिसारि ।[2]

(ख) मैं देख्यौ बसुदा को नंदन, खेलत आँगन बारौ री ।
ततदन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री ।
तजी लाज कुलकानि लोक की, पति गुरुजन प्योसारौ री ।
जिनकी सकुच देहरी दुर्लभ, तिनमैं मूँड उघारौ री ।
टोना - टामनि जंत्र मंत्र करि, ध्यायौ देव - दुवारौ री ।
सासु-ननद घर-घर लिए डोलति, याकौ रोग बिचारौ री ।[3]
कहौं कहा कछु कहत न आवै, औ रस लागत खारौ री ।

संयोग काल में सूर ने श्रीकृष्ण का रतिनागर और राधा का रति नागरी रूप प्रकट किया है —

खेलत हरि निकसे ब्रज- खोरी ।
कटि कछनी पीतांबर बाँधे, हाथ लए भौंरा, चक, डोरी ।

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी - ४०, पृ० संख्या ४१
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, ६०७
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, ७५३

औचक सी देखी तहं राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी ।
नील बसन करिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति फकफोरी ।
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी, अति छवि तन-गोरी ।
इस तरह के अन्य बहुत से उदाहरण सूरसागर में भरे पड़े हैं ।[1]

वियोग-पक्ष--

अष्टछापी कवियों ने विरह का वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप में किया है । जिसमें उन्होंने प्राणी जगत के साथ-साथ प्रकृति जगत को भी विरहाकुल दिखाया है -- "मधुबन तुम कत रहत हरे"

श्रीकृष्ण के विरह में मनुष्य जगत के साथ-साथ पशु-पक्षी और जीव जगत भी अस्तित्वहीन से दिखायी दिये हैं ।

(क) हरि-दरसन की साध मुई ।
उड़िये उड़ी फिरति नैननि संग, कर फूटैं ज्यौं आक-रुई ।।[2]

(ख) द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ
बिनु देखैं कल परति नहीं छिनु, एते पर कीन्ही यह टेऊ ।।
बार-बार देख्योइ चाहत, साथी निमिष मिले हैं येऊ ।[3]

(ग) स्यामहिं मैं कैसें पहिचानौं ।
क्रम क्रम करि इक अं निहारति, पलक ओट ताकौं नहिं जानौं ।।
पुनि लोचन ठहराइ निहारति, निमिष मेटि वह छवि अनुमानौं ।[4]

परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के विरह वर्णन की आलोचना करते हुए अपनी पुस्तक 'सूरदास' में लिखा है कि --"परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है । सीता अपने प्रिय

---

1. सूरसागर, दशमस्कन्ध, १२६०
2. सूरसागर, दशम स्कन्ध, २४७३
3. सूरसागर, दशम स्कन्ध, २४६८
4. सूरसागर, दशम स्कन्ध, २४६६

से वियुक्त कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर के एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियो- 'वियोग-वर्णन' के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध में नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते कुंज या भाड़ी में जा छिपते हैं। या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्ध्यान हो जाते हैं बस, गोपियां मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं।[1]

नन्ददास ने अपने काव्य में विरह को प्रदर्शित करने के लिए विरह मंजरी की रचना की है। नन्ददास ने अपने द्वारा व्याख्यायित विरह के चार भेद किए हैं --

(१) प्रत्यक्ष, (२) पलकान्तर, (३) वनान्तर, (४) देशान्तर

प्रत्यक्ष और पलकांतर विरह वस्तुतः यह विरह है -

प्रत्यक्ष -

जो नवकुंज सदन श्री राधा। बिहरति पिय सँग रूप अगाधा।
पौढ़ी पीतम अंक सुहाई। कछु इक प्रेम लहरि सी आई।।[2]
संभ्रम भई कहत रस बलिता। मेरे लाल कहां री ललिता।।

पलकांतर -

सुनि पलकांतर बिरह की बातैं। परम प्रेम पहिचानत तातैं।[3]

वनांतर -

बिरह बनांतर को सुनि लीजे। गोपिन के मन में मन दीजे।[4]

देशांतर -

सुनि देसांतर बिरह-बिनोद। रसिक जनन-मन बढ़वन मोद।[5]

नन्ददास ने विरह के निम्नांकित चार भेद किये हैं। सूरदास ने वनान्तर, देशान्तर इन दो प्रकारों के विरह की रचना की है। सूरदास द्वारा वर्णित वनान्तर विरह, जिसमें श्रीकृष्ण के किसी वन कुंज की ओट में चले जाने पर गोपियों का विरहाकुल

---

१. हरबंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० ३४०
२. नन्ददास ग्रन्थावली, विरहमंजरी, चौपाई, पृ० संख्या १६३
३,४,५ - नन्ददास ग्रन्थावली, विरहमंजरी, पृ० १६३

हो जाना, अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है और इसकी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अवहेलना भी की है।

प्रत्यक्ष और पलकान्तर विरह वस्तुत: वह विरह है, जिसमें प्रेम की घनीभूत अवस्था का वर्णन है।

नन्ददास ने यद्यपि विरह का सैद्धान्तिक विवेचन किया है परन्तु फिर भी वह उतनी मार्मिकता को लिए हुए नहीं है जितना की सूर का विरह वर्णन। नन्ददास के विरह वर्णन में बुद्धिवाद का स्तर ऊंचा उठा हुआ प्रतीत होता है, अत: वह सहजता से वंचित रह गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टछापी कवियों द्वारा प्रयुक्त मधुर रस की प्रेषणीयता अत्यन्त मधुर एवं हृदयस्पर्शी है। कृष्णलीला का सहारा लेकर वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीन रसों की परिकल्पना अष्टछापी काव्य की प्रमुख भाव साधना है। सूर ने विनय के पदों में दास्य भक्ति को प्रतिपादित किया है। भक्तिरस के आस्वादन के लिए सामान्य प्राणी में जिन गुणों का होना आवश्यक है, जैसे -- प्रभु के प्रति आसक्ति, प्रभु कृपा, नयन, श्रवण, हृदय की शुद्धता, हृदय की निर्मलता इत्यादि, सूरसागर के विनय के पद पढ़ते हुए यह सारे भाव अनायास रूप में उपलब्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार दास्य भक्ति की पीठिका देकर वात्सल्य, साख्य और माधुर्य की परिकल्पना करते हुए सूरसागर में सूर ने सब मिलाकर 'भक्तिसागर' ही प्रस्तुत कर दिया है।

काव्य-रस

सूरसागर में भक्तिरसों के साथ-साथ काव्यरसों का भी वर्णन किया गया है, परन्तु यह काव्य-रस परिपक्व अवस्था में द्रष्टव्य नहीं हैं। सूर का वर्ण्य-विषय सीमित है क्योंकि इन्होंने भगवान के सौन्दर्य का ही चित्रण किया है। अत: शृंगार के दोनों पक्षों का ही वर्णन करने में इन्होंने खास रुचि ली है। श्री कृष्ण की बाल और यौवन की अवस्थाओं के चित्रण में वह इतना तन्मय हो गये हैं कि उनका शील और शक्ति की तरफ ध्यान ही नहीं गया है। कृष्ण-काव्य के प्राय: सभी भक्तों ने उनकी असुर-संहार-

लीला को गौण रूप और उनकी सौन्दर्य तथा रस-रास सम्बन्धी लीलाओं को ही प्रधानता दी है । काव्य-कला की दृष्टि से सूर के पश्चात् नन्ददास का ही नाम आता है । पद-लालित्य और भाषा-माधुर्य की दृष्टि से तो कुछ आचार्यों ने इन्हें ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं ।

नन्ददास अपनी मनोरम पद-योजना के कारण 'जड़िया' नाम से प्रसिद्ध हैं । नन्ददास ने अपनी भाषा का बनाव शृङ्गार सूर से ज्यादा किया है । वे वास्तव में, गीतगोविन्द की ललित पदावली से अधिक प्रभावित थे और उसी की अनुगूंज अपनी पद-योजना में प्रस्तुत करना चाहते थे, इसीलिए ब्रजभाषा काव्य-कला में उनका स्थान महत्व-पूर्ण है । फिर भी सूर की भांति अभिव्यंजना - कौशल विदग्ध-उक्ति और सरस काव्य-रूप के नव-निर्माण की क्षमता उनमें न थी ।

काव्यरसों में सूरदास ने शृङ्गार, वीर, करुण, रौद्र, भयानक आदि सभी रसों का वर्णन किया है । नन्ददास ने भी अपने काव्य में इन सभी काव्य रसों का वर्णन किया है । हम यहां दोनों कवियों के काव्य से काव्य रसों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

वात्सल्य-रस--

सूरसागर में वात्सल्य-रस से सम्बन्धित अनेकों पद मिलते हैं । सूरदास ने श्री कृष्ण की बाल छवि और क्रीड़ाओं का वर्णन अत्यन्त सरलता तथा सजीवता के साथ किया है --

(क) सिखवति चलन जसोदा मैया ।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया ।
कबहुँक सुंदर बदन बिलोकति, उर आनँद भरि लेति बलैया ।
कबहुक कुल देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया ।
कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति- इहिं आँगन खेलौ दोउ भैया ।
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप बिलसत नंदरैया [1]।

< ^ <

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ७३३, पृ० संख्या ३००

(ख) बलि गइ बाल-रूप मुरारि ।

पाइ, पैंजनि रटति रुन-झुन-नचावति नंद -नारि

कबहुं हरि के लाइ अँगुरी, चलन सिखावति ग्वारि

... ...

कबहुँ अँग भूषन बनावति, राइ-लोन उतारि ।

सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि ।।[1]

नन्ददास ने भी वात्सल्य से सम्बन्धित पद लिखे हैं । परन्तु उनके पद वात्सल्य रस से सम्बन्धित न प्रतीत होकर वात्सल्य भाव के अधिक निकट प्रतीत होते हैं —

झुनुक झुनुक वह पानि की डोलनि ।मधुर तें मधुर तुतुतरी बोलनि।

आपुहि ललन चलन अनुरागे । दौरि पौरि लगि आवन लागे ।

अपने रंगनि खेलत मोहन । जसुमति डोलति गोहन गोहन ।

दिखि दिखि बाल चरित अभिराम । बिसरे सबनि धाम के काम ।[2]

हास्य-रस—

इस रस का वर्णन करने में उनका अपना स्थान है । बाल कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं से उत्पन्न चेष्टाएं छेड़छाड़, बहाने इत्यादि हास्य रस की सृष्टि करते हैं ।

बाल-लीला से सम्बन्धित कुछ पद ऐसे हैं जिन्हें पढ़ने पे अनायास ही हास्य उत्पन्न होता है -

(क) स्याम कहा चाहत से डोलत ?

पूछे तें तुम बदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत ।

पाए आइ अकेले घर में दधि-भाजन में हाथ ।

अब तुम कांको नाउँ ले उगे, नाहिंन कोऊ साथ ।

मैं जान्यो यह मेरौं घर है, ता धोखे मैं आयो ।

देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न कों कर नायो ।

---

1. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७३६, पृ० सं० ३०१

2. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कंध, पृ० सं० २४५

सुनि मृदु बचन, निरखि मुख-सोभा, ग्वालिनि मुरि मुसुकानी ।
सूर स्याम तुम हो अति नागर बात तिहारी जानी ।।[1]

(ख) मैया मैं नहिं माखन खायौ ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ ।
... ...
मुख दधि पौंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ[2] ।

मैया मैं नहि माखन खायौ -- इसमें में कृष्ण आलम्बन हैं, यशोदा आश्रय हैं । कृष्ण की बातें बनाना तथा दोना छिपाना आदि उद्दीपन विभाव हैं और यशोदा का हर्षित होकर मुस्कराना आदि अनुभाव है ।

करुण-रस--

दावानल के प्रसंग में करुणरस की व्यंजना हुई है -

(क) ब्रज के लोग उठे अकुलाइ ।
ज्वाला देखि अकास बराबरि, दसहुँ दिसा कहुँ पार न पाइ ।।
झहरात बन-पात, गिरत तरु, धरनी तरकि तराकि सुनाइ ।
... ...
उचटत अति अंगार गगन लौं सूर निरखि ब्रज-जन बेहाल ।।[3]

(ख) अब कैं राखि लेहु गोपाल ।
दसहूँ दिसा दुसह दवागिनि, उपजी है इहिं काल ।।
पटकत बाँस, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल ।
... ...
जनि जिय डरहु, नैन मूँदहु सब, हँसि बोले नँदलाल ।
सूर अगिनि सब बदन समानी, अभय किए ब्रज-बाल[4] ।

इन पदों में दुख एवं शोक स्थायी भाव है । अङ्गारों का उचटना, बांसों का पटकना,

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ८९७, पृ० ३५४
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ९५२, पृ० ३७९
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २१२, पृ० ४७९
४. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ~~१२३~~ १२३२, पृ० ४७८

कराल लपटों का झपटना और जीवों का बेहाल होना, जलना इत्यादि उद्दीपन एवं आलम्बन विभाग है तथा श्री कृष्ण को रक्षा के लिए पुकारना-स्मरण संचारी-भाव है ।

रौद्र-रस—

गिरी-धारण लीला के अन्तर्गत रौद्र रस का वर्णन इन्द्र के कोप में अभिव्यक्त हुआ है -

(क) प्रथमहि देउँ गिरिहिं बहाइ ।
ब्रज-घातनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ ।।
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउँ दिखाइ ।
बरनि जल ब्रज घोइ बरौं लोग देउँ बहाइ ।।
खात-खेलत रहे नीके, करी उपाधि बनाइ ।
बरस दिन मोहिं देत पूजा, दई सोउ मिटाइ ।।

यहाँ क्रोध स्थायी भाव, इन्द्र आ य, मेघों को बुलाकर ब्रज को बहाने के लिए आदेश देना आदि अनुभाव है और पूर्व पूजा की स्मृति-संचारी भाव है ।

इसी भाव से सम्बन्धित एक उदाहरण हम नन्दराज ग्रन्थावली में प्रस्तुत कर रहे हैं—

अब देखौं कैसी सिखलाऊँ । गोकुल गाँवहिं खोदि बहाऊँ ।।
बोले मेघन के गन सोई । जिनके जल जग परलै होई ।।
वेगि जाहु जहँ नँद को गोकुल । दूरि करौ तहँ तैं सबकौ कुल ।।
कान्ह को डर गिनि जिय में आनौं । पाछैं मोहि आयौ ही जानौं।।[1]
कारी घटा डरावनी आई । पापिनि साँपिनि-सी थरि छाई ।।

वीर-रस—

सूरसागर में वीर रस का आस्वादन हम मथुरा में कंस के मल्लों और कंस के वध-वर्णन वाले पदों में कर सकते हैं -

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, गोवर्धनलीला, पृ० १६१

(क) गह्यौ कर स्याम भुज मल्ल अपने धाइ, झटकि लीन्हौ तुरत पटकि धरनी ।
मटकि अति सब्द भयौ,खटक नृप के हियैं, अटकि प्राननि पर्यौ चटक करनी ।।
... ...
मल्ल जे जे रहे सबै मारे तुरत, असुर जोधा सबै तेउ संहारे ।
धाइ दूतनि कह्यौ, मल्ल कोउ न रह्यौ, सूर बलराम हरि सब पछारे ।।[१]

इसी प्रसंग में इस (३६६७) में भी वीर रस का वर्णन है ।[२] भीष्म पितामह की प्रतिज्ञा में भी वीर रस उपलब्ध है ।

आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु-सुत न कहाऊँ ।
स्यंदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।
पांडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता-रुधिर बहाऊँ ।
इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ ।
सूरदास रनभूमि विजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ ।।[३]

इस पद में भीष्म नायक (आश्रय), कृष्ण प्रतिनायक (आलम्बन), कृष्ण की शास्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन और उसकी स्मृति संचारी तथा स्यन्दन और महारथों को खण्डित करने, खून की नदी बहाने आदि की प्रतिज्ञा अनुभाव है ।

भयानक-रस

दावानल प्रसंग में भयानक रस का वर्णन हुआ है ।

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ ।
बरत बन-बांस, थरहरत कुस कांस, जरि, उड़त है भांस, अति प्रबल धायौ ।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३६६१, पृ० सं० १३०८
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३६६७, पृ० सं० १३१०
३. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद २७०, पृ० सं० ८७

झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि, फटक,लटलटकि द्रुम द्रुमनवायौ ।।
अति अगिनि-झार, भंभार धुंधार करि, उचारे अंगार झंझार छायौ ।
बरत बन पात महरात झहरात-अररात तरु महा, धरनी गिरायौ ।।
भए बेहाल सब ग्वाल ब्रज-बाल तब, सरन गोपाल कहिकै पुकारयौ ।
लुना केसो सकट बकी बक अघासुर, बाम कर राखि गिरि ज्यौं उबारयौ ।।[1]

यहाँ दावानल आलम्बन है और ग्वाल-जन आश्रय है । वृक्षों का महराकर गिरना, लपटों का झपटना आदि उद्दीपन । भयंकर दावानल को देखकर उद्भूत भय स्थायी भाव है । ग्वालों का बेहाल होना, कृष्ण को पुकारना आदि अनुभाव तथा केसी, अघासुर आदि का वध कर उनकी रक्षा करने की पूर्व स्मृति संचारी भाव है ।

इसी भाव से सम्बन्धित एक उदाहरण नन्ददास ग्रन्थावली से प्रस्तुत है --

कारी घटा घरावनी आई । पापिनि साँपिनि सी धरि छाई ।।
बिजुरी लपकि यौं आवै । मानौं उरगन जीम चलावै ।।
फन फुंकार पवन अति ताते । हरि न होय तौ सब बरि जाते ।।
गरजनि तरजनि अनु अनु भाँती । फूटे कान अरु फाटे छाती ।।[2]
परन लगी नान्हीं बुंद बारी । मोरे थंमन हूं तैं भारी ।।

अद्भुत-रस--

अद्भुत रस के भी कुछ प्रसंग सूर सागर में द्रष्टव्य हैं --

जैसे श्री कृष्ण के माँटी खाने के प्रसंग में, श्री कृष्ण माँटी खाते हैं माता यशोदा मुख खुलवाकर देखती हैं । मुख खुलवाने पर[3] मिट्टी के स्थान पर समस्त ब्रह्माण्ड अवलोकित होता है । यहाँ अद्भुत रस है ।

दूसरा प्रसंग गोवर्धन लीला में--

ग्वाल कहत कैसैं गिरि धारयौ । कैसैं सुरपति गर्व निवारयौ ।।
बज्रायुध जल बरषि सिरान्यौं । परयौ चरन जब प्रभु करि जान्यौं ।।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद - १२१४, पृ० सं० ४७२
२. नन्ददास ग्रन्थावली, गोवर्धन-लीला, पृ० १६१
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद पृ० सं० ३४७

हम संग सदा रहत हैं ऐसें । यह करतूति करत तुम कैसें ।।
हम हिलि मिलि तुम गाइ चरावत । नंद जसोदा सुवन कहावत ।।
देखि रहीं सब घोष कुमारी । कोटि काम छबि पर बलिहारी ।।
कर जोरतिं रबि गोद पसारैं । गिरिवर धर पति होहिं हमारैं ।।
ऐसो गिरि गोबर्धन भारी । कब लीन्हौ कब धरयौ उतारी ।।
तनक तनक भुज तनक कन्हाई । यह कहि उठि जसोदा माई ।।[1]
कैसे परबत लियौ उचकाई । मुख चांपति चूमति बलि जाई ।।

इसी प्रकार तीसरा प्रसंग गिरिधारण-लीला में —

क बाम कर के टेक्यौ गिरिराज ।
गोपी-गाइ-ग्वाल-गोसुत कौ, दुख बिसरायौ, सुख करत समाज ।।
आनंद करत सकल गिरिवर-तट, दुस्त गरयौं सबहिन बिसराइ ।।
चकृत भए देखत यह लीला, परत सबै हरि-चरननि धाइ ।।
गिरिवर टेकि रहे बाऐं कर, दच्छिन कर लियौ सखनि उठाइ ।।
कान्ह कहत ऐसो गोबर्धन, देखौ कैसो कियौं सहाइ ।।
गोप ग्वाल नंदादिक जहं लौं, नंद-सुवन लियो निकट बुलाइ ।।[2]
सूरदास प्रभु कहत सबनि सौं, तुमहूँ मिलि टेको गिरि आइ ।।

नन्ददास ने भी इस रस का वर्णन किया है । गोबरधन लीला के प्रसंग में हम इसे देख सकते हैं --

(क) चलि आए ब्रजराज कुँवर बर । झपट दे उचकि लियो गिरि कर पर ।।[3]
नाहिन कछु श्रम सहजहिं ऐसें । साप बेसना कौं सिसु जैसें ।।

(ख) सात दिवस अद्भुत झर ठान्यौं ब्रजबासी तनकौ नहिं जान्यौ[4]
सुंदर बदन बिलोकनि लागे । भूख-प्यास उर कौं नहिं लागे ।।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद - १५६६, पृ० सं० ५८८
२. सूरसागर, दशम स्कंध , पद १४९०, पृ० सं० ५६३
३-४ नन्ददास ग्रन्थावली, गोबरधन-लीला, पृ० सं० १६२

(ग) इक दिन ललहिं लिये गोद में । जसुमति मगन महा मोद में ।।
बैठी मधुर पयोधर प्यावति । मुँह अंगुरि दे दे मुसुकावति ।।
अरुन अधर दँतियन की जोती । जनु कुसुम मधि जनु बिबि मोती ।।
ललनहिं तनक जँभाई आई । तब जसुमति अति बिस्मय पाई ।।
धरा अंबर ससि सूरज तारे । सर सरिता सागर गिरि भारे ।।
बिस्व चराचर है यह जितौ । सुत मुख मध्य बिलोक्यौ तितौ ।।
नैन मूंदि अति बिस्मय भरी । बहुरि बिचारि परी सुधि करी ।।[1]

शान्तरस—

शान्त-रस का वर्णन सूरदास ने विनय से सम्बन्धित पदों में किया है । इस रस का स्थायी भाव निर्वेद है । इसमें संसार की निस्सारता अपने किये पर पश्चाताप आदि अनुभाव तथा हर्ष आत्म-ग्लानि आदि संचारी भाव है ।

थोरे जीवन भयौ तन भारौ ।
कियौ न संत-समागम कबहुं लियौ न नाम तुम्हारौ ।
अति उनमत्त मोह-माया-बस नहिं कछु बात बिचारौ ।
करत उपाव न पूछत काहू, गनत न खाटौ- खारौ ।
इंद्री-स्वाद-बिबस निसि-बासर, आप अपुनपौ हारौ ।
जल औंडे मैं चहुँ दिसि पैरयौ पाउँ कुल्हारौ मारौ ।
बाँधी मोट पसारि त्रिबिध गुन, नहिं कहुँ बीच उतारौ ।
देख्यौ सूर बिचारि सीस परी, तब तुम सरन पुकारौ ।।[2]

---

1. नन्ददास ग्रन्थावली, भाषा दशम स्कन्ध, पृ० सं० २४३

2. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद १५२, पृ० सं० ५०

कबीरदास

निर्गुण भक्ति-शाखा के सन्त कवियों ने यद्यपि रस का वर्णन नहीं किया है, तथापि उनके काव्य में हम महारस, हरिरस, प्रेमरस, रामरस और भगतिरस जैसे शब्दों का प्रयोग उन्मुक्तरूप से पाते हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त महारस, हरिरस, प्रेमरस और रामरस, भक्तिरस का उल्लेख हमने द्वितीय अध्याय में किया भी है।

कबीरदास राम रस प्राप्त कर लेने के पश्चात् अन्य रसों को अवर कोटि का मानते हैं। कबीर के समान दादू दयाल ने भी हरि रस, प्रेमरस, राम रस की चर्चा करते हुए उन्हें 'भगति रस' के समान्तर रखा है। इसी प्रकार सुन्दर दास ने भी हरि रस का वर्णन किया है। इन सभी कवियों ने प्रेम रस, हरिरस, रामरस, महारस आदि शब्दों का प्रयोग अशास्त्रीय रूप में भक्तिरस के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त किया है। सन्त कवि रस के भेद उपभेद करने के झगड़े में नहीं पड़े हैं। रस का शास्त्रीय विश्लेषण करने की ओर उनका झुकाव बिलकुल ही नहीं था। उन्होंने एक पथ पर चल कर हरिरस, प्रेमरस, महारस, रामरस जैसे शब्दों की अनुगूंज ही अपने काव्य में प्रस्तुत की है और अन्त में यह सभी शब्द एक ही शब्द 'भक्तिरस' में विलीन हो गए हैं।

सन्त-काव्य में सर्वोच्च और प्रतीक स्थान कबीरदास का ही है, अतः कबीर की काव्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करने में ही सन्त काव्य का अध्ययन हो जाता है। फलतः यहां हम कबीर के काव्य में ही भक्तिरस का वर्णन कर रहे हैं। कबीर ने राम और कृष्ण दोनों का नाम लेकर प्रेमाभिव्यक्ति की है।

रस दृष्टि से कबीर-काव्य का अध्ययन करने पर रूपगोस्वामी द्वारा वर्णित भक्ति रसों में से हमें निम्नलिखित तीन भक्तिरस प्राप्त होते हैं --

(१) शान्त भक्तिरस

(२) दास्य भक्तिरस

(३) मधुर भक्तिरस

शान्त-भक्तिरस-- शान्त-भक्तिरस निर्वेद के, रामरति-समन्वित होने पर उत्पन्न

होता है । कबीर के काव्य में जितनी भी उक्तियां हैं उनमें से अधिकतर में शान्तरस या शान्त भक्तिरस की अभिव्यक्ति पाई जाती है —

> जिनके नौबति बाजती, मैंगल बंधते बारि
> एकहि हरि के नाउं बिनु, गए जनम सब हारि[1]

दास्य-भक्तिरस—

इस भक्तिरस के अन्तर्गत कबीर द्वारा कहे गए विनय भाव से सम्बन्धित पद आते हैं । जिनमें वह स्वयं अपने को अत्यन्त निरीह, विनम्र और निर्मल रूप में प्रस्तुत करते हैं । इससे सम्बन्धित कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं --

(क) कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउं ।[2]
गले राम की जेवरी, जित खैंचे तित जाउं ।।

(ख) मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा ।[3]
तेरा तुझकों सौंपता, क्या लागे मेरा ।।

मधुर-भक्तिरस—

कबीर निर्गुण उपासक थे अत: मुख्य भक्तिरस के अन्तर्गत उनका आलम्बन भी सगुण-साकार न होकर निर्गुण ही है । कबीर के काव्य में रति का रूप वैसा नहीं जैसा वैष्णव मधुरा भक्तिरस में । यहां मधुर-भक्तिरस केवल कान्ताभाव में ही परिकल्पित हुआ है —

> दुलहिनी गावहु मंगलचार ।
> हमं घरि आए राजा राम भरतार ।।
> तन रत करि मैं मन रति करिहौं पांचउ तत्त बराती ।
> राम देव मोरे पाहुन आए मैं जोबन मैंमाती ।।
> सरीर सरोबर बेदी करिहौं ब्रहमा बेद उचारा ।[4]
> राम देव संगि भांवरि लेहहौं धनि धनि भाग हमारा ।।

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पारसनाथ तिवारी, साखी-४२, पृ०सं० १६१
2-3-कबीर ग्रन्थावली, साखी-१,२, पृ० सं० १६९
4. ,, ,, पद - ५, पृ० सं० ५

सूक्ष्मतम निरीक्षण करने पर यह कहा जा सकता है कि सन्तकाव्य में मुख्य रस भक्तिरस ही है। जिसका कि अंग मधुररस कहा जा सकता है। क्योंकि इष्टदेव के आलम्बन रूप में ब्रह्म को आश्रय के रूप में साधक और उद्दीपन के रूप में ईश्वर की दृष्टि रूपी नश्वर संसार में रहने वाले जीवों के कार्यकलाप सभी अध्यात्मक के अन्तर्गत आ जाते हैं। संत काव्य में आध्यात्मिक शृङ्गार की ही प्रधानता है।

काव्य रस—

कबीरदास ने अपना सम्बन्ध सिर्फ राम से ही रखा है। राम के अलावा वह किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति से अपने को सम्बन्धित नहीं करते हैं। राम के प्रेम में आत्म विभोर हो करके वह अपनी सुध-बुध खो उठते हैं। इस संसार में जो कुछ सार तत्व है वह सिर्फ श्रीराम ही हैं, अन्य सब व्यर्थ हैं। कबीर के अनुसार इस भाव के द्वारा की गई भक्ति ही भक्त का उद्धार कर सकती है।

कबीर ईश्वर भक्ति में आशा या कामना को कभी स्थान नहीं देते हैं। यह उन्होंने पद-पद पर अभिव्यक्त किया है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि मनुष्य को भगवान पर भरोसा रखते हुए न तो कभी सुख की लालसा करनी चाहिए और ना ही कभी किसी दुख से भयभीत होना चाहिए। कबीर का यह विश्वास है कि भगवान सर्वत्र व्याप्त है और अपने भक्तों का पूर्णतः ध्यान रखते हैं।

कबीर ग्रन्थावली में काव्य-रस भी स्थान-स्थान पर द्रष्टव्य है। कबीर के काव्य में शृङ्गार रस की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस शृङ्गार रस का वर्णन उन्होंने रहस्यवादमयी उक्तियों में प्रस्तुत किया है।

शृङ्गाररस—

कबीर ने शृङ्गार के दोनों पक्षों का वर्णन किया है।

संयोग पक्ष

कबीर का शृङ्गार लौकिक शृङ्गार नहीं कहा जा सकता है, इसे हम अलौकिक शृङ्गार का नाम देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। `कबीरदास ने अपने आध्यात्मिक काव्य में इस लौकिक चमत्कार को अभिव्यंजना के सहारे प्रतिष्ठित किया

है । यही कारण है कि इसे काव्य में एक ओर तो अनिर्वचनीय आत्मिक रस की अभिव्यक्ति मिलती है और दूसरी ओर उसमें लौकिक चमत्कारों के उपादानों का भी समावेश है ।[1]

बहुत दिनन में प्रीतम आए ।
भाग बड़े घरि बैठे पाए ।।
मंगलचार माहि मन राखौं । राम रसाइन रसनां चाखौं ।।
मंदिर मांहिं भया उजियारा । ले सूती अपना पिय प्यारा ।।
मैं निरास जो नौ निधि पाई । हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई ।।[2]
कहै कबीर मैं कछु न कीन्हां । सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा ।।

यहाँ कवि माधुर्य भाव-पूर्ण भावात्मक रहस्यवाद के सहारे संयोग पक्ष का वर्णन कर रहा है ।

कबीर ने यहाँ अपने को सुन्दरी स्त्री और राम को प्रियतम के रूप में प्रस्तुत करते हुए संयोग को दर्शाया है ।

वियोग पक्ष

वियोग पक्ष का वर्णन भी हम विवाह के प्रसंग के अन्तर्गत ही कर रहे हैं ।

निम्नलिखित विवाह वर्णन में साधक की आत्मा ही बधू है । वर स्वयं राम ही है, शरीर को वेदिका का रूप दिया है और ब्रह्मा जी पुरोहित हैं । इस विवाह के बराती एवं साक्षी तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी हजार ऋषिमुनि हैं । भला इस प्रकार के प्रेम और पवित्रता जैसा विवाह और कौन सा हो सकता है । इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का अध्यात्मिक सम्बन्ध स्थिर हो जाने पर भी यदि आत्मा में किसी प्रकार के विकार के फलस्वरूप मिलन न हो तो, ऐसी स्थिति में आत्मा-बधू किस प्रकार विकल हो उठती है । यह भाव निम्नलिखित पद में चित्रित

---

१. गोविन्द त्रिगुणायत, कबीर की विचारधारा, पृ० सं० ३६०
२. कबीर ग्रन्थावली, पद - ६, पृ० सं० ६

किया है—

(क) हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया ।
राम बड़े मैं तनक लहुरिया ।।
किरउँ सिंगार मिलन के ताई ।हरि न मिले जा जीवन गुसाँई ।।
धनि पिउ एकै संगि बसेरा । सेज एक पै मिलन दुहेरा ।।
धनि सुहागिन जो पिय भावै । कहै कबीर फिरि जनमि न आवै ।।[1]

(ख) यहु तन जारौं मसि करौं, लिखौ राम का नाउं ।[2]

अद्भुत रस—

कबीर के काव्य में अद्भुत रस का वर्णन उलटवासियों के माध्यम से हुआ है । इसके एक-दो उदाहरण हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं जैसे —

(क) बैल बियाइ गाइ भई बाँझ । बछरहिं दूहै तीनिउँ साँझ ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया । सोवै दादुर स पहरिया ।।
नित उठि स्यार सिंघ सौं जूझै । कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।[3]

(ख) एक अचंभा देखा रे भाई ।
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ।।
पहिले पूत पिछे भई माई । चेला के गुर लागै पाई ।।
जल की मछरी तरवरि ब्याई । कुता कौं लै गई बिलाई ।।
बैलहिं डारि गोनि घरि आई । घोरे चढ़ि भैंस चरावन जाई ।।
तलि करि पत्ता उपरि करि मूल । बहुत भाँति जड़ लागे फूल ।।
कहै कबीर या पद कौं बूझै । ताकौ तीनिउं त्रिभुवन सूझै ।।[4]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद -११, पृ० ८
२. कबीर ग्रन्थावली, पद- २१, पृ० १५५
३. कबीर ग्रन्थावली, पद- १२०, पृ० ७९
४. कबीर ग्रन्थावली, पद- ११६, पृ० ७८

करुण-रस--

कबीर की कल्पना शक्ति अत्यन्त प्रचण्ड है । अपनी अभूत पूर्व कल्पना के सहारे ही उन्होंने अनेक स्थलों पर करुणरस के अत्यन्त मार्मिक और सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं ।

(क) बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिय तरसै तुझ मिलन कौं, मन नाहीं बिसराम ।।[१]

< < <

(ख) घौं को दाधी लाकरी, ठाढ़ी करै पुकार ।
मति बसि परौं लुहार के, जारै दूजी बार ।।[२]

यहाँ कबीरदास अग्नि में जली हुयी लकड़ी के माध्यम से अपने विचारों को अभिव्यक्त कर रहे हैं -- 'लकड़ी यहाँ जलने के पश्चात् कह रही है कि कहीं मैं लुहार के हाथ में फिर न जली जाऊँ अथवा मुझे फिर जलना पड़ेगा ।' यहाँ संसार के तापों से दग्ध जीवात्मा काल रूपी अग्नि से भयभीत है । इसके द्वारा संसार के प्राणियों का करुण चित्र उपस्थित किया गया है । इस साखी में आलम्बन स्वरूप स्वयं ब्रह्म है, और आश्रय रूप में साधक स्वयं कबीरदास हैं । यहां करुणरस की सरस व्यंजना द्रष्टव्य है ।

बीभत्स रस--

कबीरदास ने निम्नांकित पद में बीभत्स रस का सुन्दर परिकार किया है । कबीर ने यहाँ सुआर, कुत्ते तथा कौवे के समान अभक्ष्य को ग्रहण करने वाले मनुष्य का उदाहरण दिया है, और शरीर के प्रति घृणा-सूचक शब्दों द्वारा जुगुप्सा का भाव व्यक्त किया है ।

चलत कत टेढ़े टेढ़े टेढ़े ।
नऊं दुवार नरक धरि मूंदे दुरगंधि ही के बेढ़े ।।
जा जारे तौ होइ भसम तन गाड़े क्रिमि कीट खाई ।
सूकर स्वान काग को भखिसन तामैं कहा भलाई ।।
फूटे नैन, हिरदै नहिं सूझै मति एको नहिं जानीं ।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद-१८, पृ० १४४ २- कबीरग्रन्थावली, साखी २, पृ० ११८

काम क्रोध तिसनां के मारे बूडि मुएहु बिनु पांनी ।।
रांम न जपहु कवन भ्रम भूले तुम हैं काल न दूरी ।
कोटि जतन करि यहु तन राखहु अंत अवस्था धूरी ।।
बालू के घरवा मांहि बैसे चेतत नांहि अयांनां ।।[1]
कहै कबीर एक राम भजे बिनु बूड़े बहुत सियाना ।।

वीररस—

कबीर ने अपने काव्य में वीररस का भी प्रयोग किया है । वीररस का प्रयोग हम साखियों में ही सर्वाधिक पाते हैं । निम्नांकित साखियां इसी उद्देश्य से प्रस्तुत की गई हैं —

(क) मेरे संसै कोइ नहीं, हरि सौं लागा हेत ।[2]
काम क्रोध सौं झूझना, चौड़े मांड्या खेत ।।

(ख) गगन दमांमां बाजिया, परत निसांनैं घाउ ।[3]
खेत बुहारा सूरिवां, अब मरिबे कौ दाउ ।।

प्रथम साखी ओज और वीरता से भरी हुई है । इसमें कबीरदास प्रभु से कहते हैं कि अब मैं तुमसे प्रेम करके पूर्णरूपेण निर्भय हो गया हूं और मुझे इस संसार रूपी रण-क्षेत्र में कामक्रोधादि से युद्ध करके उन्हें समाप्त करना है ।

द्वितीय साखी में कबीरदास ने 'गगन', 'दमामा' आदि शब्दों का प्रतीक रूप में प्रयोग किया है जो युद्ध के मैदान में वीरों हेतु बजता है और वीरतापरक कार्यों का सूचक है ।

इन साखियों में आलम्बन स्वयं ब्रह्म ही है और आश्रय के रूप में साधक 'कबीरदास' है ।

इस प्रकार हम कबीर के काव्य में भक्तिरस एवं काव्यरस इन दोनों का समावेश पाते हैं ।

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पद - ६८, पृ० ४०
२-३ कबीर ग्रन्थावली, साखी - ११-२४, पृ० १८०-१८२

पद्मावत- आध्यात्मिक भाव व्यंजना (समासोक्ति पद्धति के कारण)

जायसी ने निर्गुण भाव से भक्ति की है। रहस्यवादी कवि होने के साथ-साथ इन्होंने अपने काव्य में दार्शनिक भावों का भी समन्वय किया है। पद्मावत का आधार इन्होंने अद्वैतवाद माना है और इसमें उन्होंने आत्मा और परमात्मा के द्वैत को समझाने का प्रयास किया है। आपने सर्वत्र संसार को ब्रह्म की माया बताया है। संसार में जो कुछ भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष है सब उस परम् ब्रह्म की शक्ति का ही प्रताप है। इसको स्पष्ट करने के लिए आपने निम्नांकित छन्द की व्याख्या की है --

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अन्तरपट, पै नहिं अहा।।
सरवर देख एक मैं सोई । रहा पान पैपान न होई ।
सरग आइ धरती महं छावा। रहा धरति, पै धरति आवा।।
तिन्ह महं पुनि एक मंदिर ऊंचा। करन्ह अहा, पर करन पहुँचा।
तेहि मंडप मूरति मैं देखी । बिनु तन बिनुजिउ, जाइ बिसेखी ।।
पूरन चन्द होइ जनु तपी। पारस रूप दरस देइ छपी ।।[१]
अब जहं चतुरदसी जिउ तहां। भानु अमावस पावा कहां।।

जिस ज्योति से मनुष्य उस परमहंस ब्रह्म की छाया देखता है वह स्थिर है क्योंकि वह ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म ज्योति अपनी माया से आच्छादित होने पर भी न उससे मिली हुई कही जा सकती है और न ही अलग -- मिली हुई इसलिए नहीं कि नामरूपात्मक दृश्यों का उसके स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, अलग इसलिए नहीं कि उसके साथ ही उसकी अभिव्यक्ति छायारूप में रहती है।

जायसी ने पद्मावत में माधुर्य भक्ति भाव से परिपूर्ण भक्ति को दर्शाया है। इस माधुर्य भाव से उन्होंने लौकिकता के सहारे अलौकिकता को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। जायसी ने प्रेम की एकनिष्ठ भावना को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है, इसी प्रेम साधना के सहारे कवि परमात्मा में लीन हो जाता है। मुसलमान होते हुए भी जायसी द्वारा किया गया ब्रह्मनिरूपण कहीं-कहीं बिलकुल उपनिषद् शैली में किया

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० २५७-५८

हुआ प्रतीत होता है। जायसी ने उपनिषदों से प्रभावित होकर ब्रह्म को निर्गुण-वाचक विशेषणों से भी सम्बोधित किया है। परमात्मा को उन्होंने सर्वत्र व्याप्त माना है — 'अलख अरूप अवरन सो कर्ता। वह सबसों अब होहि सों वर्ता।।'[1] वह परमात्मा अलख और अरूप है। वह सबसे परे होते हुए भी सर्वात्मा स्वरूप है।

सूफियों का आराध्य प्रियतम होने के कारण सगुण होते हुए भी निर्गुण रूप रहा है। उन्होंने अधिकतः उसे प्रिय, गोसाईं, प्रियतम के अभिधान से अभिहित किया है। जायसी ने सांसारिक के युगल रूप में संयोग के माध्यम से परमात्मा और आत्मा के मधुर मिलन को दर्शाते हुए प्रेम के अलौकिक आदर्श का प्रतिपादन किया है। जायसी ने अपनी उपासना माधुर्य भाव से की है तथा अपने काव्य को मधुर रूप में उपस्थित किया है। इस माधुर्य भाव को प्राप्त करने के लिए जो इस पथ पर चले वही सच्चा साधक है। मधुर साधना का केन्द्र प्रेम है। प्रेम से बड़ी इस संसार में कोई साधना नहीं है क्योंकि प्रेम के ही माध्यम से मनुष्य और ईश्वर एक सूत्र में बंध पाते हैं। जायसी ने 'प्रेम' को मुख्य मानते हुए कथा प्रतीक के माध्यम से सूफी साधना के गूढ़ रहस्य को प्रकट किया है। तात्पर्य यह कि जायसी के प्रेम-निरूपण में वे सारी विशेषताएँ लक्षित हैं जो मधुरभाव के साधकों में पाई जाती हैं। जायसी के द्वारा प्रतिपादित यह प्रेम प्रत्यक्ष रूप में तो सामान्य प्रेमी प्रेमिका का प्रेम प्रतीत होता है, परन्तु परोक्ष में यह प्रेम कथा मात्र एक दिखावा है जिसके अन्तर में प्रभु के संयोग की अपार राशि छिपी हुयी है जिसको पाने के लिए साधक एक सामान्य प्रेमी की तरह विकल हो उठता है। पद्मावत में रत्नसेन को भी इसी रूप में दर्शाया गया है। रत्नसेन भी उस माधुर्य को प्राप्त करने के लिए संसार के समस्त बन्धनों को तोड़कर योगी बन जाता है और सांसारिक बाधाओं की चिन्ता न करते हुए प्रेम पथ पर अग्रसर हो जाता है। 'प्रेम चाहे जैसे भी उत्पन्न हुआ हो उसमें कुछ कष्ट तो होता ही है और जितनी ही आत्मा उसमें रमने का प्रयत्न करती है, उतना ही उसमें कष्ट होता है। चूंकि ब्रह्म के प्रति हम शृंगारिक मनभावों का प्रदर्शन करते हैं, अतः उसका मूल कारण ब्रह्म के सन्निकट पहुंचने का प्रयत्न ही कहा जा सकता है। प्रेमा मिलाप की प्रेरणा

---

1. [illegible] जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३

से ही प्रत्येक स्थान पर उसका अनुभव करने का प्रयत्न करता है। चूंकि वह बाह्य दर्शन न देने के कारण हृदय को प्रभावित करता है, परन्तु उसकी यह आत्मीयता हृदय में एक विशेष अनुराग और व्यथा उत्पन्न कर देती है।[1] रत्नसेन का इस प्रकार प्रेम-विह्वल दशा को प्राप्त करना भगवत्प्रेम का ही रूप उपस्थित करता है।

काव्य-रस

पद्मावत जायसी का महाकाव्य है। महाकाव्य होने के उद्देश से इसमें समस्त काव्य-रसों का होना भी आवश्यक है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पद्मावत में सभी रसों का परिपाक हुआ भी है, परन्तु शृङ्गार प्रधान प्रेम काव्य होने के कारण इसमें शृङ्गाररस प्रमुख रूप से अभिव्याप्त है। अन्य रसों का कवि ने प्रयोग किया है पर उतने मनोयोग के साथ नहीं जितना शृङ्गाररस का।

शृङ्गार रस -

शृङ्गार के दोनों पक्षों का वर्णन कवि ने अत्यन्त सफलता के साथ किया है। नागमती के वियोग को अभिव्यक्त करने के लिए तो कवि ने पूरे बारह मासे का वर्णन किया है जो अत्यन्त मार्मिक तथा सजीव है।

संयोग शृङ्गार -

पदमावत में संयोग के चार स्थल द्रष्टव्य हैं —

(१) बसन्त खण्ड

(२) विवाह खण्ड

(३) पदमावती रत्नसेन भेंट खण्ड

(४) षट ऋतु वर्णन खंड

बसन्त खण्ड में पदमावती के अपूर्व सौन्दर्य को देखते ही रत्नसेन मूर्छित हो जाता है अत: वहाँ संयोग का वातावरण ही उपस्थित नहीं हो पाता। इसी प्रकार विवाह खण्ड में मिलन की स्मृति मात्र से ही पदमावती के अंग-अंग हुलसने लगते हैं --

---

१. निजामुद्दीन अंसारी, सूफी कवि जायसी का प्रेम निरूपण, पृ० १२६

अंग अंग सब हुलसे, कोइ कतहूं न समाइ ।
अवहिं ठाँव विमोही, गइ मुरछा तनु आइ ।।[१]

इस स्थल में भी सर्वांगीण रूप से संयोग पक्ष अभिव्यक्त नहीं हो पाया है क्योंकि नायक रत्नसेन के न होने से नायिका पक्ष में संचारियों का समावेश नहीं हो पाया है ।

संयोग पक्ष का पूर्ण परिपाक पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड में हुआ है । संयोग शृङ्गार से सम्बन्धित अनेकानेक उदाहरण इसमें देखने को मिलते हैं ।

षटऋतु वर्णन में वही ऋतुएँ जो नागमती को पति वियोग में विरहदग्ध कर उठती हैं वही संयोग शृङ्गार में उद्दीपन का कार्य करती हैं । पूरे पद्मावत में नागमती और रत्नसेन का संयोग शृङ्गार का केवल एक स्थल आया है और वह है रत्नसेन का सिंहलद्वीप से लौटकर नागमती के पास आने के प्रसंग में ।

वियोग शृङ्गार--

पदमावत में शृङ्गार के स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है । जायसी ने जिस रति भाव की व्यंजना की है वह सर्वथा दिव्य है । इस रति का आलम्बन नायक और नायिका हैं । जायसी का रति भाव लौकिकता और अलौकिकता को समेटे हुए है । लौकिक रूप में उसका आलम्बन नायक और नायिका है तथा अलौकिक रूप में परम ब्रह्म ।

नागमती के विरह वर्णन में कवि ने अत्यन्त मार्मिकता के साथ अपने हृदय की पीर को अभिव्यक्त किया है । इस विरह को प्रज्ज्वलित करने के लिए कवि ने पूरे बारहमासे का चित्रण कर डाला है ।

नागमती अत्यन्त विरहाकुल होकर उन्माद की अवस्था में कहती है -- 'पिउ सों कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !' नागमती को रत्नसेन से वियुक्त करने का सारा दोष हीरामन तोते पर जाता है । नागमती का विरह निम्नलिखित दोहों

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० सं० १२२

में मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुआ है --

(क) सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह
झुरि झुरि पींजर हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह ।।[1]

x x x

(ख) कवँल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाइ ।
कबहुँ बेलि फिरि पलुहै जौ पिउ सींचै आइ ।।[2]

करुण-रस

शृङ्गार के उपरान्त जायसी का सर्वाधिक प्रिय रस करुण-रस ही जान पड़ा है । सर्वप्रथम इस रस का परिपाक वहाँ हुआ है जब रत्नसेन जोगी होकर निकलता है --

रोवत माय, न बहुरत बारा । रतन चला घर भा अँधियारा ।
बार मोर जो राजहि रता । सो लै चला, सुआ परवता ।।
... ...
बरी एक मुठि मरउ अँदोरा । पुनि पाछे बीता होइ रोरा ।।
टूटे मन नौ मोती, फूटे मन दस काँच ।
लीन्ह समेटि सब अभरन, होइगा दुख कर नाच ।।[3]

दूसरा प्रसंग वहाँ उपस्थित होता है जब पदमावती सिंहलद्वीप से विदा लेती है, और तीसरा प्रसंग रत्नसेन की मृत्यु के अवसर पर उपस्थित हुआ है ।

शान्त-रस--

पदमावत का अन्त शान्त रस में हुआ है --

(क) तौ लहि सांस पेट महँ अही । जौ लहि दसा जीउ कै रही ।
काल आउ देखराई साटी । उठि जिउ चला छोड़ि कै माटी ।।
... ...

---

1. जायसी ग्रन्थावली, दोहा १, पृ० १५१
2. जायसी ग्रन्थावली, दोहा १५, पृ० १५६
3. जायसी ग्रन्थावली, छन्द ८, पृ० ५६

जब हुत जीउ, रतन सब कहा । भा बिनु जीउ, न कौड़ी लहा ।।
गढ़ सौंपा बादल कहँ गए टिकठि बसि देव ।[1]
छोड़ी राम अयोध्या, जो भावै सो लेव ।।

(ख) रातीं पिउ के नेह गई, सरग भएउ रतनार ।
जो रे उ आ, सो अथवा, रहा न कोइ संसार ।।[2]

इस छन्द और दोहे में शान्तरस का उद्भाव हुआ है ।

वात्सल्य-रस —

जायसी ने पदमावत में वात्सल्य-रस का भी वर्णन किया । ये रस कुछ ही स्थलों पर द्रष्टव्य हैं । जैसे रत्नसेन के योगी होकर निकलने पर उनकी माँ का हृदय पुत्र-प्रेम से आलोड़ित हो उठता है । इसी प्रकार बादल की माँ का बादल को युद्ध में जाने से रोकने के लिए -

(क) कैसे धूप सहब बिनु छाहाँ । कैसे नींद परिहि भुइ माहाँ ?
कैसे ओढ़ब काथरि कंथा । कैसे पांव परिहि भुइ माहाँ ? ।।[3]
कैसे सहब खिनहि खिन भूखा । कैसे खाब कुरकुटा रूखा ।।

(ख) बादल केरि जसोवै मावा । आइ गहेसि बदल कर पावा ।।
... ...
बरिसहिं सेल बान घनघोरा । धीरज धीर न बाँधहि नीसाना ।।
जहाँ दलपती दलि मरहिं, तहाँ तोर का काज ।[4]
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज ।।

वीर-रस —

जायसी ने इस रस का भी प्रयोग किया है । इस रस का प्रयोग अलाउदीन

---

1. जायसी ग्रन्थावली, छन्द १, पृ० सं० २६८
2. जायसी ग्रन्थावली, दोहा ३, पृ० सं० ३००
3. जायसी ग्रन्थावली, छन्द ४, पृ० सं० ५४
4. जायसी ग्रन्थावली, छन्द १, पृ० सं० २८२

के साथ युद्ध-वर्णन में तथा गोरा बादल की वीरता के प्रसंग में द्रष्टव्य है । इस रस के प्रयोग का आधार पद्मावत की कथा का ऐतिहासिक आधार भी हो सकता है ।

गोरा बादल युद्ध खण्ड में गोरा कहता है --

(क) हौं कहिए धौलागिरि गोरा । टरौं न टारे, अंग न मोरा ।।
सोहिल जैस गगन उपराहीं । मेघ घटा मोहि देखि बिलाहीं[1] ।
सहसौं सीस सेस सम लेखौं । सहसौं नैन इन्द्र सम देखौं ।।

(ख) धरती सरग एक भा, जूहहिं ऊपर जूह ।
कोई टरै न टारे, दुनौं बज्र समूह ।।
हस्ती सहुं हस्ती हठि गाजहिं । जनु परबत परबत सौं बाजहिं ।।[2]
गरु गयंद न टारे टरहीं । टूटहिं दांत, माथ गिरि परहीं ।।

इन स्थलों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पदमावत में वीररस को भी पर्याप्त सफलता मिली है ।

बीभत्स रस

इस रस का वर्णन गोरा-बादल तथा अलाउदीन की सेना में युद्ध के समय तो हुआ ही है । साथ ही साथ नागमती के वियोग वर्णन में भी द्रष्टव्य है -

बबर भइउँ, माँसु तनु सूखा । लागेउ बिरह काल होइ भूखा ।।
माँसु खाइ सब हाडन्ह लागे । अबहुँ आउ, आवत सुनि भागे ।।

भयानक और अद्भुत रस

इन रसों का भी जायसी ने प्रयोग किया है । अलग-अलग तो इनका प्रयोग हुआ ही एक साथ इनका प्रयोग निम्नांकित छन्द में देखा जा सकता है --

भा किलकिल अस उठै हिलोरा । जनु अकास टूटै चहुँ ओरा ।।
उठै लहरि परबत के नाई । फिरि आवै जोजन सौं ताई ।।
धरती लेइ सरग लहिं बाढ़ा । सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा ।।
नीर होइ तट ऊपर सोई । माथे रंभ समुद जस होई ।।

---

1. जायसी ग्रन्थावली, छन्द ६, पृ० २५६
2. जायसी ग्रन्थावली, छन्द २, पृ० २३०

इस तरह हम देखते हैं कि जायसी में सभी रसों का प्रयोग किया है, सिर्फ हास्य रस को छोड़कर । पदमावत गम्भीर अध्यात्मिक भावों से भरा हुआ होने के कारण हास्य रस के सहयोग से वंचित रह गया है । हास्य रस का कोई उल्लेखनीय स्थल द्रष्टव्य नहीं है ।

हिन्दी भक्तिकाव्य में सर्वप्रथम निर्गुण भक्तिकाव्य का उल्लेख किया है तत्पश्चात् सगुण भक्ति-काव्य का । निर्गुण भक्तिधारा के कवियों ने भी परमसत्ता को प्रिय के रूप में स्वीकार किया है और प्रेम के आधार पर उससे अद्वैतता स्थापित की है । निर्गुण कवियों ने सर्वप्रथम कबीरदास का नाम आता है । कबीर के काव्य में भी हम मधुर भाव की अभिव्यक्ति पाते हैं --

हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया[1]

यहाँ कबीरदास ने अपने को राम की बहुरिया और राम को अपना प्रिय मानकर मधुर भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति की है । सगुण कवियों की भाँति यह प्रेम का वृहद वर्णन नहीं कर सके हैं क्योंकि वह इसका प्रत्यक्ष लोकव्यापी विस्तार करने में असमर्थ रहे हैं । मधुर भाव के अतिरिक्त कबीर ने भगवान् के प्रति पुत्रभाव और दास्यभाव से भी भक्ति की है । दास्य भाव में उन्होंने प्रभु के सामने अपने को अत्यन्त दीन,हीन और विनम्र रूप में प्रस्तुत किया है यहाँ तक कि उन्होंने अपने को राम का कुत्ते के रूप में भी प्रस्तुत किया है —

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं[2]

पुत्रभाव में कबीर अत्यन्त भाव-विह्वलता के साथ अपने भावों को प्रस्तुत करते हैं । कबीर का `रस` शब्द भौतिक सुख, आकर्षण,मधुर आदि पथ पर अग्रसर होकर हरि, हरिनाम, प्रेम- के विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । कबीर ने अपने रस को अभिव्यक्त करने के लिए `रस`, `महारस`, `रसाइण` जैसे शब्दों की अभिव्यक्ति की है ।

जायसी ने भी अपने काव्य में मधुर भाव से प्रेम की साधना की है । ईश्वर और मनुष्य को एक सूत्र में बांधने वाला तत्व प्रेम ही है । जो इस प्रेम की ज्वाला में

---

१. पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पद १, पृ० ८

२. पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, साखी १, पृ० १६१

जलकर निष्कलुष हो गये वे ही सच्चे साधक हैं । जायसी के अनुसार उन्हीं का जीवन सार्थक है जिन्होंने इस प्रेम को प्राप्त कर लिया । यह प्रेमाश्रयी साधक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत 'सूफी सन्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनकी प्रेम-कथाओं का बीज भाव प्रेम ही है ।

-0-

निष्कर्ष —

भक्ति एक सामान्य भाव न होकर उदात्त एवं उच्च भाव है क्योंकि भक्त की तन्मयता की स्थिति ही भक्ति है । इसी आनन्दातिरेक से वशीभूत होकर भक्तगण मोक्ष की भी कामना नहीं करते हैं । मध्यकाल से पूर्व भक्तिरस लोकानुभूति का आनन्द न होने के कारण विलक्षण समझा जाता रहा । इस कारण तत्कालीन आचार्यों ने भक्तिरस को प्रतिपादित करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, परन्तु धीरे-धीरे भक्ति के प्रचार और प्रसार के कारण सामान्य जनता भी इस रस का आस्वादन करने लगी । इसी युग में भक्तिकालीन आचार्यों ने भक्तिरस को सर्व रसों से श्रेष्ठ घोषित किया परन्तु कुछ ऐसे भी आचार्य हुए जिन्होंने भक्तिरस को शान्त अथवा शृंगार रस में अन्तर्भाव करने की चेष्टा की । उन्होंने इस ओर ध्यान देने की चेष्टा ही नहीं की कि शृंगार-रस और भक्ति रस में कितना अन्तर है । दोनों के आलम्बन और स्थायी भाव में महान अन्तर है । भक्ति रस का आलम्बन स्वयं रस रूप भगवान हैं, जबकि शृंगार-रस का आलम्बन लौकिक-नायक होता है । इसी प्रकार शान्त रस का स्थायी भाव भगवान निर्वेद है जबकि भक्तिरस का स्थायी भाव भगवद् विषयक रति है, परन्तु शृंगार के रसराजत्व की घोषणा कुछ ही कवियों ने की है अन्य सब कवि भक्तिरस की मूर्द्धन्यता के ही पक्ष में हैं ।

रस के क्षेत्र में भक्तिकालीन कवियों की विशिष्ट उपलब्धि भक्तिरस का महत्त्व निरूपण ही माना गया है । भक्तिरस की व्यवहारिक परिणति भी अधिकांश भक्ति कवियों में मिल जाती है परन्तु मधुर-भक्तिरस का सुसम्बद्ध शास्त्रीय विवेचन किसी भी कृष्ण भक्त कवि ने नहीं किया है लेकिन इतना कहा जा सकता है कि इस रस की काव्यशास्त्रीय परम्परा से वे भलीभांति परिचित थे ।

भक्तिरस के पर्याय-शब्दावली के सन्दर्भ में निर्गुण और सगुण दोनों

धाराओं के कवियों की मान्यता एक-सी है। हरिरस, रामरस, प्रेमरस, महारस आदि शब्दों का प्रयोग निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के कवियों द्वारा एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रस का अर्थ इन्होंने मात्र आनन्द से लिया है और इस आनन्द रस की मानसिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ही इन्होंने इसे उज्ज्वल रस, प्रेमरस एवं भक्तिरस आदि नामों से उल्लेखित किया है। यदि इस आनन्द का स्रोत लीला है तो वहां लीला रस होगा और यदि वार्ता है तो वार्ता रस होगा। इसी प्रकार प्रेम-रस प्रेम-क्रीड़ा में आसक्त भक्त मन का उस स्थिति-विशेष में विह्वल हो उठता है। इस प्रकार इन कवियों के काव्य की मूल प्रवृत्ति अधिकाधिक आनन्दपरक है।

वैष्णव आचार्यों के काव्य में जिन रसों का उल्लेख मुख्य रूप से मिलता है वे हैं - शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। राम काव्य की रसपरिकल्पना का आदर्श तुलसीदास हैं। तुलसीदास के समकक्ष कोई भी ठहर नहीं सका है अ ऐसा प्रतीत होता है कि राम के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखना था वह सब कुछ तुलसीदास ने ही लिख दिया, अन्य कवियों के कहने के लिए कुछ शेष ही नहीं रहा। तुलसी अपने काव्य में इस तत्व की ओर जागरूक दिखायी दिये हैं कि उनकी रस-परिकल्पना में काव्य-रस कहीं भक्तिरस से अधिक प्रबल न हो उठे। तुलसी ने 'मानस' में भक्ति रसों का परिपाक प्रमुख रूप से किया है, यहां काव्य रस सर्वश: भक्तिरस के अंगरूप में ही प्रकट हुये हैं। विनयपत्रिका विशुद्ध भक्तिरस का काव्य ही कवितावली में तुलसीदास ने भक्तिरसों के अनुरंजन के साथ ही काव्य-रसों को भी उभारा है। गीतावली में तुलसीदास ने कृष्णभक्ति की आदर्श-परम्परा को अपनाते हुए समन्वयात्मक रसपरिकल्पना प्रस्तुत की है।

कृष्ण-भक्तिधारा के कवियों में मुख्य रूप से सूरदास ने वात्सल्य रस को प्रधानता दी है। परन्तु यह वात्सल्य रस भक्तिरस की अपेक्षा काव्य-रस के रूप में ही प्रकट हुआ है।

तुलसीदास का काव्य मुख्यत: दास्यपरक है। इनके काव्य में मुख्यत: दो ही मुख्य भक्तिरस रूप हैं -- (१) दास्य और (२) शान्त। सूर के काव्य में दास्य रस, मुख्य मधुर भाव-में सेवा-परिचर्या की भावना में अभिव्यक्त हुआ है।

कृष्ण भक्तकवियों ने लीला वर्णन के अन्तर्गत जिन संयोग और वियोग की विभिन्न दशाओं का वर्णन किया है वे शृङ्गार रस की भाव सामग्री से दूर होते हुए भी उससे भिन्न नहीं हैं । रागात्मकता और अनुभूति की तीव्रता की दृष्टि से भी दोनों का स्वरूप एक जैसा है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दास्य और शान्त भक्तिरस रामभक्ति काव्य के प्रमुख रस रहे हैं, मधुर और वात्सल्य कृष्ण भक्तिकाव्य के दोनों कवि रूढ़ भावना से ग्रस्त नहीं थे । सूर ने रामचरित का गान भी किया और तुलसी ने कृष्ण गीतावली लिखी । सूर ने दास्य रस को वर्णित किया और तुलसी ने वात्सल्य और मधुरता को प्रतिपादित किया ।

-o-

षष्ठम् अध्याय

काव्यभाषा

काव्यार्थ का स्वरूप और सम्प्रेषित करने के माध्यम

साहित्यिक चिन्तन को काव्य भाषा ने एक नयी दिशा प्रदान की है, वैसे तो व्याकरण, शैली विज्ञान, अलंकारशास्त्र में भी भाषा का अध्ययन हुआ है परन्तु वह दृष्टिकोण अलग ही है। भाषा का यदि कहीं पूरा-पूरा प्रयोग होते देखा गया है तो वह काव्य ही है। काव्य, भाषा के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग (अवयव, वर्ण, शब्द, मुहावरा, वाक्य और यहाँ तक की चिन्ह) का भी उपयोग करता है। इस तरह काव्य भाषा अपने में सम्पूर्ण है। काव्य भाषा में सामान्यत: हम कविता की भाषा और सर्जनात्मक गद्य की भाषा दोनों को ही समाहित करते हैं। साधारण बोलचाल की भाषा ही विभिन्न रचनाकारों की सृजन-प्रक्रिया के अनुरूप अपने स्वरूप को परिवर्तित करके साहित्यिक भाषा का पद ग्रहण कर लेती है।

काव्य का माध्यम भाषा है और भाषा मनुष्य के विविध विचारों की अभिव्यंजक है। यह समाज के द्वारा ही मनुष्य को प्राप्त होती है और इस सामाजिक उपलब्धि को कवि अपने प्रयोजन के अनुरूप नया रूप प्रदान करता है। जब तक कवि अपने भावों को नया रूप नहीं दे देता तब तक उसका काव्य, काव्य कोटि में नहीं आता बल्कि काव्य का उपादान मात्र ही रह जाता है। जब तक कवि के भाव भाषा रूपी परिधान पहन कर काव्य कोटि में नहीं आ जाते तब तक उसे आन्तरिक सन्तुष्टि भी नहीं प्राप्त होती है।

काव्य भाषा विज्ञान और दर्शन की भाषा से भिन्न रहती है। वैज्ञानिकों का प्रमुख कार्य तर्क तथा प्रयोग के द्वारा सत्य को सिद्ध करना होता है। किसी प्रकार की मनोदशा का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता है किन्तु कवि का कार्य ठीक इसके विपरीत होता है उसका कार्य किसी मनोदशा अथवा भाव की इस तरह से अभिव्यंजना करना होता है कि पाठक में भी वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाए। कवि की कुशलता उसकी क्षमता इसी में होती है कि वह अपने भावों को ज्यों का त्यों अपने पाठक के हृदय पर छोड़ सके। काव्य की सफलता के लिए कवि तथा पाठक का तादात्म्य जरूरी होता है और ये सिद्ध कवि को तभी प्राप्त हो सकती

है जब वह ऐसे शब्दों का चयन करे जो उसके हृदयगत भावों को पूर्णरूपेण प्रकाशित करने में समर्थ हों। कवि की शब्द योजना इतनी सशक्त होनी चाहिए जो पाठक के विचारों को उसी दिशा में प्रवाहित कर दे। काव्यभाषा माध्यम नहीं है पूरा का पूरा व्यक्तित्व है और एक व्यक्तित्व उद्भूत करती है - शब्द शक्ति के संघर्ष में। शब्दों की शक्ति संघ में ही निहित रहती है, ये कभी अकेले नहीं आते हैं, एकजुट में रह कर ही ये दूसरे शब्दों के संयोग से ही सार्थक होते हैं। अकेला शब्द अर्थ को प्रकट नहीं कर सकता है, किसी अर्थ की प्रतीति के लिए कई शब्दों के संयोग से बने हुए वाक्य की आवश्यकता होती है जोकि शब्दों के समूह से ही परिपूर्ण होती है इसीलिए शब्द योजना के महत्त्व को पूर्व और पश्चिम के सभी समीक्षकों ने स्वीकार किया है। होरेस तथा अरस्तू ने कहा है कि साधारण शब्द भी योजना-कौशल से असाधारण लगते हैं और उनका सुनियोजन ही कवि-व्यापार की आधारशिला है। तत्पश्चात् जो रचना तैयार होती है उस रचना और जीवन को जोड़ने का कार्य भाषा ही सम्पन्न करती है। इन्हीं कारणों से समकालीन रचना और आलोचना में भाषा की सजगता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई है। भाषा की सबसे बड़ी विशेषता विचार और अनुभूति की संश्लिष्टता है।

समाज में जब भाषा के माध्यम से शब्दों का अर्थ प्रकट हो जाता है तो कुछ समय पश्चात् उन शब्दों की अर्थ शक्ति क्षीण हो जाती है और उनके अर्थ रूढ़ हो जाते हैं कवि इन रूढ़ अर्थों का फिर से नवीनीकरण करके उसे सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। होरेस ने भाषा और शब्द के पारस्परिक सम्बन्ध को इस प्रकार व्यक्त किया है -- "इतना ध्यान रखने योग्य है कि भाषा वृक्ष के शब्द रूपी पत्र एक ही समय सारे के सारे नहीं झड़ जाते काव्यभाषा में नये शब्द धीरे-धीरे आते हैं और पुराने झड़ते जाते हैं।"[१]

शब्द योजना का सम्बन्ध अनुभव के तत्त्वों से भी माना गया है। ये शब्द योजना ही अनुभव के तत्त्वों का प्रतीक है। रचनाकार के प्रयोग के माध्यम से शब्द

१- होरेस, आन दि आर्ट आफ पोयट्री, टी० एस० डोर्से (अनु०) क्लासिकल लिटररी क्रिटिसिज्म (पेंग्विन बुक्स, १९६५), पृ० ८।

मानवीय यथार्थ के गहरे से गहरे स्तर का भी स्पर्श कर लेते हैं । इन शब्दों की सफलता तभी समझी जा सकती है कि उसके द्वारा सम्प्रेषित यथार्थ रचनाकार और पाठक के अनुभव का कहां तक संग देता है । इसलिए किसी भी अनुभव को सम्प्रेषित करने का अर्थ उसके तत्व और उस तत्व के अर्थ दोनों को सम्प्रेषित करना है । इस तरह शब्द योजना और प्रतीक इन दोनों का सम्बन्ध काव्य को जन्म देने वाले अनुभव से होता है । "यह सही है कि अनुभव मात्र भाषा में रूपांतरित नहीं होता, शायद हो नहीं सकता और उसकी अपेक्षा भी नहीं है । अनुभव पाने के दो साधन हैं -- कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय । कर्मेन्द्रिय से प्राप्त अनुभव अनुभव का प्राथमिक स्तर है, और यहां मानव तथा पशु समान हैं, कहना चाहिए कि इस स्तर तक मानव पशु ही है । अनुभव का यह रूप भाषा में नहीं ढलता, अनुभव ही बना रहता है । उत्तम भोजन और सेक्स का अनुभव भाषा से परे है । इसी तरह योग का अनुभव है, जहाँ चित्त-वृत्तियों का निरोध कर लिया जाता है । साधक अपने को शरीर में स्थगित रखता है, मन में एक तरह का निर्वात उत्पन्न करके । इसीलिए साधना का अनुभव भी भाषा को नहीं जानता । अनुभव के ये सारे रूप शरीर के स्तर पर हैं, और शरीर की भाषा तो, कवि के शब्दों में, रक्त है । इस शरीर की भाषा का समानांतर अनुभव होना भाषा बनता है ।"[१]

<u>सादृश्य विधान</u>-- जब रचनाकार अपने किसी विशेष अभिप्राय को शब्दों तथा अर्थों के माध्यम से सम्प्रेषित करना चाहता है, तब वह निरन्तर इस तथ्य पर विचार करता है कि वह उन शब्द एवं अर्थ को इस रूप में अभिव्यक्त कर सके जिससे उसके विचार पाठक उसी रूप में अनुभूत कर सके जिस रूप में वह सम्प्रेषित करना चाह रहा है । सम्प्रेषण की इस प्रक्रिया को उचित रूप देने के लिए सादृश्य विधान का प्रयोग किया जाता है । सादृश्य विधान के सन्दर्भ में भरत ने केवल उपमा एवं रूपक की ओर निर्देश किया था किन्तु समय के साथ-साथ इसके अन्तर्गत अनेक अलंकारों की सूची तैयार हो गई । सादृश्य विधान की प्रक्रिया का विकास आगे चल कर निम्न रूपों में हुआ --

(१) उपमा विधान

१- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सर्जन और भाषिक संरचना, पृ० २३

(२) कल्पना विधान

(३) रूपक विधान

(४) प्रतीक विधान

उपमा विधान —

उपमा विधान सादृश्य विधान का एक सरलतम रूप है । इसे सादृश्य मूलक अलंकारों की मेरुदंड कहा गया है । साहित्यदर्पणाकार के अनुसार --

यथावसर प्राप्तेस्वर्थालंकारेषु प्रधान्यात्सादृश्यमूलेषु ।
लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्रथममुपमामाह ॥[1]

उपमा से तुलसीदास का तात्पर्य सादृश्य विधान से ही है । तुलसीदास ने उपमा या साधर्म्य वर्ग के अन्तर्गत आने वाले अनेक महत्वपूर्ण अलंकारों को अपनाकर अपने काव्य की अर्थ रचना को उत्कर्ष प्रदान करने की चेष्टा की है । मानस में उपमा-निरूपण-नैपुण्य के अनेक प्रसंग विचारणीय हैं तथा एक बात और ध्यान देने योग्य है कि तुलसीदास ने मानस में एक ही उपमा की आवृत्ति अनेक स्थलों पर की है, अर्थात एक ही उपमा को अनेक बार दुहराया गया है । काव्यशास्त्र के अन्तर्गत इसे आवृत्ति दोष की संज्ञा दी गई है । परन्तु तुलसीदास ने अपनी उपमाओं के प्रयोग में सादृश्य एवं साधर्म्य-निर्वाह के लिए ज्ञान के समस्त स्रोतों का उपयोग किया है । रामचरित मानस में उपमा विधान का प्रयोग अत्यन्त स्पष्ट रूप में हुआ है और अपने निरन्तर प्रयोग के बावजूद भी यह अर्थ एवं भाव की वृद्धि में सहायक ही सिद्ध हुई है । उपमा के सम्बन्ध में तुलसी के लिए कहा जाता है कि "उनके काव्य का कोई छन्द भले ही बिना उपमा के मिल जाए, परन्तु उनका कोई पृष्ठ कठिनाई से ऐसा मिलेगा, जिसमें सुन्दर उपमा का प्रयोग न हुआ हो ।"[2] उपमाओं के सम्बन्ध में तुलसी के लिए यहां तक कहा गया है कि अपनी सर्वोत्तम उपमाओं में तुलसीदास कालीदास से बढ़ कर हैं ।" तुलसी की सारी रचनाएं एक से एक अनूठी उपमाओं से ठसाठस भरी हैं । कहीं-कहीं उपमाएं रहट की

१- विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ० २६२

२- नरेन्द्र कुमार शुक्ल, तुलसी की अलंकार योजना, पृ० ८०

कड़ियों की तरह एक-पर-एक लगातार आती गई हैं । इस प्रकार का आनन्द अयोध्याकाण्ड में खूब मिलता है ।[1] रूपक विधान का प्रयोग जहां कवि ने एक विशिष्ट प्रसंग की भावात्मक सम्पन्नता को सम्पन्न करने में किया है वहीं उपमा विधान का प्रयोग उसी प्रसंग के अर्थ को स्पष्ट करने एवं उसके भावों की तीव्रता के नियोजन में किया है ।

रामचरित मानस में उपमा विधान की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट एवं सहज है । इसके प्रयोग के माध्यम से कवि ने काव्य के अर्थ एवं प्रक्रिया को प्रभावपूर्ण बनाने का निरन्तर प्रयास किया है । रामचरित मानस की अलंकार पद्धति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने अपनी उपमाओं के सादृश्य एवं साधर्म्य - निर्वाह के लिए ज्ञान के समस्त स्रोतों का उपयोग किया है, फलस्वरूप मानस में अनेक ऐसी उपमाएं हैं जो वस्तु एवं चमत्कारिक वर्णन के कारण मन को अनायास अपनी ओर आकृष्ट करती हैं ।

मानस में पूर्ण और लुप्त दोनों प्रकार की उपमाओं का प्रयोग प्राप्त हुआ है । यह उपमाएं अत्यन्त हृदयस्पर्शी मार्मिक एवं सुन्दर हैं मात्र कोरे प्रदर्शन हेतु नहीं —

नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन ।
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन ।।[2]

इस दोहे में कवि ने एक साथ दो उपमाओं का वर्णन किया है । भगवान नारायण के शरीर की उपमा नील कमल से और उनके नेत्रों की उपमा लाल कमल से दी है । उपमा की संज्ञा तुलसीदास ने अनेक अलंकारों को दी है मात्र उपमालंकार तक ही सीमित होकर नहीं रह गए हैं, वरन् सादृश्य विधान के अन्तर्गत आने वाले अलंकारों को उपमा नाम दिया है । जैसे —

१- उपमा बहुरि कहौं जिय जोही । जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही ।
२- सिय बरनिय तेइ उपमा देई । कुकवि कहाइ अजसु को लेई ।
३- सब उपमा कवि रहे जुठारी । केहिं पटतरौं बिदेह कुमारी ।

सादृश्य विधान के अन्तर्गत अनन्वय अलंकार की विलक्षणता को भी दर्शाया गया है ।

१- पं० रामनरेश त्रिपाठी, तुलसी और उनका काव्य, पृ० २७३
२- रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ३

एक वस्तु को उपमेय और उपमान दोनों बना देना अनन्वय अलंकार कहलाता है । कवि अपने वर्ण्य को स्पष्ट करने के लिए उपमानों को खोजता है किन्तु अपने इस कार्य में जब वह सफल नहीं हो पाता तब वह उपमेय को ही उपमान बना डालता है । उपमा विधान के अन्तर्गत उपमेय तथा उपमान के बीच प्रकट होने वाली भिन्नता न अर्थ को जटिल बनाती है और न ही भाव-प्रतीति में ही बाधा पहुंचाती है ।

मानस में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जहाँ कवि ने भ्रान्तिमान अलंकार के द्वारा काव्य को गतिमयता प्रदान की है, फलस्वरूप काव्य में स्थिरता तथा जड़ता के अवगुणों से मुक्त है । हनुमान द्वारा संजीवनी बूटी के पर्वत को ले जाते हुए देखकर, भरत का उसे राक्षस समझने में, इस अलंकार की विनियुक्ति की गई है ।

अशोक वाटिका में अशोक वृक्ष के ऊपर से हनुमान द्वारा मुद्रिका गिराने पर उसे अंगार समझने में कवि ने नाट्याकृति जैसा चमत्कार भ्रम से संयुक्त कर उत्प्रेक्षा विधान द्वारा सहजता से प्रस्तुत किया है ।

नाच गाने के अखाड़े में बैठे हुए रावण को देखकर राम को भ्रम होता है --
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा । होइ वृष्टि जनु उपल कठोरा ।।
और इस भ्रम का निराकरण कवि ने अपह्नुति के माध्यम से किया है --

कहत विभीषण सुनहु कृपाला । होइ न तड़ित न बारिद माला ।
लंका सिखर उपर अगारा । तहं दसकंधर देख अखारा ।।
छत्र मेघडंबर सिर धारी । सोइ जनु जलद घटा अति कारी ।
मंदोदरी स्रवन ताटंका । सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका ।।
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा ।। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूप ।।[1]

भ्रान्ति के साथ-साथ कवि ने सन्देह का भी प्रयोग किया है परन्तु इस अलंकार का प्रयोग कवि ने चौंकाने के लिए नहीं वरन् मन की अनिर्णयात्मक वृत्ति के अवसर पर किया है । इस प्रकार तुलसी की अलंकारप्रियता स्थान-स्थान पर दर्शनीय है । उनके ग्रन्थों में काव्यात्मक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाने वाला ऐसा

१- रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० [illegible]

कोई भी स्थल नहीं है जहाँ उन्होंने अलंकारों का प्रयोग न किया हो । तुलसी का काव्य अलंकारों का रत्न भंडार है । रामचरितमानस में सादृश्य विधान की प्रयोगात्मक निरन्तरता अर्थ एवं भाव-प्रक्रिया को प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध हुई है । कवि ने परम्परागत रूढ़ वर्णनों का प्रयोग भी सादृश्य के अन्तर्गत किया है । जैसे - पूर्वानुराग, प्रथम दर्शन, नायिका का रूप-चित्रण, नायक का रूप चित्रण इत्यादि । परंपरा के इस निर्वाह के प्रति तुलसी अत्यन्त सजग और प्रयत्नशील दिखायी दिए हैं । अतः हम देखते हैं कि कवि ने सादृश्य विधान के द्वारा जिस तथ्य को स्पष्ट करना चाहा है उसमें कहीं भी त्रुटि नहीं आने दी है ।

कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने भी सादृश्य विधान को विशेष स्थान प्रदान किया है, इसमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, प्रतीप आदि का अत्यन्त महत्त्व है । सूर ने सादृश्य विधान का प्रयोग मुख्य रूप से, रूप चित्रण द्वारा भाव सौन्दर्य की समृद्धि के लिए किया है । नन्ददास ने सादृश्य विधान के प्रयोग के माध्यम से अपने काव्य में अत्यधिक गम्भीरता और कौशल का परिचय दिया है । सादृश्य का प्रयोग उन्होंने काव्य की भाषा और भाव को सजीवता प्रदान करने के लिए किया है, मात्र चमत्कार के लिए नहीं ।

सूर के सादृश्य विधान का मुख्य कार्य सौन्दर्यबोध है । रूप चित्रण द्वारा भाव सौन्दर्य की समृद्धि के लिए उन्होंने सादृश्य विधान का प्रयोग किया है । इसके माध्यम से उन्होंने परम्परागत उपमाओं का प्रयोग करते हुए भी नवीनता को वर्णित किया है । निम्नलिखित पद में भृकुटि के सादृश्य की कल्पना के माध्यम से अभिव्यक्त किया है -

> भृकुटी विकट निकट नैननि के, राजति अति वर नारि ।
> मानौ मदन जग जीति जेर करि, राख्यौ धनुष उतारि ।।[१]

सूर ने अलंकारों का प्रयोग विशेषकर सौन्दर्य-बोध के लिए ही किया है । किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौन्दर्यानुभूति सजग हो उठती है, हृदय तल्लीन

१- सूरदास, सूरसागर, पद सं० ७२२, पृ० २६७

हो जाता है, तो उसकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य को अधिक हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अप्रस्तुत व्यवहार योजना का सन्निवेश करने लगती है ; उस समय कवि की रचनाओं में अलंकारों का समावेश स्वत: हो जाता है।[1]

नन्ददास ने सादृश्य का प्रयोग राधा के सौन्दर्य वर्णन के साथ-साथ श्री कृष्ण के सौन्दर्य वर्णन में भी किया है --

(क) पीत वसन द्युति परति न कही। दामिनि सी कछु थिर ह्वै रही।[2]

(ख) खंजन प्रकट भये दुख देना, संजोगिनि तिय के से नैना।[3]

(ग) ज्यौं अगिनि मिमि अंतर बरै।[4]

यहाँ कवि ने उपमा विधान के द्वारा प्रसंग एवं अर्थाभिप्राय को तो स्पष्ट किया ही है साथ ही भावात्मक तीव्रता का नियोजन भी किया है। सादृश्य विधान के अन्तर्गत इन कवियों ने सन्देह एवं भ्रम का भी वर्णन किया है। प्रिय के मिलन के लिए आतुर नायिका अपनी परछाईं को ही प्रियतम समझ बैठती है। इसका वर्णन नन्ददास ने इस प्रकार से किया है --

ज्यौं कहुँ निज झाँईं चाहि। मुदित होत पति मानत ताहि।[5]

सादृश्य विधान का प्रयोग जायसी ने भी अत्यन्त रुचि के साथ किया है। सादृश्य विधान के अन्तर्गत आने वाले मुख्य अलंकार उल्लेख, उत्प्रेक्षा, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, उदाहरण, अपह्नुति, व्यतिरेक आदि को माध्यम बनाकर उन्होंने अर्थरचना को उत्कर्ष प्रदान करने की चेष्टा की है। उपमा अनेक प्रकार के वैचित्र्यों की योजना करती है। उपमा का अर्थ है एक वस्तु के सामीप्य में दूसरी वस्तु के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन। जायसी ने पद्मावती के नख-शिख वर्णन में उपमाओं की भरमार कर दी है।

१- डा० हरवंश लाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० २१७

२- व्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, चौ० पृ० १२१

३- व्रजरत्नदास, नन्ददास, ग्रन्थावली, विरहमंजरी, रूपमंजरी, चौ० पृ० १६८, पृ०११७

४- व्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी पृ० ११८

५- व्रजरत्नदास, नन्ददास, ग्रन्थावली, विरहमंजरी, चौ० पृ० १७१

जायसी ने पदमावत के नख-शिख वर्णन में उपमाओं की भरमार कर दी है । पद्मावती के रूप वर्णन के लिए नई से नई उपमाओं की खोज कर रखा है ।

(क) बरुनी का बरनौं इमि बनी । साधे बान जानु दुइ अनी ।।[1]

(ख) बरुनि बान-नावक कर ठेला । दिष्टि न आव लागु पै देला ।।[2]

यहां अंकन में मधुमालती की बरौनियों को बाण के समान बताया है जो प्रत्यक्ष में आते हुए तो दिखाई नहीं पड़ते परन्तु लगने पर प्रमाण रूप में दिखाई पड़ते हैं । इन कवियों के काव्य में उपमाओं की काट नहीं है, कवि उपमाएं प्रस्तुत करने में सिद्ध हस्त प्रतीत हुए हैं । सादृश्य मूलक अलंकारों के माध्यम से जायसी को भावों को उत्कर्षता प्रदान करने में सहायता मिली है । कुछ विद्वानों ने सादृश्यमूलक जितने भी अलंकार हैं उन सबको उपमा के आश्रित माना है । उपमाओं के साथ-साथ इन कवियों ने सादृश्य विधान में सन्देह एवं भ्रान्तिमान अलंकार का भी वर्णन किया है । "सन्देह और भ्रम एक मानसिक प्रक्रिया है । वस्तुओं के निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण जो अनुभव बन जाते हैं वे ही जब किसी अन्य वस्तु में सादृश्य के कारण जाग उठते हैं कि कहीं यह वही पूर्वाभिलत वस्तु तो नहीं । इसी में यदि मिथ्या निश्चय हो जाए तो भ्रम कहलाता है इसी में यदि निर्णय न होने पाए अनिश्चय बना रहे तो वहां सन्देह होता है ।[3] भ्रम का वर्णन अत्यन्त सुन्दरता के साथ जायसी ने 'मानसरोदक खण्ड' में मानसरोवर में स्नान करती हुई पद्मावती के अतीव सौन्दर्य वर्णन में किया है । सन्देह वर्णन में कवि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के सादृश्य के कारण दोनों में समानता और असमानता का वर्णन करता है । सादृश्य विधान के प्रयोग द्वारा कवि, काव्य में प्रभावात्मकता बनाए रखता है ।

सादृश्य विधान का प्रयोग संत कवियों ने भी किया है । 'भक्ति आगम

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नखशिख खंड, पृ० ४२

२- माताप्रसाद गुप्त, मधुमालती, पृ० ४२५

३- डा० ओम प्रकाश शर्मा, रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ० ५०२

को कुछ नहीं " की उक्ति को चरितार्थ करते हुए भी उनकी काव्य रचना में अत्यन्त स्वाभाविकता है । सादृश्य विधान के अन्तर्गत उपमा का प्रयोग दादू और कबीर दोनों ने किया है । संत कवियों ने माया को हमेशा मीठी खांड, मोहनी, डाकिनी, पापिनी इत्यादि रूप में व्याख्यायित किया है । माया के सन्दर्भ में कबीर सर्वत्र सचेत दिखाई दिए हैं । मानव समाज को हमेशा इससे बचने की सलाह देते हैं । माया के माध्यम से कबीर ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । माया की उपमा दादू दयाल ने भी दी है । भिन्न-भिन्न प्रकार से उन्होंने मनुष्य को माया के बंधन से मुक्त होने की शिक्षा दी है । माया पापिनी है, डाकिनी है, झूठी है, मोह है, नर्क है, भ्रम है, सर्पिनी है । इस माया में सिमटे हुए मनुष्य का कभी भी उद्धार नहीं हो सकता । संसार की विषय वासनाओं से मुक्त होकर ही मनुष्य उस परमतत्व से नाता जोड़ सकता है । कवि उपमा-प्रक्रिया के द्वारा अर्थ और भावों को निरन्तर विस्तारित करके प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करता है । इन कवियों द्वारा सादृश्य विधान का प्रयोगात्मक स्थिति अत्यन्त स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर हुई है ।

कल्पना विधान --

अपने काव्य को सामान्य से विशेष उत्कर्ष प्रदान करने के लिए कवि कल्पना विधान का सहारा लेता है । उत्प्रेक्षा अलंकार इसी शैली में आता है । उत्प्रेक्षा का मूलाधार कल्पना है । कल्पना विधान में कवि द्वारा प्रयुक्त सादृश्य कल्पित होता है और इसमें कल्पनातिशयता इतनी स्पष्ट होती है कि उपमा एवं रूपक का सीमित परिवेश एक विस्तृत भाव-अर्थ को ग्रहण कर लेता है । उत्प्रेक्षा का कार्य व्यापार अर्थ एवं भाव को कल्पना के माध्यम से उत्कर्ष रूप प्रदान करना है । जैसे --

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ज्ञानु बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर ।।[१]

१- रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा २३१

तुलसी के काव्य का चारुत्व शब्द वैचित्र्य और अर्थ-वैचित्र्य दोनों पर आश्रित है। मानस में अनेक ऐसे स्थल हैं जहां एक के बाद एक उत्प्रेक्षाएं जल की लहरों की भांति उमड़ती घुमड़ती रहती हैं, जिसे हम उत्प्रेक्षा मा की संज्ञा दें तो अतिशयोक्ति न होगी। गोस्वामी जी ने कल्पना विधान के वर्णन में पौराणिक उपाख्यानों का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया है। जैसे --

अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।।
भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।।[1]

यहां तुलसीदास ने भारतीय संस्कृति की मर्यादा को अत्यन्त मर्यादित रूप में चित्रित किया है।

कल्पना रसानुभूति में सहायक होने के कारण काव्य के अन्तरंग पक्ष से सम्बन्धित होती है। काव्य रचना का उद्देश्य चमत्कार की ही सृष्टि करना नहीं होता वरन् भावों को अधिक प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करना होता है। अत: काव्य कला के अप्रस्तुत योजना आदि विभिन्न अंग इसमें सहायक होते हैं। अप्रस्तुत का मूल आधार सादृश्य विधान ही है।

कल्पना विधान के प्रति सूरदास की सर्वाधिक रुचि प्रतीत होती है। इसका प्रयोग उन्होंने राधा और कृष्ण के रूप चित्रण में विशेष मनोयोग से किया है --

(क) जलत पद-प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज-संपुट-सुभग छबि भरि लेति उर जनु धरनि।
पुन्य फल अनुभवत सुतहिं बिलोकि कै नंद घरनि।[2]
सूर प्रभु की उर बसी किलकनि ललित लरखरनि।।

1- रामचरितमानस, चौ० १, पृ० २३८

2- सूरदास, सूरसागर, पद सं० १०६, पृ० २६८

(ख) कनक-भूमि पर कर-पग-छाया- यह उपमा इक राजति ।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि वसुधा, कमल बैठकी साजति ।[1]

सूरदास नवीन से नवीन कल्पनाओं को प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं । उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग में कवीर की कल्पना शक्ति साकार होकर उभरी है । "सौन्दर्य अनुभूति की पराकाष्ठा में सीधी-सादी भाषा में अभीष्ट प्रभाव की अभिव्यक्ति नहीं होती, तो कवि को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है और वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अनेकानेक उपमान खोज लाता है, जब इतने पर भी संतोष नहीं होता तो कल्पना द्वारा प्रस्तुत वस्तु के समान धर्म वाली वस्तुओं की सृष्टि कर उनसे उसका तादात्म्य स्थापित करता है । इस प्रकार उत्प्रेक्षा के अनेक रूप उसकी रचना में आ जाते हैं ।[2] उत्प्रेक्षा का मूलाधार कल्पना ही है । इसमें कवि द्वारा प्रयुक्त सादृश्य कल्पित होता है और यह कल्पना इतनी स्पष्ट होती है कि उपमा एवं रूपक के सीमित परिवेश को त्याग कर एक विस्तृत रूप ग्रहण कर लेती है ।

नन्ददास ने राधा के सौन्दर्य वर्णन के साथ-साथ श्री कृष्ण के सौन्दर्य वर्णन का भी ध्यान रखा है । नन्ददास की उत्प्रेक्षाओं के सम्बन्ध में डा० दीनदयाल गुप्त ने लिखा है कि --"नन्ददास की उत्प्रेक्षाओं की कल्पना बड़ी मार्मिक और प्रभावशालिनी होती है, उनमें मौलिकता रहती है, बेसिर-पैर की उड़ान और शब्दों की कलाबाजी नहीं है ।" नाममाला के एक दोहे में कवि ने नायिका के भाल पर लगी हुई बिन्दी की कल्पना सौभाग्य मणि रूप में की है ।

मस्तक, अलिक, ललाट पर, बेंदी बनी बनाय ।
मानो भालहिं भाग्य- मनि, प्रगटी बाहर आय ।।[3]

यहाँ कवि की कल्पना मुखरित हो उठी है ।

कल्पना काव्य का सबसे अधिक सहयोगी अंग रहा है । काव्य जगत का

१- सूरदास, सूरसागर, पद सं० ११०, पृ० २६६

२- डा० हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० २६६

३- ब्रजरत्नदास, नाममाला, दोहा ५

समस्त वैभव, उसका समस्त आनन्द कल्पना पर ही आश्रित रहा है । इसके आभाव में काव्य की सारी सृष्टि असम्भव-सी प्रतीत होती है । कल्पना का सहारा लेकर ही कवि नवीन- से नवीन उद्भावनाएँ करता है ।

उत्प्रेक्षा में उपमान कल्पना पर ही आधारित रहते हैं और कल्पना की प्रक्रिया इच्छा शक्ति पर आधारित रहती है । जायसी ने उत्प्रेक्षा का वर्णन अत्यन्त मनोयोग के साथ किया है उसमें भी हेतूत्प्रेक्षा का । इसके अन्तर्गत किसी काल्पनिक हेतु को ही वास्तविक हेतु कहा जाता है । काव्य और साहित्य में कल्पना का विशेष महत्त्व है । सन्तों ने काव्य की रचना स्वाभाविक तथा स्वानुभूति अभिव्यक्ति के प्रयोजन से की है । संसार में फैले हुए अन्धकार एवं उसमें भटकते हुए मनुष्यों को राह दिखाने के लिए सन्तों ने काव्य का सहारा लिया है । सन्तों की कल्पना का विशेष प्रसार सद्गुरु, ब्रह्म, आत्मा, विरह, माया, जगत, प्रेम, साधु, असाधु आदि हैं । सन्त कवियों की कल्पनाएं सक्रिय मन की उद्भावनाएं हैं । उनकी कल्पना शक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है उसमें व्यावहारिकता एवं कलात्मकता का सुन्दर समन्वय है । सन्तों के काव्य का वर्ण्य विषय आध्यात्मिक और दार्शनिक रहा है । सन्त कवियों ने अपने काव्य में कल्पनाओं के विविध रूपों को उजागर किया है ।

कबीर ने परब्रह्म की आलौकि कान्ति के लिए अनेकों सूर्यों की कल्पना की है --

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरिज सेणि ।
पति संगि जागी सुंदरी, कौतिक दीठा तेणि ।।[1]

उस अनन्त परमेश्वर के तेज को अभिव्यक्त करने के लिए कबीर ने 'सूरज सेणि' की कल्पना कर डाली है । अत: हम देखते हैं कि उत्प्रेक्षा का कार्य-व्यापार अर्थ एवं भाव को कल्पना के माध्यम से उत्कर्ष प्रदान करना होता है ।

१- पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, साखी - ६-१५

रूपक विधान —

तुलसीदास ने इस अलंकार विशेष का प्रयोग सर्वाधिक किया है । हिन्दी साहित्य जगत में यह मान्य है कि यह उनका अत्याधिक प्रिय अलंकार है, परन्तु रूपक विधान के द्वारा रूपक के चमत्कार को व्यंजित करना तुलसीदास का उद्देश्य नहीं था वरन् इसके सहारे अर्थ-रचना एवं भाव सम्प्रेषण के स्तर पर इस अलंकार विशेष का प्रयोग करने में वह सक्रिय दिखायी दिए हैं । तुलसीदास ने इस अलंकार विशेष का प्रयोग भक्ति विषयक दार्शनिक एवं भावनाप्रधान प्रसंगों में मुख्य रूप से किया है । रूपक विधान अपनी संश्लिष्टता के कारण अन्य तात्विक विधानों से किंचित भिन्न है । अर्थ विधान की दृष्टि से यह उपमा विधान से कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया है । इसमें रचनाकार प्रस्तुत के सम्पूर्ण धर्मत्व को अप्रस्तुत से श्लिष्ट करके एक ही बार में उसकी सम्पूर्णता को व्यंजित करने की चेष्टा करता है । रूपक विधान उपमा विधान की भांति सादृश्य रचना की एक भिन्न प्रणाली है ।

रामचरित मानस और विनय पत्रिका में तुलसी ने लम्बे-लम्बे रूपकों का प्रयोग किया है । ये सभी रूपक मोक्ष भावना से अनुप्राणित हैं । रामचरितमानस की प्रस्तावना में निबद्ध मानस रूपक तुलसी काव्य का सबसे लम्बा रूपक माना गया है । इन रूपकों में उन्होंने धर्म, ज्ञान, योग आदि विषयों को प्रतिपादित किया है । तुलसी के अलंकार काव्य में सरसता की वृद्धि करते हुए उसकी भाव व्यंजना को निरन्तर उत्कृष्ट बनाए हुए हैं । अलंकारिकता काव्य का एक विशिष्ट धर्म है । रामचरित मानस पर पौराणिक शैली की अन्य विशेषताओं की अपेक्षा आलंकारिक अभिव्यंजना-पद्धति का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा है जो सर्वथा स्वाभाविक भी है । तुलसी ने सांगरूपकों का प्रयोग अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि में किया है । व्यापक सांगरूपकों का निर्वाह भी इस कुशलता से हुआ है कि कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी है । पौराणिक प्रभाव की दृष्टि से रामचरित मानस का यह अवैदाणीय सांगरूपक देखा जा सकता है ।

(क) सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ ध्वजा पताका ।
बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ।।[1]

(ख) ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म संतोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिग्यान कठिन कोदंडा ।।[2]

(ग) अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।[3]

तुलसी को रूपक योजना के सन्दर्भ मे विद्वानों ने तरह-तरह की उपाधियों से विभूषित किया है । किसी ने उनको रूपक का बादशाह माना है तो किसी ने रूपक को उनकी अलंकार योजना का प्राण माना है । इसके सभी रूपकों में सादृश्य और साधर्म्य का प्रभाव देखने को मिलता है । "उन्होंने अपने लम्बे-लम्बे सांग रूपकों में भी मजाल नहीं है कि सादृश्य और साधर्म्य का आद्योपान्त निर्वाह न किया हो, साथ ही उनकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखाई दी हो । उन्होंने ऐसे रूपकों की योजना सामान्यता गम्भीर विषयों को सरस एवं सरल रीति से हृदयंगम कराने के लिए की है और उसमें पूर्णतः सफल भी हुए हैं ।" तुलसीदास ने अपने काव्य में अतिशयोक्ति को भी स्थान दिया है । अतिशयोक्ति अभेद प्रधान अध्यवसायमूलक अलंकार है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है । उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य रहता है किन्तु अतिशयोक्ति में सिद्ध हो जाता है । आचार्यों ने इस अतिशयोक्ति के भी अनेक भेद उपभेद किए हैं ।

रूपक विधान में सूर को भी वैशिष्ट प्राप्त है । सूरसागर में रूपकों की भरमार है । सूरदास ने रूपकों का प्रयोग कुछ परम्परागत प्रयोगों कुछ प्रकृति से और कुछ लोक जीवन से किया है । इन रूपकों के सहारे सूरदास उत्तम रूप में भावों को आच्छादित कर सके हैं । अच्छे-अच्छे सांगरूपक बांधना भी सामर्थ्यवान कवियों का ही

१-२-३ रामचरितमानस, चौ० - ३, ४, ५, पृ० ६५२

कार्य है और इसमें सूरदास सफल हुए हैं । रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से राधा और कृष्ण के सौन्दर्य को अधिक प्रभावोत्पादक बनाया गया है । जायसी ने रूपकातिशयोक्ति का वर्णन अलाउद्दीन द्वारा दर्पण में पद्मावती के रूप के प्रतिबिम्ब को देखने में किया है । साथ ही -- "पन्नगपंकज मुख गहे खंजन तहां बईठा" में भी रूपकातिशयोक्ति का वर्णन है । रूपकातिशयोक्ति तब होती है जब केवल उपमान का कथन कर उपमेय की व्यंजना की जाती है । जायसी ने अपने काव्य में रूपकातिशयोक्ति का पग-पग पर वर्णन किया है ।

कबीर के रूपकों की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने ग्राम जीवन के जीते जागते स्वरूप को चित्रित किया है । आध्यात्मिक मदिरा का संदेश उन्होंने लौकिक मदिरा के माध्यम से दिया है । "हूवै कोई संत सहज सुख अंतरि जाकों जप तप देउं दलाली"[1] इस पद में उन्होंने लाइन मेलने से लेकर मदिरा चुवाने तक की प्रक्रिया का वर्णन आध्यात्मिक मदिरा के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है । कलाली का रूपक दादू दयाल ने भी किया है --

> भाव भगति भाठी भई, काया कसणी सारो रे ।
> पोता मेरे प्रेम का, सदा अखण्डित धारो रे ।।
> ब्रह्म अगनि जोवन जरे, चेतनि चित उजासो रे ।
> सुमति कलाली सारवे, कोई पीव विरला दासो रे ।।
> आपा मन सब सौं पिया, तब रस पाया सारे रे ।
> प्रीति पियाले पीवही, छिन छिन बारं बारो रे ।।[2]

इस रूपक में उन्होंने परम्परागत वस्तु-विधान का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत किया है । कवि पूरे मनोयोग से रूपक योजना का रचनात्मक प्रयोग करने के प्रति सचेष्ट दिखायी दिए हैं । निम्नांकित पदों में कवि की रचनात्मक शक्ति मुखरित हो उठी है । रूपक विधान का पूर्ण विकास प्रतीक विधान के रूप में देखा जा सकता है ।

1- पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पद- ५१, पृ० २६

2- परशुराम चतुर्वेदी, दादूदयाल, ग्रन्थावली, पद- ५२, पृ० ३२८

प्रतीक विधान —

प्रतीक विधान में भी अर्थ-श्लेष जैसी प्रक्रिया दिखाई पड़ती है, क्योंकि प्रतीक के अर्थ आरोपित होते हैं । मध्यकालीन सन्दर्भ में प्रतीक और रूढ़ि के अन्तर को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बड़ी स्पष्ट शैली में व्यक्त किया है -- "साहित्यकार जब प्रतीक और रूढ़ि का अन्तर खो देता है तो वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है । प्रत्येक शब्द, प्रत्येक मूर्ति, प्रत्येक रेखा और प्रत्येक चिन्ह जब तक अपने पीछे के तत्वचिन्तन के साथ आते हैं तो प्रतीक होते हैं, परन्तु जब उसके पीछे काम करने वाले तत्वचिन्तन भुला दिए जाते हैं तो वह रूढ़ हो जाते हैं । विष्णु का गगननाम नील वर्ण उनकी अनंतता का संकेत करता है उनके चारों हाथ और उनके शास्त्र भी अनंत काल और गति के निर्देशक हैं । विष्णु की मूर्ति को उनका फोटोग्राफ मान लेना रूढ़ है और स्तब्ध मनोवृत्ति का परिचायक है । किसी भी देवता की मूर्ति उसका फोटो नहीं है । यथार्थ चित्र संकेताभिधान होता है और तत्वचिन्तन को मुखर करने वाला विग्रह प्रतीक होता है ।"[1]

कविता में प्रतीक प्रयोग की परम्परा सम्भवत: स्वयं कविता जितनी ही प्राचीन है । कविता शब्दार्थमय है अत: शब्द और अर्थ के समुच्चय स्वरूप-भाषा से प्रतीक का सम्बन्ध उचित होगा । प्रतीक प्रयोग की प्रेरणा दो वस्तुओं में साम्य की अनुभूति में निहित है यदि दो वस्तुएँ इतनी समान प्रतीत होती है कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरी के समतुल्य लगें तो एक को दूसरी का स्थानापन्न कर दिया जाता है । प्रतीक प्रयोग में दो वस्तुएं सादृश्य के कारण एक दूसरे के निकट रख दी गई हों, ऐसा नहीं है ।

काव्य प्रतीक में कुछ गुण उस वस्तु के होते हैं जिसका वह वाचक होता है और कुछ गुण उस वस्तु के होते हैं जिसका वह प्रतीक होता है अत: प्रतीक उस वस्तु के भाव को व्यंजित करता है । प्रतीक अपना वाचार्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ जिसे प्रतीकार्थ कहा जाता है व्यक्त करता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीक

1- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, पृ० १६

को विशेष प्रकार का उपमान कहा है ।

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल का आरम्भ सन्त कवियों की निर्मल वाणी से ही हुआ है । इन सन्त कवियों में से प्रमुख कबीरदास ने भी अपनी आध्यात्मक अभिव्यक्ति में चमत्कार लाने के लिए प्रतीकों का भी आश्रय लिया है उनके काव्य में प्रतीकों की विशेष महिमा है उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से अपने काव्य को मार्मिक और प्रभावोत्पादक बनाया है । यदि कबीर ने प्रतीकों का आश्रय न लिया होता तो शायद उनके अधिकांश विचार और भाव अव्यक्त ही रह जाते । कबीर ने अपने काव्य में विभिन्न प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया है । कबीर ने अपनी रचनाओं में अधिकांश प्रतीक नित्य प्रतिदिन जीवन मे आने वाली वस्तुओं से ही ग्रहण किए हैं परन्तु कई स्थलों में उनके प्रतीकों को समझना अत्यन्त कठिन भी है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत नहीं हैं, केवल उल्टवासियां और हठयोग की साधना में ही ऐसे प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं । इन्होंने संख्यामूलक प्रतीकों का भी प्रयोग किया है । जैसे --

> चौंसठ दिवा जोइ करि चौदह चंदा मांहि ।
> तिहिं घरि किसको चांदिनौं जिहिं घरि सतगुर नांहिं ।।[१]

इन्होंने अपनी काव्य भाषा में चौदह चंदा का अर्थ चौदह विद्याओं और चौसठ दिया का अर्थ चौसठ कलाओं से लिया है ये संख्यामूलक प्रतीक हैं । इसमें कवि ने संख्याओं के माध्यम से अपनी बात व्यक्त की है । चौसठ दिया का साधारण अर्थ चौसठ कलाओं से लिया गया है । कबीर ने बहुत से संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग प्रतीकों के रूप में किया है । भारत में प्रतीक पद्धति को विकास की प्रेरणा, सूफियों की प्रतीक पद्धति से प्राप्त हुई है ।

कबीर ने प्रतीक रूप में दाम्पत्य, सांकेतिक, वाक्यमूलक पारिभाषिक इत्यादि प्रतीकों का भी प्रयोग किया है । दाम्पत्य प्रतीक की सबसे प्रमुख विशेषता, पवित्रता, सात्विकता एवं आध्यात्मिकता है । प्रतीकों का प्रयोग कवि अपने भावों

१- डा० पारसनाथ तिवारी, कबीरग्रन्थावली, साखी १-३

को साधारण भाषा की अपेक्षा काव्यभाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने में करता है --'कवि का संसार इस स्थूल-भौतिक जग से अधिक व्यापक है। वह अनेक ऐसे विचारों से, घटनाओं से ,ऐसे सत्य से साक्षात्कार करता है जिनके लिए भाषा में सम्यक् शब्द नहीं होते, परिणामत: उसे प्रतीकात्मक प्रयोगों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार कवि अन्यथा असंप्रेषित विचारों को भी अभिव्यक्त कर देता है।' प्रतीकों के बल से कबीर ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति एवं सूक्ष्म अनुभावों को भी स्पष्ट किया है। प्रतीकों से कबीर की भाषा में लाक्षणिकता और व्यंजकता का भी विकास हुआ है। संसार की नश्वरता को उन्होंने इन प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

'माली आवत देखि के, कलियां करें पुकार
फूली फूली चुनि गई, कालि हमारी बार।'[1]

इस दोहे में माली और कली के प्रतीकों द्वारा इस नश्वर संसार का प्रभावोत्पादक वर्णन किया है।

प्राय: आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कवि को प्रतीकों की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योंकि यहां सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को अभिव्यक्त करना तथा उसे सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य एवं सौन्दर्य की दृष्टि से उत्तम बनाना कवि के लिए आवश्यक होता है। अपने जिन विचारों और भावों को कवि प्रत्यक्ष रूप में वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं कर पाता उन्हें प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करने में उसे सफलता रहती है, फलस्वरूप वह प्रतीकों का आश्रय लेने के लिए मजबूर हो जाता है। अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना सन्तों ने 'गूंगे के गुड़ के स्वाद' को व्यक्त करने के समान माना है।

उस असीम के सौन्दर्य दर्शन के पश्चात् भक्त उस सौन्दर्य को अनुभव तो करता है परन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाता उसकी स्थिति उसी प्रकार होती है जैसे एक गूंगे मनुष्य की गुड़ खाने के बाद क्योंकि वह उस स्वाद को ग्रहण तो करता

१- डा० पारसनाथ तिवारी, साखी १६-३१।

है परन्तु अभिव्यक्त नहीं कर पाता । दादूदयाल ने भी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को अभिव्यक्त करने के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किए हैं ।

> ऐसे पारिख पचि मुए, कीमति कही न जाइ ।
> दादू सबि हैरांन है, गूंगे का गुड़ खाइ ।।[1]

अतः यह स्पष्ट है कि प्रतीक विधान वह प्रक्रिया है जिसका प्रयोग भावाभिव्यक्ति के ~~उच्चतम~~ क्षेत्र में किया जाता है । प्रतीकों के प्रयोग में सन्तों ने सुबोधता एवं स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखा है तथा अपने पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथों की साधना में से केवल उन्हीं प्रतीकों को अपनाया है जिनका सम्बन्ध योगपरक साधना से है । सिद्धों और सन्तों ने प्रायः एक ही अर्थ में इन प्रतीकों को प्रयुक्त किया है — गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, योगिनी, बिलाई, बेटी, गणिका, अगनि इत्यादि ।

गंगा - इड़ा
यमुना - पिंगला
सरस्वती- सुषुम्ना
त्रिवेणी- इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना इन तीनों का संगम स्थल
सूर्य - नाभि में स्थित सूर्य
चन्द्र - पिंगला
योगिनी- महामुद्रा, पिंगला
बिलाई - कुबुद्धि
बेटी - बुद्धि
गणिका- माया
अगनि - बिरह या ज्ञान की अग्नि ।

१- परशुराम चतुर्वेदी, दादूदयाल ग्रन्थावली, साखी ६-२

कबीर ने प्रतीकों का जितना सशक्त और बहुविध प्रयोग किया है उतना सन्त काव्य में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है । इनके प्रतीकों की सबसे बड़ी विशेषता है कि इन्होंने दिन प्रतिदिन के जीवन में आने वाली वस्तुओं को ही अपने काव्य में प्रतीक रूप में ग्रहण किया है ।

मध्यकालीन काव्यभाषा में ब्रजभाषा पर आधारित काव्यभाषा सबसे अधिक विकसित हुई । मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों ने ब्रजभाषा का प्रचुरता से प्रयोग किया है । ब्रजभाषा काव्य परम्परा में रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है -- 'ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा गुजरात से लेकर बिहार तक और कुमाऊं-गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आयी है ।'[1] मध्यकालीन काव्य-भाषा में विशेषता कृष्णभक्त कवियों ने भाषा में अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग विशेष रुचि के साथ किया है -- 'कृष्णभक्त कवियों की भाषा की सबसे मूल्यवान संपत्ति है उनके द्वारा प्रयुक्त अनुकरणात्मक शब्द जिनके द्वारा उन्होंने लीला-पुरुष कृष्ण की मनोरम लीलाओं में प्राण भर दिए हैं, उन्हें साकार बना दिया है ।'[2]

मध्यकालीन काव्यभाषा में बदलते हुए आधारों के बावजूद उसमें कोई विलक्षणता नहीं आने पायी है । मानस का आधार अवधी है और सूरसागर का ब्रजभाषा, पर काव्यभाषा के स्तर पर दोनों में कोई खास अन्तर नहीं है । दोनों ही काव्य उच्चकोटि के हैं तथा पाठक को अपनी ओर आकर्षित करते हैं ।

कृष्ण भक्त आचार्यों और कवियों ने अपनी धार्मिक अनुभूतियों का वर्णन प्राय: प्रतीकों का सहारा लेकर ही किया है । उनकी अभिव्यक्ति का विशेष आकर्षण भी उनका कुशल प्रतीक विधान ही है ।

काव्य और दर्शन के क्षेत्र में प्रतीक का प्रयोग कई प्रकार से किया गया है --

१- अंश को अंशी का पर्याय मान कर

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०१

२- सावित्री सिन्हा, ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्तिकाव्य में अभिव्यंजना शिल्प,पृ० ८४

(२) अंगी के प्रतिरूप को साधर्म्य के आधार पर ग्रहण करके ।

(३) किसी अप्रस्तुत अर्थ या भाव का वाचक बना कर ।

प्रतीक के माध्यम से कवि मूर्त द्वारा अमूर्त का बोध कराने का प्रयत्न करता है । काव्य के अन्तर्गत प्रतीक ही एक ऐसा शब्द बिम्ब होता है जो किसी अप्रस्तुत अर्थ या भाव का वाचक होता है । जैसे पृथ्वी धैर्य का प्रतीक, सिंह वीरता का प्रतीक, गधा मूर्खता का, कुत्ता स्वामीभक्ति का, मछली क्षुधा का और गाय विनय का प्रतीक माने गए हैं । प्रतीक प्रयोग द्वारा कवि का यह प्रयास रहता है कि वह वस्तु या रूप के चुने हुए अवयवों को इस प्रकार प्रस्तुत करे कि वह सजीव हो उठे ।

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार प्रतीक का उपयोग सर्वेश्वरवाद, रूपक, उपमा, चरित्रों को भाव या विचार का प्रतिनिधि मान कर अथवा अव्यक्त और अनिर्वचनीय की अभिव्यक्ति के माध्यम से किया जाता है ।[१]

प्रत्येक कवि को आत्मिक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है । श्रीमद्भागवत के प्रतीक अधिक व्यवस्थित, व्यक्त एवं विस्तृत है । वैष्णव धर्म में श्रीमद्भागवत को प्रमाणिक माना गया है तथा इन प्रतीकों को परम्परागत रूप में ग्रहण भी किया गया है । जैसे - राधा, गोपी, रासलीला, चीरहरण, मुरली, वृन्दावन, माखन, कमली आदि ।

वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को पूर्णावतार माना गया है । सूरदास के अनुसार भी श्री कृष्ण पूर्ण ब्रह्म, स्वयं भगवान् है । ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन में श्रीकृष्ण के स्वरूप पर पर्याप्त विचार करने पर भागवतानुसार श्री कृष्ण के लीलामय रूपों का वर्णन किया गया है -- कुरुक्षेत्र में कृष्ण पूर्ण सत् और ज्ञान शक्ति प्रधान हैं, द्वारका और मथुरा में पूर्ण चित् और क्रिया प्रधान हैं, तथा वृन्दावन में पूर्णानन्द और इच्छा शक्ति प्रधान है । श्री कृष्ण की सभी लीलाएं अध्यात्मपरक हैं । भगवान

१- डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, प्रथम संस्करण, पृ० ४७७ ।

की नित्य लीला प्रकट और अप्रकट दोनों रूपों में रहती है । प्रकट लीला में वह अपने भक्तों के सम्मुख प्रकट होते हैं और यह लीला उनकी शक्ति का ही कार्य है । इस लीला के अन्तर्गत श्री कृष्ण मथुरा, वृन्दावन और द्वारका में विहार करते हैं । वृन्दावन की लीला माधुर्य भाव से परिपूर्ण है । नित्य लीला में श्री कृष्ण-नित्य-धाम में ही रहते हैं वहां उनकी शक्ति स्वरूपा भी उनके साथ हैं । लीला भगवान की दैवी शक्ति का ही एक स्वरूप है ।

भागवत में वर्णित कृष्ण ब्रह्म हैं, जिन्होंने अपने भक्तों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर अवतार लिया है । वैष्णव धर्म के सभी कृष्ण भक्त सम्प्रदायों ने इस विचारधारा का अनुसरण किया है । कृष्ण पूर्णावतार हैं इनमें सत, चित और आनन्द इन तीनों गुणों का समावेश है, साथ ही साथ यह तीनों लोकों के नायक भी हैं तथा गोकुल में अवतरित हुए हैं ।

त्रिभुवन नायक भयौ, आनि गोकुल अवतारी ।
खेलत ग्वालनि संग, रंग आनंद मुरारी ।[१]

राधा

श्री मद्भागवत में स्पष्ट रूप से राधा का उल्लेख नहीं है परन्तु सूरदास ने राधा का विस्तृत वर्णन किया है । राधा सूरसागर की प्रधान नायिका है । सूर ने राधा की प्रत्येक अवस्था का चित्रण किया है, श्री कृष्ण के बालिका राधा के प्रथम दर्शन के प्रभाव से लेकर नित्य मिलने बिछुड़ने का सजीव चित्रण किया है ।

खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी ।
कटि कछनी पीतांबर बांधे, हाथ लए भौरां, चक, डोरी ।
मोर-मुकुट, कुंडल स्रवननि बर, दसन-दमक दामिनि-छबि छोरी ।
गए स्याम रवि-तनया कैं तट, अंग लसति चंदन की खोरी ।।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी ।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी ।।

१- सूरदास, सूरसागर, पद सं० ११६०, पृ० ४३८

संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन-थोरी, अति छवि तन-गोरी ।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी ॥[1]

इसमें श्रीकृष्ण पर राधा के प्रथम दर्शन के प्रभाव का वर्णन है । बाल सहचरी के साथ-साथ सूर ने राधा का चित्रण परकीया भाव तथा स्वकीया भाव दोनों रूप में किया है । राधा के अन्तिम रूप का चित्रण वियोगिनी रूप में हुआ है । सूरदास ने कृष्ण-राधा प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग प्रदर्शित किया है । आलौकिक होते हुए भी सूर ने इस प्रेम को लौकिक धरातल के निकट ही रखा है । नन्ददास ने भी इस आलौकिक जोड़ी की शोभा और सौन्दर्य का चित्रण करते हुए राधा को श्री कृष्ण की विवाहिता के रूप में चित्रित किया है ।

'दूलह गिरिधर लाल छबीलो दुलहिन राधा गोरी'[2]
यह भी उनका एक लीला रूप ही है ।

'यद्यपि सूरदास श्रीमद्भागवत से ही अधिक प्रभावित हैं, परन्तु जहाँ तक राधा का सम्बन्ध है, उन्होंने ब्रह्म-वैवर्तपुराण से ही पूर्ण सहायता ली है । गीत गोविन्द, विद्यापति और चण्डीदास का प्रभाव भी उन पर स्पष्ट लक्षित होता है । उनकी राधा-विषयक कुछ निजी मौलिक कल्पनाएँ भी हैं, जिनके कारण वे राधा-कृष्ण प्रसंग को अश्लील और गर्हित होने से बचा गए हैं ।'[3] सूर आदि कवियों ने राधा को आह्लादिनी शक्ति का प्रतीक माना है और रचना स्तर पर कवि निरन्तर इसकी व्यंजना कराता चलता है ।

गोपी

प्रतीकार्थ रूप में इन्हें भी श्री कृष्ण की प्रेरक शक्ति कहा जा सकता है । वल्लभ सम्प्रदाय में भी गोपियाँ रसात्मकता सिद्ध करने वाली शक्तियाँ हैं । परन्तु कुछ विद्वानों ने इन्हें आत्मा और श्री कृष्ण को परमात्मा माना है ।

१- सूरदास, सूरसागर, पद १२६०, पृ० १७८
२- व्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, पदावली, ६०, पृ० ३४६
३- डा० हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० १७८

भागवत में गोपियों का वर्णन किया गया है । सूरदास ने भी गोपियों का वर्णन किया है पर इनकी गोपियाँ भागवत की गोपियों से भिन्न हैं । श्रीमद्-भागवत की गोपियों में उतनी स्वाभाविकता नहीं है जितनी सूर की गोपियों में । सूर की गोपियाँ भोली चंचल और वाक्चातुर्य में निपुण हैं । ये श्रीकृष्ण के समान ही परम रसमयी, सच्चिदानन्दमयी और संवेदनशील हैं । कृष्ण प्रेम में डूबी हुई इन गोपियों ने तन, मन, प्राण ही नहीं मोक्ष तक की भी अवहेलना करके भक्ति के आदर्श को प्रतिष्ठित किया है ।

इन गोपियों ने श्री कृष्ण के लिए कल्पों तक साधना करके गोपी तन प्राप्त किया है । श्री कृष्ण ने स्वयं इनके अनन्य प्रेम का अनन्त ऋण स्वयं पर स्वीकार करते हुए उससे उऋण होना असम्भव माना है ।[1] भागवत में भगवान स्वयं गोपियों से कहते हैं -- हे गोपियों, तुमने लोक और परलोक के सारे बन्धनों को काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है । यदि मैं तुममें से प्रत्येक के लिए अलग-अलग अनन्तकाल तक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता । मैं तुम्हारा ऋणी हूं और ऋणी ही रहूँगा ।[1]

नन्ददास ने भी गोपियों के स्वरूप पर अपने विचार प्रकट किए हैं ।

रासपंचाध्यायी में गोपियों की सिद्ध अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है --

धन्य कहति नहिं ताहि नाहिं करहु मन मैं कोपी ।
निरमत्सर जे संत तिनकि चूरामणि गोपी ।
इन नीके आराधे हरि ईश्वर बर जोई ।
तातें निधरक अधर सुधारस निधरक पीवत सोई ।[2]

नन्ददास ने गोपियों की रसात्मकता उनकी सिद्धावस्था को वर्णित करते हुए उन्हें कृष्ण कृपा की विशेष अधिकारिणी बताया है ।

1- डा० हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० २७५

2- व्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, २६-३०, पृ० १६

वृन्दावन

वैष्णव सम्प्रदायों में वृन्दावन के अपूर्व महत्व को प्रतिपादित किया गया है । वल्लभाचार्य के अनुसार गोलोक, गोकुल, नित्य लीला धाम वृन्दावन के पर्याय रूप हैं । वृन्दावन में भगवान अपनी आनन्ददायिनी शक्तियों के साथ लीला करते हैं । सूरदास ने वृन्दावन को बैकुंठ से अधिक महत्ता प्रदान की है । उन्होंने वृन्दावन की मिट्टी को धन्य माना है जहां श्री कृष्ण के चरण कमल पड़े, जहां वह नित्य गाय चराते हैं, वंशी बजाते हैं । सूरदास के अनुसार इस स्थान की समता कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नहीं कर सकते हैं । कम से कम यहां श्री कृष्ण के दर्शनों का तो लाभ है ।

धनि यह वृन्दावन की रेनु ।
नंद-किशोर चरावत गैयां, मुखहिं बजावत बेनु ।
मन-मोहन को ध्यान धरैं जिय, अति सुख पावत चैनु ।
चलत कहाँ मन और पुरी तन, जहाँ कछु लैन न दैनु ।
इहाँ रहहु जहं जूठनि पावहु, ब्रजवासिनि के ऐनु ।
सूरदास ह्यां की सरवरि नहिं, कल्पवृच्छ सुर- धेनु ।[1]

सूरदास ने वृन्दावन के लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों का वर्णन करते हुए भी अपने को इस कवि में असमर्थ सा प्रतीत किया है --"वृन्दावन ब्रज को महत कापै बरन्यौ जाइ"

नन्ददास ने इस वृन्दावन के आगे बैकुंठ के वैभव को भी तुच्छ ठहराया है--

जब अद्भुत गोपाल लाल, सब काल बसत जहं,
याहीं तें बैकुंठ-विभव कुंठित लागत तहं ।[2]

1- सूरदास, सूरसागर, पद सं० ११०८, पृ० ४२८
2- नन्ददास, रासपंचाध्यायी, - ३७, पृ० ६

'वृन्दावन की समीक्षा करने पर विदित होता है कि वृन्दा कहते हैं तुलसी को । तुलसी शालिग्राम (कृष्ण) पूजन का प्रमुख उपकरण है और प्राय: सर्वरोग नाशिका है । वैकुण्ठ में भी रोगादि का प्रवेश नहीं होता । अत: यह तुलसी और वैकुण्ठ दोनों का प्रतीक तो है ही साथ ही भक्तिमयी वृन्दा का वन है जिसने भक्ति की धारा को विशेषत: वैष्णव भक्ति को विशेष प्रफुल्लता प्रदान की थी । इस प्रकार यह भक्ति का ही मूर्तिमान प्रतीक है ।'[1]

सूर ने अपने वृन्दावन को नारायण के वैकुण्ठ से भी बढ़कर माना है, क्योंकि मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुंची तो नारायण और कमला दोनों के हृदय में अत्यन्त रुचि उत्पन्न हुई और वह -- 'सुनौ प्रिय यह बानी अद्भुत' कह कर ब्रजवासियों के भाग्य की सराहना करने लगे ।

ब्रह्मा ने तो वृन्दावन की रेनु बनने तक के लिए भी कृष्ण से विनय की है, कम से कम वहां उनके चरणों का तो स्पर्श मिलता रहेगा ।

भावौ मोहि करौ वृन्दावन-रेनु ।
जिहिं चरननि डोलत नंद-नंदन, दिन प्रति बन-बन चारत धेनु ।[2]

नन्ददास के अनुसार भी वृन्दावन का महत्त्व इसलिए अत्याधिक है क्योंकि यहां श्री कृष्ण के चरणों की रज है, नन्ददास के अनुसार भी ब्रह्मा इस रज को पाने के लिये लालायित हैं --

अज अजहूं रज बांछित कुंवर वृन्दावन कौ ।
सो न तनक कहुं पावत सूल मिटत नहिं तन कौ ।।[3]

१- डा० देव प्रकाश शास्त्री, सूर की भक्ति भावना, पृ० १४४

२- सूरदास, सूरसागर, पद सं० ११०७, पृ० ४२७

३- ब्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, सि० प०

रासलीला

रासलीला एक मंडलकार नृत्य का नाम है जिसमें बहुत सी गोपियां एक साथ नृत्य करती हैं ।

बनावत रास-मंडल प्यारो ।
मुकुट की लटक, झलक कुंडल की, निरतत नंद-दुलारो ।।
उर बनमाल सोह सुंदर वर गोपिनि कैं संग गावै ।
लेत उपज नागर नागरि संग, बिच-बिच तान सुनावै ।।
बंसीवट-तट रास रच्यो है, सब गोपिनि सुखकारी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन सौं, भक्तनि प्रान अधारी ।।[१]

सूर ने रास को भी आध्यात्मिक रूप में प्रतिपादित किया है । भागवत में रास को पूर्णतः आध्यात्मिक रूप में दर्शाया गया है । इसमें स्वकीया और परकीया दोनों भावों का आभास है, परन्तु सूर ने इन दोनों भावों को प्रमुखता दी है । भागवत पर आधारित होते हुए भी सूर के रास वर्णन में पर्याप्त मौलिकता है । यद्यपि रास वर्णन में सूर ने उन्मुक्त हृदय का परिचय दिया है तथापि भागवत के आधार पर परब्रह्म कृष्ण के संसर्ग के कारण निर्दोष ठहराया है, ठीक इसी प्रकार के भाव नन्ददास के भी हैं । नन्ददास ने रास के अलौकिक प्रभाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसका संगीत इतना मोहक है कि इसे सुनकर मुनि भी मुग्ध हो गए । इसके प्रभाव से शिलाएं द्रवित हो गईं और सरिता शिला की भांति जड़ हो गई तथा अन्य प्राकृतिक तत्व-पवन, शशि, सितारे, रजनी आदि स्तम्भित हो गए --

अद्भुत रस रह्यो रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि ।
सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यो सिला पुनि ।
पवन थक्यो, ससि थक्यो, थक्यो उडु-मंडल सिगरो ।
पाछै रवि रथ थक्यो चले नहिं आगे डगरो ।।[२]

१- सूरदास, सूरसागर, पद सं० १०४१, पृ० ४५३
२- ब्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी - २२-२३, पृ० २३

रासलीला सूर का चरम लक्ष्य है क्योंकि रस पूर्ण रास वेधान्तर की दशा में पहुंचाने में सक्षम है। रास में राधा ही आह्लादिनी शक्ति हैं, यह आह्लादिनी शक्ति ही श्री कृष्ण की सर्वोच्चतम शक्ति है और वह श्री कृष्ण के साथ तद्रूप है, जिसके कारण श्री कृष्ण में अनुग्रह और प्रेम का उदात्तीकरण सम्भव है। रास की रसवत्ता के साथ-साथ नन्ददास ने इसके अधिकारी होने पर भी बल दिया है, क्योंकि गोपियां इसकी अधिपुरी हैं इसलिए भी कृष्ण के साथ रति-क्रीड़ा में काम की लेश मात्र भी अभिव्यक्ति नहीं है -

> तैसेहिं ब्रज की बाम काम रस उत्कट करि कें।
> शुद्ध प्रेममय भई लई गिरिधर उर धरि कें।।[1]

श्री हरवंशलाल जी ने रास रहस्य को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि - "रास शब्द का मूल रस है और रस स्वयं भगवान श्री कृष्ण ही हैं जिस दिव्य क्रीड़ा में अनेक रस एक ही रस में अनन्त-अनन्त रस का आस्वादन करें, एक ही रस समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं आस्वाद्य, आस्वादक, लीलाधाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करें उसका नाम रास है। विश्व की नियमबद्ध गति को भी रास कहा गया है।"[2] सूर की रास लीला में मौलिकता के दर्शन होते हैं यद्यपि यह रस लीला रासपंचाध्यायी को ही आधार रूप में मानकर लिखी गई है। "जीवात्मा का परमात्मा के साथ आनन्दमय होना ही रास है। श्रीकृष्ण ब्रह्म के प्रतीक हैं, राधिका उनकी आह्लादिनी शक्ति और गोपियां भक्त आत्माओं की। इस प्रकार विश्व में जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति का जो शाश्वत रास चल रहा है सूर का रास वर्णन उसी का प्रतीक है।"[3]

चीरहरण लीला

चीरहरण लीला भी श्रीकृष्ण की एक आध्यात्मिक लीला है। यह व्रत,

१- व्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, सि० प० ११४, पृ० ५६

२- डा० हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० २८८

३- डा० शम्भुनाथ पाण्डेय, सूर की काव्य कला, पृ० ५५

जीव, आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का प्रतीक है । चीर माया का प्रतीक है जो ब्रह्म और जीव के मिलन में व्यवधान उपस्थित करती है । गोपियाँ जीवात्माएँ हैं जो श्रीकृष्ण से पूर्ण रूप से तब तक नहीं मिल सकतीं जब तक इन माया रूपी वस्त्रों को त्याग न दें । इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्रीकृष्ण यमुना में स्नान करती हुई गोपियों के वस्त्रों को चुरा कर कदम्ब-वृक्ष पर बैठ जाते हैं । दूसरी व्याख्या के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि वस्त्र लौकिक चेतना के प्रतीक हैं जो ब्रह्म मिलन में बाधक हैं अत: ब्रह्म मिलन से पूर्व इस लौकिक चेतना का परित्याग करना होगा ।

वेणु

सूरदास ने वेणु को लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है । कृष्ण की वेणु से ऐसा मधुर संगीत निकला जिसने समस्त विश्व को सम्मोहित कर लिया जिसे सुन कर सिद्धों की समाधि भंग हो गई और देवताओं के चलते हुए विमान तक रुक गए, देवांगनाएं चित्र में लिखित सी रह गईं । ग्रह और नक्षत्र अपनी-अपनी राशि को छोड़ना भूल गए तथा उनके वाहन ध्वनि में बंध कर रह गए ।

मेरे सांवरे जब मुरली अधर धरी । सुनि सिध समाधि टरी ।
सुनि थके देव विमान । सुर-वधू चित्र- समान ।
ग्रह - नछत्र तजत न रास । बाहन बंधे धुनि- पास ।[१]

कृष्ण की मुरली का ऐसा अलौकिक प्रभाव है कि होठों से लगते ही वह समस्त जग को सम्मोहित कर लेती है, फलस्वरूप समस्त जड़ वस्तु सचल हो उठती है । समस्त चलक वस्तुएं जड़ हो जाती हैं । वायु का वेग तथा यमुना का प्रभाव रुक जाता है ।

जब हरि मुरली अधर धरत ।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहैं, जमुना-जल न बहत ।[२]

इसका लौकिक प्रभाव गोपियों पर देखा जा सकता है जो मुरली की ध्वनि से

१- सूरदास, सूरसागर, पद सं० १२४१, पृ० ४८१
२- सूरदास, सूरसागर, पद सं० १२३८, पृ० ४८०

प्रभावित होकर घर, बार सब कुछ छोड़ कर भागती चली आती है -

(क) जब हरि मुरली अधर धरी ।
गृह- व्यौहार तजे आरज-पथ, चलत न संक करी ।।[1]

(ख) हरि-रस ओपी गोपी ये सब तियनि तैं न्यारी ।
कंवल नैन गोविन्द-चंद की प्रान - प्यारी ।[2]

ऐसे अवसर पर सूर और नन्ददास दोनों ही कवियों ने कृष्ण द्वारा गोपियों को समझाने का वर्णन किया है । सर्वप्रथम कृष्ण उन्हें समझाते हैं, लोक वेद की मर्यादा का वर्णन करते हैं, गोपियों के गृह त्याग और परपुरुष के पास आने की निन्दा करते हैं और अन्त में उनकी कामना की पूर्ति करते हैं ।

वेणु को योगमाया मानते हुए भगवान् की अपार शक्ति का प्रतीक भी माना गया है । इस ब्रह्म मय वेणु की ध्वनि सुनकर सुर-नर-गन सभी निमोहित हो जाते हैं --

शब्द- ब्रह्म- मय वेन बजाय सबै जन मोहे ।
सुर-नर - गन गन्धर्व कछु न जाने हम को है ।।[3]

माखन

माखन को सूरदास ने ज्ञान का प्रतीक माना है । श्री कृष्ण का माखन चुराने से तात्पर्य ज्ञान का संग्रह करना तथा उसे अपने साथियों को दे देने से तात्पर्य ज्ञान का वितरण करने से है ।

१- ब्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली,
२- ब्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, रा० प०, १-६४, पृ० १०
३- ब्रजरत्नदास, नन्ददास, ग्रन्थावली, सि० प०, १-२६, पृ० ४०

करैं हरि ग्वाल संग विचार ।
चोरि माखन खाहु सब मिलि, करहु बाल- बिहार ।
यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कान्हाइ ।
हंसि परस्पर देत तारी, सौंह करि नंदराइ ।
कहां तुम यह बुद्धि पाई, स्याम चतुर सुजान ।
सूर प्रभु मिलि ग्वाल- बालक, करत है अनुमान ।[1]

कमली

यह सूर की मौलिक उद्भावना है । सूरदास ने माया का साम्प्रदायिक रूप में तो वर्णन किया ही है, साथ में उन्होंने उसका प्रतीकात्मक वर्णन भी किया है । कमली भी माया का ही प्रतीक है जिसके माध्यम से सूर ने अनेक लीलाओं को सम्पन्न किया है तथा अनेक तरह से यह उनके काम आती है ।

धनि धनि यह कामरी मोहन स्याम की ।
यहै ओढ़ि जात बन यहै सेज को बसन यहै निवारिनि मेह- बूँद,
- छाँह घाम की ।
याही ओट सहत सीसिर-सीत, याहीं मरमै हरत, है परत ओट
कोटि काम की ।
यहै जाति-पाँति, परिपाटी यह सिखवति, सूरज प्रभु के यह सब
बिसराम की ।।[2]

इस कमली का प्रयोग श्रीकृष्ण ओढ़ने, बिछाने, धूप, छाँह, मेघ, वारिश आदि से बचने के लिए भी करते हैं । इस कमली के बल पर ही उन्होंने अनेक लीलाएँ की -- दैत्यों के विनाश के साथ-साथ अनेक भोग भी इसी के माध्यम से मिले --

"कमरी कैं बल असुर संहारे, कमरिहिं तैं सब भोग[3]

१- सूरदास, सूरसागर, पद सं० ८८७, पृ० ३५१

२- सूरदास, सूरसागर, पद सं० २१३४, पृ० ८८५

३- सूरदास, सूरसागर, पद सं० २१३३, पृ० ८८५

यह कमली श्री कृष्ण की गो चरण लीला का आवश्यक उपादान है, साथ ही इसका कृष्णवर्ण उसके भ्रामक रूप का परिचायक भी है।

तुलसी ने अपनी काव्यभाषा का आधार अवधी और ब्रजभाषा दोनों को बनाया है। आधार भाषा का वह रूप होता है जिसे रचनाकार प्रायः समाज से ग्रहण करता है। काव्यभाषा में मुख्य रूप से भाव चित्रों का नियोजन किया जाता है। सगुण काव्य में किसी प्रकार की गोपनीयता, अप्रत्यक्षता तथा रहस्य न होने के कारण प्रतीकात्मकता के लिए अधिक अवकाश था ही नहीं, फिर भी तुलसीदास ने अल्प मात्रा में ही इसके प्रयोग द्वारा प्रतीक विधान किया है। तुलसीदास ने मुख्य रूप से चातक और चिन्तामणि के प्रतीकों का प्रयोग किया है। चातक एकनिष्ठ भक्त का प्रतीक है -

> रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
> तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग।।[१]

प्रेम को निभाना और प्रेम की रक्षा करने के लिए भी चातक को ही प्रतीक रूप में लिया गया है।

चिन्तामणि को तुलसी ने भक्ति तथा राम का प्रतीक माना है। भारतीय संस्कृति के प्रतीक गणेश, शिव, गुरु, कलश, नारियल, पान, सुपारी, धूप, चन्दन, स्वास्तिक, त्रिशूल, डमरु, घंटी, शंख, माला, अल्पना, यज्ञोपवीत, तिलक, शक्ति, श्री, ओ३म्, लक्ष्मी, कमल, सूर्य, दीपक इत्यादि को तुलसीदास ने भी प्रतीकात्मक रूप में अपने काव्य में स्थान दिया है।

भारतीय संस्कृति में विघ्नहर्ता गणेश जी का विशिष्ट स्थान है। किसी भी शुभ कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व गणेश पूजन या श्री गणेशाय नमः कह कर कार्य को प्रारम्भ करने में, उसकी निर्विघ्न समाप्ति का विश्वास है। तुलसीदास ने भी अपने ग्रन्थ की रचना के पूर्व गणेश जी की स्तुति की है।

१- दोहावली, दोहा २८०, पृ० ६५

(क) जो सुमरत सिधि होइ गन नायक करिवर बदन ।
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुन सदन ।।[१]

(ख) गाइये गनपति जगबंदन । संकर-सुवन भवानी - नंदन ।।
सिद्धि- सदन, गज-बदन, विनायक । कृपा-सिंधु, सुंदर सब-लायक ।
मोदक - प्रिय, मुद-मंगल-दाता । विद्या-बारिधि, बुद्धि- विधाता ।।
मांगत तुलसीदास कर जोरे । बसहिं रामसिय मानस मोरे ।।[२]

गनपति का ध्यान करते ही हमारे नेत्रों के सामने गजशीश, निरावरण शरीर पर यज्ञोपवीत धारण किए हुए, कर में कमल और मूषक को वाहन के रूप में ग्रहण किए हुए रूप की होती है ।

प्राचीन काल से लेकर आज तक के सभी कवियों ने शिव के शिवत्व की महिमा का गान किया है । शिव को शिवम् अर्थात कल्याण का प्रतीक माना गया है । त्रिशूल एवं डमरू शिव के प्रतीक हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में लोक देवताओं को भी समुचित सम्मान प्रदान कर लोक जीवन की लड़खड़ाती हुई जिन्दगी को आलोकित चेतना शक्ति से परिपूर्ण बनाया है । निराशा एवं भग्न मनोरथ जीवन में शाश्वत, मूल्यों की स्थापना की है और एक आस्था संभूत जीवन दर्शन को सम्मुख रखा है । लोक देवताओं को ग्रामों में अनेक प्रकार से व्यक्त किया जाता है । मूर्ति किसी लकड़ी, पत्थर या धातु की होती है परन्तु अधिकतर बिना मूर्ति के ही काम चलाया जाता है । कुछ प्रतिष्ठित देवियों को छोड़कर शेष की प्रतिष्ठा के लिए मढ़िया या मन्दिर की आवश्यकता भी नहीं पड़ती । मिट्टी या पत्थर का चबूतरा बनाकर गोल-मटोल अनगढ़ पत्थरों का ढेर लगाकर रख दिया करते हैं । पत्थरों पर सिन्दूर या

१- रामचरितमानस, सोरठा, १, पृ० २
२- विनयपत्रिका, स्तुति, पृ० १

काला रंग पुता रहता है । पास ही त्रिशूल और ध्वजा भी गड़ी रहती है । लोक देवताओं (ग्राम देवताओं) का स्थान बहुधा किसी सड़क के किनारे नदी के तट पर या किसी ऊंचे टीले या पहाड़ी पर होता है । तुलसीदास ने आर्य-अनार्य सांस्कृतिक प्रणालियों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए शिव-पार्वती की पूजा को पर्वत-पूजा के रूप में प्रतिपादित किया है । गणेश एक व्यापक देवता है । पर्वत पूजा एवं वन-पूजा एक दूसरे के परिपोषक होते हुए पारस्परिक प्रगाढ़ सम्बन्ध के प्रतीक हैं ।[1]

अन्य मंगलमय शुभ सूचक प्रतीकों का वर्णन भी तुलसीदास ने किया है -

(क) विविध विधान बाजने बाजे । मंगल मुदित सुमित्रां साजे ।
हरद दूब दधि पल्लव फूला । पान पूगफल मंगल मूला ।।[2]

(ख) अच्छत अंकुर लोचन लाजा । मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा ।।
छुहे पुरट घट सहज सुहाए । मदन सकुन जनु नीड़ बनाए ।।[3]

(ग) विविध भाँति मंगल कलस गृह गृह रचे संवारि ।[4]

(घ) गलीं सकल अरगजां सिंचाईं । जहँ तहँ चौकें चारु पुराईं ।।[5]

(ङ) सफल पूगफल कदलि रसाला । रोपे बकुल कदंब तमाला ।।[6]

इस प्रकार तुलसीदास ने अपने काव्य में प्रतीकों एवं अन्योक्तियों के द्वारा अपने मन्तव्यों को प्रस्तुत किया है । रामचरित मानस के आरम्भ में उन्होंने मानस के स्वरूप, निर्माण के विभिन्न प्रसंग, रचना के हेतु आदि को विभिन्न उपमानों द्वारा जिस कौशल के साथ रूपायित किया है वह काव्य कला का एक विलक्षण आदर्श है ।

१- रामभूर्ति त्रिपाठी, तुलसी, पृ० ६६

२-३-४- रामचरित मानस, चौपाई, २, ३, दोहा - ३४४, पृ० ३५४, ३५३

५-६ रामचरित मानस, चौ० ३, ४, पृ० ३५२

सूफी ब्रह्म तथा उसके प्रेम के उपासक हैं और इस प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए ही उन्होंने प्रतीकों का आश्रय लिया है। प्रतीक दो शब्दों के योग से बना हुआ है प्रति + इक। प्रति का अर्थ है अपनी ओर इक का अर्थ है झुका हुआ। जिससे प्रतीत हो या किसी वस्तु की अभिव्यक्ति हो वही प्रतीक है।

जायसी का लक्ष्य पाठकों के मन को सामान्य लौकिक प्रेम जगत में पहुंचाना था इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने प्रतीकों का सहारा लिया। परम सौन्दर्य-शाली ब्रह्म का वर्णन करने में इन सूफी कवियों ने अपने को असहाय सा प्राप्त किया था अत: अपनी अनुभूति को वाणी देने के लिए इन कवियों को प्रतीकों का आश्रय लेना आवश्यक हो गया था। डा० चन्द्रबली पाण्डेय का कथन है कि "सूफियों के रक्षक उनके प्रतीक ही रहे हैं। यों तो किसी भी भक्ति भावना में प्रतीकों की प्रतिष्ठा होती है पर वास्तव में तसव्वुफ में उनका पूरा प्रसार है। प्रतीक ही सूफी साहित्य के राजा हैं।"[१] जायसी ने पद्मावती को ज्ञान या बुद्धि के रूप में लिया है। बुद्धिमानी का परिचय हम "राघव चेतन देशनिकाला खंड" में मिलता है जहां वह इस आदेश का दुष्परिणाम जानकर राघव चेतन को धन से सन्तुष्ट करना चाहती है --

ज्ञान दिस्टि धनि अगम बिचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निसारा।।[२]

बुद्धिमानी का एक अन्य उदाहरण हम "पद्मावती गोरा बादल संवाद खंड" में पाते हैं जहां वह रत्नसेन की जीवन-रक्षा के लिए पैदल चलती हुई गोरा बादल के पास पहुंचती है। रानी की इस दशा को देख कर दोनों का हृदय पसीज जाता है और वह युद्ध के लिए तत्पर हो उठते हैं। जायसी और मंझन दोनों ने रत्नसेन और मनोहर को सच्चे साधक के रूप में चित्रित किया है और जीवात्मा को परमात्मा

१- डा० चन्द्रबली पाण्डेय, तसव्वुफ और सूफीमत, पृ० ६७

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, राघव चेतन देश निकाला खण्ड, पृ० २०० ।

से मिलाने वाले प्रेम पंथ का स्थूलाभास, उन नायकों का अपनी नायिकाओं तक पहुँचाने वाले प्रेमपंथ के द्वारा स्पष्ट किया है। जायसी ने नागमती को दुनियां के गोरख धन्धे या जंजाल का प्रतीक माना है जो कि रत्नसेन को इस प्रेम पंथ में अग्रसर होने में बाधा पहुँचाती है। अलाउद्दीन को माया का प्रतीक माना है जो स्वयं माया में फंसा हुआ है। वह छली विश्वासघाती, आक्रामक और जिद्दी है। जायसी ने परिस्थितियों के अनुकूल उसके मनोभावों एवं आचरण का प्रदर्शन किया है। राघव चेतन को शैतान का प्रतीक माना है जिसमें जरा भी लज्जा या कृतज्ञता के भाव नहीं है। जिस राजा के यहाँ वह जन्म भर रहा उसके द्वारा देश से निकालने का आदेश सुनते ही उसमें बदला लेने की भावना भर जाती है। इसके साथ ही परमेश्वर को प्राप्त करने का मार्ग बताने वाले सुआ को सद्गुरु का प्रतीक माना गया है -

"गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा"[१]

प्रतीक विधान में भी अर्थ-श्लेष जैसी प्रक्रिया होती है परन्तु प्रतीक के अर्थ आरोपित होते हैं।

सूफी धर्म के साधना पक्ष को अभिव्यक्त करने के लिए जायसी ने साधना-परक प्रतीकों का भी सहारा लिया है। जैसे --

पाँच कोतवाल	-	काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ
नौ पौरि	-	शरीर के नव द्वार
नीर	-	इड़ा
खीर	-	पिंगला इत्यादि

साधनापरक प्रतीकों के साथ-साथ जायसी ने संख्या मूलक प्रतीकों का भी वर्णन किया है -

(क) पाँच बरस महँ भय सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी ॥[२]
भै पदुमावति पंडित गुनी। चहूँ खंड के राजन्ह सुनी ॥

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, सिंघलद्वीप खंड, पृ० ३८

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, जन्म खंड, पृ० २०

(ख) सात खंड ऊपर कविलासू । सो पदमिनि कहँ दीन्ह निवासू ।।[1]

(ग) तीन लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि ।।
प्रेम छांडि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि ।।[2]

इन्होंने अपने हृदय के प्रेम की पीर को व्यक्त करने के लिए आत्मा और परमात्मा की एकता के साथ दाम्पत्य भावना के प्रतीकों को भी   किया है ।

इसी प्रकार मंझन ने भी कुछ संख्या मूलक प्रतीकों का भी प्रयोग किया है । जैसे --

(क) तीनि भुवन चहुं जुग तें राजा । आदि अंत जग तोहि पै छाजा ।[3]

(ख) चौदह बरिस इगारह मासा । आवा दिन स्वाति भौम बेराशा ।।[4]

जायसी ने परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग तो किया ही है साथ ही कुछ प्रतीकों की नवीन उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं । पद्मावती को परम ज्योति का प्रतीक माना है । यह जगत् उसी का प्रतिबिम्ब है । उसी की छाया घट-घट में प्रतिबिम्बित है । मानसरोदक खण्ड में पद्मावती के इस रूप का दर्शन वर्णित है --

नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर ।।[5]

मंझन ने भी मधुमालती का रूप मात्र रूप ही नहीं माना है वरन् वह उस परम रूप का केन्द्र बिन्दु है जो समस्त सृष्टि में व्याप्त है, उस प्रेमिका के रूप के माध्यम से वह उस दिव्य रूप का साक्षात्कार करता है जो शक्ति और शिव है, जो त्रिभुवन

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, जन्म खंड, पृ० २०

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, राजा सुआ संवाद खण्ड, पृ० ३६

३- मंझन, मधुमालती, पृ० ३

४- मंझन, मधुमालती, पृ० ५२

५- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, मानसरोदक,खण्ड, पृ० २५

का महा बीज है, जो नामात्त्व में अपना विकास करके त्रिभुवन में व्याप्त हुआ है और उसका भोग कर रहा है।[1]

अब लहि बिनु जिय जीवन सारा। बाजु देखि तोहि जीउ सँभारा।
देखत छिन पहिचानौँ तोही। इहै रूप जेहँ छंदरा मोही।
इहै रूप सकती औ सीऊ। इहै रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
इहै रूप परगट बहु भेसा। इहै रूप जग रांक नरेसा।
इहै रूप त्रिभुवन जग बैरसे महि पयाल आगास।
सोई रूप परगट मैं देखा तुम मायँ परगास।।[2]

इन कवियों ने सूर्य और चन्द्र जैसे प्रतीकों का प्रयोग बहुतायत से किया है।

"चांद के रंग सुरुज अस राता। देखै जगत सांझ परभाता।।[3]

डा० अग्रवाल का कथन है कि "प्रेम काव्यों में सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को कवियों ने नायक-नायिका के रूप में अद्भुत पूर्व माधुर्य प्रदान किया है। चन्द्र और सूर्य का ही नामान्तर गंगा-यमुना है इन्हें ही इड़ा पिंगला कहा जाता है। इन सरल प्रतीकों का भी जायसी ने बड़े कौशल से प्रयोग किया है।"[4] जीवात्मा का परमात्मा के प्रति प्रेम को इन कवियों ने अन्य प्रतीकों द्वारा भी प्रस्तुत किया है। जैसे -- कमल और सूर्य, दीपक एवं पतंग, चुम्बक और लोहा, फूल और भ्रमर इत्यादि।

जायसी ने जनमानस से गृहीत प्रतीकों को भी अपने विचारों और भावों के स्पष्टीकरण का माध्यम बनाया है। पद्मावत में लोक प्रतीकों की भी भरपूर व्यंजना मिलती है। पद्मावत के अन्य खण्ड में बिल्ली को काल और पक्षी को आत्मा के रूप में चित्रित किया गया है।--

"जेहि घर काल मजारी नाचा। पँखिहि नाउँ जीउ नहिं बांचा।[5]

१- मंझन, मधुमालती, पृ० २४
२- मंझन, मधुमालती, पृ० ६६
३- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पदमावती रत्नसेन भेंट खंड, पृ०१३५
४- डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पदमावत- प्राक्कथन, पृ० ५७
५- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, अन्य खण्ड, पृ० ३१

जिस घर में काल रूपी बिल्ली रहती है उस घर में पक्षी का बच पाना मुश्किल होता है इसी प्रकार सिंहलद्वीप खण्ड में जीवन की नश्वरता को मिट्टी के बर्तन के समान माना गया है ।

'परा जो डाँड़ जगत सब डाँड़ा । का निचिंत माटी का भाँड़ा ।।'[1]

विरह में जलती हुई नागमती के लिए जायसी ने 'दीये की बत्ती' का प्रतीक उपस्थित किया है ।

'बरै विरह जस दीपक बाती । भीतर बरै, उपर होइ राती ।'[2]

पद्मावती - नागमती विलाप खण्ड में नायिका के नेत्र से ढलते हुए आँसुओं के लिए ढोल का प्रतीक प्रस्तुत किया है --

'नैन ढोल भरि ढारै, हिये न आगि बुझाइ ।'[3]

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि पद्मावत में अन्य प्रतीकों के साथ-साथ लोक जीवन से गृहीत प्रतीकों की भी पर्याप्त व्याख्या की गई है ।

सूफी कवियों के प्रतीक वर्णन के सम्बन्ध में डा० सरला शुक्ला ने लिखा है - 'सूफियों को प्रतीकों की आवश्यकता अपनी भावनाओं के स्पष्टीकरण के हेतु पड़ती है । सूफी सौन्दर्यशाली ब्रह्म तथा उसके परम प्रेम का उपासक है । वह अपने प्रियतम के नूर का अनुभव करता है तथा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है इसी अभिव्यक्तिकरण में उसे असमर्थ होकर प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है । परम सौन्दर्यशाली ब्रह्म का वर्णन करना असम्भव सा है, फिर उसकी अनुभूति तो और भी अधिक अप्रेषणीय है, जो अनुभव करता है वही जानता है, दूसरा कोई जानता नहीं और जान सकता भी नहीं । जो जानता है वह वाणी के माध्यम से उसे पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं कर सकता और यही कारण है कि सूफी साधक संकेतों तथा प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करता है ।'[4]

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, सिंहलद्वीप वर्णनखण्ड, पृ० १६
२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड, पृ० १३५
३- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली(पद्मावती नागमती विलाप खण्ड, पृ० २६४ ।
४- डा० सरला शुक्ल, हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० २१३

काव्यभाषा अभिव्यक्ति के नए आयामों की खोज में निरन्तर प्रवृत्त रहती है । काव्य-भाषा को सर्जनात्मकता प्रदान करने में बिम्बों का विशेष योगदान है । प्रतीक और बिम्ब ये दो काव्य भाषा के अति आवश्यक तत्व हैं । ये प्रतीक और बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी काव्य भाषा में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं । वस्तुत: बिम्बों के माध्यम से विकसित अनुभव रचना का भाषा में एकदम घुलमिल जाता है । इस तरह सम्मिश्रित अनुभवों को स्पर्श कर सकने की क्षमता बिम्बों में होती है ।

बिम्ब ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थितियों का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है । बिना भावात्मकता के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि ही जा सकती है न रम ही सकती है । अत: जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है ।[1]

बिम्बों के स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसमें प्रस्तुत अप्रस्तुत के द्वैत की अवस्थिति नहीं रहती लेकिन बहुत से बिम्ब ऐसे हैं जिसमें यह द्वैत है और इसके बावजूद उनकी सम्प्रेषण प्रक्रिया निर्मित है । प्रस्तुत अप्रस्तुत के द्वैत से उद्भूत होने वाले प्रभाव से ये बिम्ब अपने सम्प्रेषण से शुद्ध बिम्बों जैसी अर्थ क्षमता विकसित करते हैं । बिम्ब काव्य का प्राण होते हैं । साहित्यिक - बिम्ब कवि कल्पना द्वारा निर्मित होते हैं अत: काल्पनिक बिम्बों का क्षेत्र पूर्ण तथा काव्यगत बिम्बों का क्षेत्र है । इतना ही नहीं बिम्ब कवि की काव्यगत भाषा का भी परिचायक है । कवि अपने अमूर्त एवं सूक्ष्म भावों-विचारों को स्पष्ट करने के लिए बिम्ब और कल्पना का प्रयोग करता है । विचारों को व्यक्त करने के लिए बिम्बों का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है । कबीर द्वारा प्रयुक्त यह बिम्ब अत्यन्त मार्मिक है --

> 'जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
> फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तन्त कथ्यो ग्यानी'[2]

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, पृ० १४७-१४८

२- हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६८

इसमें केवल मार्मिकता ही नहीं है अपितु व्यंजकता की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कवि ने इस बिम्ब के द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।दोनों ही मूलत: एक हैं, दोनों में अन्तर केवल माया के ही कारण है। यदि इसमें माया का निवारण कर दिया जाए तो आत्मा और परमात्मा एक हो जाए। इस दोहे में घड़ा माया का प्रतीक है। कवि ने इस बिम्ब के द्वारा अपने भावों को व्यक्त किया है। आलोचकों ने कबीर की भाषा को मिश्रित और सधुक्कड़ी कहा है। इस मत का समर्थन करने वालों में मुख्य रूप से रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। कबीरदास ने खड़ी बोली का प्रयोग मुख्य रूप से किया है परन्तु यह तथ्य भी निर्भ्रान्त है कि उनकी भाषा का आधार रूप ब्रज या मध्यप्रदेश की तत्कालीन परिनिष्ठ काव्यभाषा है। भाषा के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि उन्होंने भाषा को "संस्कृत के कूप से छुड़ा कर उन्होंने भाषा के बहते नीर में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में भाषा की सृष्टि कर रहे थे।"[1] विचार और अनुभूति की संश्लिष्टता भाषा की विशेषता है।

जायसी के बिम्बों का वर्णन भारतीय जन-जीवन से गृहीत होने के कारण अतुलनीय है -

> मुहमद जीवन जल भरन रहँट-घरी कै रीति।
> घरी सो आई ज्यों भरी, ढरी, जनम गा बीति ।।[2]

रहट के द्वारा उन्होंने जल भरने और खाली होने का जो बिम्ब प्रस्तुत किया है उसके द्वारा मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक की व्यंजना प्रस्तुत कर दी है। इस दोहे में कवि ने काव्य-भाषा सम्बन्धी उदात्ता और आत्मविश्वास को प्रस्तुत किया है।

१- हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६८

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड, पृ० १६

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। उन्होंने अपने निबन्ध कविता क्या है चिन्तामणि के अन्तर्गत बिम्बविधान को जगह-जगह पर संश्लिष्ट भी किया है।[१]

यह एक विचित्र विरोधाभास है कि शुक्ल जी ने काव्यालोचन में 'संश्लिष्ट' शब्द का प्रयोग तो किया है परन्तु इसके बावजूद कविता की भाषा में उन्होंने चित्रात्मकता को केन्द्रीय स्थान दिया है, अर्थ संश्लेषण तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँच पाई है। कविता क्या है निबन्ध में कविता की भाषा सम्बन्धी विवेचन इसी दृष्टि से किया गया है।

भारतीय काव्य में बिम्ब का प्रयोग बराबर होता है। बिम्ब विधान के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने कहा है -- 'काव्य में बिम्ब स्थापना प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अंग्रेजी कवि शैली इसके लिए प्रसिद्ध हैं।[२] तुलसीदास की मन:स्थिति जैसी सांगरूपक के प्रति है वैसी ही स्थिति सूरदास की उत्प्रेक्षा के प्रति है पर ये दोनों ही अलंकार बिम्ब विधान के अन्तर्गत आ जाते हैं। सांगरूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साथ-साथ उल्लेख होता है। सूरदास ने उत्प्रेक्षा अलंकार को अधिक प्रिय बनाया है। इसमें भेद ज्ञानपूर्वक उपमेय में उपमान की प्रतीति होती है। सौन्दर्य के रूप-विधान में कवि ने विविध दृश्यों को बिम्ब रचना के सहारे दर्शाया है। बिम्ब में एक साथ अनेक अर्थों के भावों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है।

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, पृ० १४५

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ११७

निष्कर्ष :—

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि काव्य भाषा अपने में सम्पूर्ण होती है । भाषा का यदि कहीं पूरा का पूरा प्रयोग होता है तो वह काव्य ही है । काव्य-भाषा में सामान्यत: हम भाषा तथा सर्जनात्मक गद्य की भाषा दोनों को ही समाहित करते हैं । काव्य की सफलता के लिए कवि तथा पाठक का तादात्म्य आवश्यक है और ये तभी सम्भव है जब कवि ऐसी भाषा का प्रयोग करे जो उसके भावों को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर सके । भाषा जहाँ विचारों को व्यक्त करने का माध्यम बनती है वहीं वह काव्य में रचना का अभिन्न अंग भी है । अत: काव्य भाषा माध्यम नहीं है वरन् पूरा का व्यक्तित्व है । विचार और अनुभूति की संश्लिष्ट भाषा की विशेषता है । भाषिक संरचना विचार और अनुभूति को एक साथ सक्रिय करती है यही सर्जन के क्षेत्र में काव्य की विशिष्टता है । रचना और जीवन को परस्पर जोड़ने वाला तत्व भाषा ही है । भाषा की एक अन्य विशेषता है कि वह सदैव गतिशील रहती है । प्रतीक और बिम्ब काव्य भाषा की निर्माण प्रक्रिया के विशिष्ट तत्त्व हैं । प्रतीक और बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं । प्रतीक विधान काव्यभाषा के विकास का एक स्तर है । शब्द-योजना अनुभव के तत्त्वों का प्रतीक है और इनकी सफलता तभी है जब वह मानवीय यथार्थ के गहरे से गहरे स्तर का भी स्पर्श कर लें । किसी भी अनुभव को सम्प्रेषित करने का अर्थ उसके तत्त्व और उस तत्त्व के अर्थ दोनों को सम्प्रेषित करना है । इस तरह शब्द-योजना और प्रतीक इन दोनों का सम्बन्ध काव्य को जन्म देने वाले अनुभव से होता है ।

काव्यभाषा अभिव्यक्ति के नए आयामों की खोज में निरन्तर प्रवृत्त रहती है । काव्य-भाषा को सर्जनात्मकता प्रदान करने में बिम्बों का विशेष योगदान है प्रतीक और बिम्ब ये दो काव्य-भाषा के अति आवश्यक तत्त्व हैं ।

उपसंहार

'भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत निहित शास्त्रीयता का स्वरूप और प्रवृत्ति' — के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय मनीषा में काव्य के लिए जिस शास्त्र की व्यवस्था की गई है उसे ही काव्यशास्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है । भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि सिद्धान्तों के मूल तक पहुँचने तथा उसके अन्तिम सत्य को पकड़ने की है । काव्यशास्त्रीय चिन्तन के विविध सम्प्रदायों में यह प्रवृत्ति दृष्टव्य है । अलंकार सिद्धान्त में भी आचार्यों द्वारा निष्कर्षों के अन्तिम बिन्दु तक पहुंचने की प्रवृत्ति स्पष्ट है, चाहे वह आचार्य भामह हों या दण्डी, वामन हों या उद्भट । इन सभी आचार्यों ने अलंकारों की परिभाषाएँ अपने-अपने मतानुसार दी है । आचार्य भामह ने अलंकारों की परिभाषाएँ वक्रतानुक्रम में दी, दण्डिन ने स्वाभावोक्ति और वामन ने सादृश्य को अलंकार का मूल हेतु माना है । भारतीय काव्यशास्त्र की गम्भीरतम उपलब्धि शब्द तथा अर्थ की समुचित पकड़ और उसकी गम्भीरतम मीमांसा है । भारतीय काव्यशास्त्र की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि, प्रतिपादन का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण है । पाश्चात्य चिन्तकों की भाँति यहाँ भी यही दृष्टि मिलती है कि काव्य में सर्वोच्च एवं सर्वथा प्रमुख सम्बन्ध की प्रतिष्ठा कराई जानी चाहिए । यह दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन की मूल चेतना से सम्बद्ध है । यही आभिजात्य चिन्तन का मूलाधार है ।

भारतीय काव्यशास्त्र की एक अन्य विशेषता रस को सर्वोपरि महत्व देकर स्थापित करने का दृष्टिकोण है । शब्दार्थ और उसके परिणामस्वरूप आनन्द या रस का गम्भीर विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र की महत्वपूर्ण उपलब्धि है । काव्य-रचना मात्र कवि का वस्तुनिष्ठ प्रयास नहीं वरन् वह शब्द रचना के माध्यम से कवि की रचनात्मक आस्तिकता की पहचान है । प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने शास्त्रीय चिन्तन के स्वरूप के सम्बन्ध में अपनी-अपनी शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है । इस शास्त्रीयता को ही अंग्रेजी में क्लासिक कहा गया है तथा इस शब्द की व्याख्या भी

अनेक प्रकार से की गई है । टी० एस० इलियट के अनुसार अभिजात कृति में आदर्श और सौन्दर्य के रूपायन के साथ-साथ पूर्णता और अनुपात को शाश्वत माना गया है । आनन्द के साथ-साथ व्यापकता भी इसकी एक विशेषता है । वास्तव में काव्य रचना के लिए आचार्यों द्वारा जो नियम निर्धारित किए जाते हैं उन्हीं के अनुसार काव्य की समीक्षा की जाती है । भारतीय काव्यशास्त्र में भी यह शास्त्रीय प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है और इसी शास्त्रीयता के आधार पर आगामी आचार्यों ने अपनी रचनाएँ की हैं ।

नव्य क्लैसीसिज्म युग ने पुनर्जागरण काल के अनियन्त्रित रूप को नियंत्रित रूप प्रदान किया । नव्य क्लासिक युग के प्रारंभ समीक्षकों में ड्राइडन को नव्य क्लैसिक का अग्रदूत माना जाता है । उसने कवियों के लिए अध्ययन, अभ्यास,आत्म परीक्षा, भावना, नियन्त्रण एवं अनुकरण को आवश्यक माना था । उसके अनुसार क्लैसिक साहित्य को आदर्श रूप में ग्रहण कर ही संयम और नियन्त्रण बनाए रखा जा सकता है । जॉनसन पोप इत्यादि ड्राइडन के भक्त थे । पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विचारों के अनुरूप काव्य को व्याख्या का प्रयत्न किया साथ ही कल्पना तथा नीर-क्षीर-विवेक, काव्य के ये दो मूल स्रोत माने थे । परिष्कृत अभिव्यंजना द्वारा व्यक्तित्व प्रकाशन के दृष्टिकोण को भी अपनाया गया तर्क, बुद्धि, अध्ययन, अभ्यास आदि तत्वों का रचनात्मक कला से सम्बन्ध जोड़ा, इसके साथ ही पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने वाग्विदग्धता तथा काव्य की आनन्दप्रदायिनी शक्ति की उन्मुक्तता पर विशेष बल दिया ।

भक्त कवियों ने काव्यशास्त्र के परम्परागत नियमों को तोड़कर रस, छन्द, अलंकार, ध्वनि की रूढ़ियों का तिरस्कार करते हुए काव्यानुभव को सीधे-सीधे जनमानस में जोड़ने का प्रयास किया फिर भी काव्य के सम्बन्ध में अनेक ऐसे तत्व मिलते हैं जो अभिजात्य से सम्बन्धित हैं, क्योंकि काव्य केवल व्यक्तित्व रचना नहीं है वरन् उसमें परम्परा के प्रति अति निरन्तर भाव से व्यक्त होती रहती है । अभिजात्य का तात्पर्य रचनात्मक उत्कृष्टता की काव्य में अभिव्यक्ति, अर्थात् रचना के भावनात्मक मूल्यों, कलात्मक तत्वों तथा अन्य निहित मूल्यों को उस ऊंचाई तक

पहुँचा देने की प्रवृत्ति इनमें सर्वोपरि होती है । भक्तिकालीन कवियों में सूर,तुलसी, जायसी इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं, जिनमें अभिव्यक्त होने का मोह है । कबीर में यह प्रवृत्ति न के ही बराबर है । कबीर की अनेक साखियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने शास्त्र को नगण्य माना है । कबीर के काव्य का प्रयोजन भक्ति काव्य रचना से प्राप्त आनन्द-प्राप्ति और मोक्ष की सिद्धि है । कबीर ने ज्ञान को स्वीकार किया है । परन्तु इसको स्वीकार करते हुए भी उन्होंने भक्ति को ही श्रेष्ठ माना है । फिर भी यहाँ शास्त्रीयता की अभिव्यक्ति के पूर्णतः अभाव के बाद भी पारस्परिक तुलना की दृष्टि से इन कवियों के काव्यादर्शों तथा निहित रचनात्मक मूल्यों का अध्ययन किया गया है । निर्गुण-भक्त कवियों की तुलना में सगुण-भक्त कवि काव्य-सिद्धान्त-निरूपण की ओर अधिक उन्मुख रहे हैं । काव्य-सिद्धान्तों में मौलिकता के स्थान पर कवियों की प्रवृत्ति अधिकतर परम्परागत मान्यताओं की ओर अधिक रही है । काव्य प्रयोजन-निर्धारण में विवेच्य कवियों ने परम्परा का ही अनुसरण किया है, फलस्वरूप आनन्द, भक्ति में प्रवृत्ति, लोकमंगल की भावना और मोक्ष लाभ उनके मुख्य प्रयोजन हैं । काव्य से आनन्द की प्राप्ति की चर्चा प्रायः सभी कवियों ने की है, निष्कर्षतः अलौकिक आनन्द को ही महत्ता दी है । रामभक्त कवि तुलसी ने मर्यादा का मुख्य रूप से पालन किया है, कृष्णभक्ति काव्यधारा और प्रेममार्गी काव्यधारा में स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति के लिए कुछ अवकाश होते हुए वहां भी इन कवियों ने मर्यादावादी दृष्टिकोण अपनाया है । काव्य हेतुओं के सम्बन्ध में प्रायः सभी कवियों ने मुख्य रूप से ईश्वर-कृपा को ही स्वीकृति प्रदान की है । इन कवियों द्वारा ग्रन्थारम्भ की पूर्व गणेश, सरस्वती, शिव, राम, कृष्ण आदि का वंदना इसी विश्वास का परिणाम है । दैवी-कृपा का मार्ग प्रशस्त करने वाले गुरु के अनुग्रह को भी इन कवियों ने काव्य-हेतु के रूप में ग्रहण किया है । भक्त कवियों ने स्वानुभूति को विशेष महत्व दिया है । रचनात्मक कल्पना के साथ उन्होंने इस बात पर अत्यधिक बल दिया कि कवि अपनी ही अनुभूतियों से विमोहित होकर काव्य-सर्जन करे ।

अप्रस्तुत के अन्तर्गत उन सभी तत्वों का समावेश किया गया है जिसको हम काव्य का आधार मानते हैं। अप्रस्तुत के माध्यम से कवि अपने काव्य को गतिशीलता प्रदान करता है तथा अपने आन्तरिक उद्गारों को अभिव्यक्त करने के लिए इसका सहारा लेता है। लेकिन यह अप्रस्तुत सफल तभी होता है जब यह प्रस्तुत की तरह भावोत्तेजक होता है। इस प्रकार अप्रस्तुत योजना का हृदय की अनुभूति से अत्यधिक सम्बन्ध होता है। अप्रस्तुत योजना करने को तो प्रत्येक कवि कर सकता है परन्तु उसी कवि की अप्रस्तुत योजना सार्थक होती है जो अपनी कल्पना को जितनी अच्छी तरह भावों द्वारा प्रदर्शित करता है।

काव्य में भाव ही सब कुछ नहीं होता, भाषा भी बहुत कुछ है। सफल काव्य की रचना के लिए सशक्त भाषा का होना आवश्यक होता है। भाषा जितनी अधिक सशक्त होती है वह भावों को उतनी ही अच्छी तरह अभिव्यक्त करती है। भावों के अनुकूल भाषा का होना नितान्त आवश्यक है। इस सन्दर्भ में मध्यकालीन काव्य भाषा सबसे अधिक प्रभावित हुई है, क्योंकि इसके दोनों प्रमुख ग्रंथ अलग-अलग भाषा पर आधारित हैं। इन्हों की भाषा भी अपनी सरलता के कारण ही लोकप्रिय हुई है। इन्होंने अपनी एक से एक उत्प्रेक्षाओं को, रहस्यवाद को सही तरह भाषा के द्वारा प्रयुक्त किया है। जायसी की काव्य-भाषा अपनी अपनी स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। इसमें ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों से कई बातों में भिन्नता है। इनकी भाषा संस्कृत की कोमलकान्त शब्दावली पर अवलम्बित नहीं है वरन् ठीक इसके विपरीत सरल-सीधी और बोल-चाल की भाषा है। जायसी ने अपने अप्रस्तुतों को कभी स्थूल बना के लिया, कभी काल्पनिक और कभी प्रत्यक्ष रूप से। अप्रस्तुतों का वर्णन करने के लिए उसका वर्गीकरण भी आवश्यक है। विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक रूप में देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि अप्रस्तुतों के वर्गीकरण के बिना न तो काव्य की कलात्मक परिणति सम्भव है और न ही उसके अपेक्षित विश्लेषण के बिना उसका सर्वांग विवेचन। अप्रस्तुतों का वर्गीकरण एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो कि कवि को पुनरावृत्ति से बचाती है। अप्रस्तुतों का वर्गीकरण इसके चार आधारों पर किया है —

(१) मानव वर्ग, (२) प्राकृतिक वर्ग, (३) पशु-पक्षी एवं जीव वर्ग (४) काल्पनिक वर्ग । इन अप्रस्तुतों का वर्गीकरण इसमें निर्गुण और सगुण दोनों सम्प्रदाय के कवियों के काव्य को लेकर किया है । संत काव्य से प्रमुख रूप से दादू, कबीर, और सुन्दरदास को, सूफी से जायसी और मंझन तथा सगुण काव्य-धारा से सूरदास, नन्ददास और तुलसीदास को लिया गया है ।

काव्यरूप के अन्तर्गत काव्य-रूप की विविध वर्णनगत रूढ़ियों, वर्णनों, कवि समयों आदि के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति का निरूपण किया गया है । भक्ति-काव्य की मूल चेतना संवेदनात्मक है तथा जीवन की सामान्य अवस्थाओं से उनका अनिवार्य सम्बन्ध भी है फिर भी भक्ति काव्य रचनात्मकता की दृष्टि से संस्कृत के काव्यगत सम्बन्धों से अपने को जोड़े हुए है । ऐसी स्थिति में लोकात्मक मूल चेतना के होते हुए भी यह सम्पूर्ण काव्य भारतीय काव्य-शास्त्र से अपने को अलग नहीं कर सका । इस युग के सूर और तुलसी जैसे कवि रचनात्मक धरातल पर अपने को शास्त्र से जोड़े हुए हैं । भक्ति कवियों में मात्र कबीर ही इसके अपवाद नहीं हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति नितान्त लोकात्मक रही है । कथानक रूढ़ियों के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि विभिन्न कथा कहानियों में बार-बार व्यवहृत होने वाली एक जैसी घटनाओं एवं एक जैसे विचारों को कथानक रूढ़ि की संज्ञा दी गई है । ये कथानक रूढ़ियाँ किसी कवि की नवीन कल्पना नहीं होती वरन् किसी प्राचीन कल्पना का ही नवीनीकरण या रूपान्तर होती हैं । कथानक रूढ़ियाँ कवि को अपने काव्य को गति देने में सहायक होती है ।

कवि-समय का आशय कवियों द्वारा प्रयुक्त ऐसी मान्यताओं से है जिनका प्रयोग कवि अपने काव्य में मधुर कल्पना द्वारा अर्थ के चारुत्व के लिए करता है । वर्णन, काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कवि शिक्षा-प्रकरण से ही सम्बन्धित है । कवियों ने अपने काव्य को गति देने के लिए जहाँ आवश्यक समझा इन वर्णनों का सहारा लिया । कवि अभिव्यक्ति कौशल के सन्दर्भ में अपने को भारतीय काव्य-शास्त्र की वर्णनगत परिपाटियों से जोड़े हुए हैं ।

रस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस के शास्त्रीय स्वरूप के साथ-साथ भक्तिरस

के काव्य-शास्त्रीय पक्ष पर भी विचार किया गया है । भक्ति रस के काव्यशास्त्रीय पक्ष पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत आचार्यों में भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के किसी भी आचार्य ने भक्तिरस को विशेष मान्यता नहीं प्रदान की थी । काव्यशास्त्रीय परम्परा में भक्तिरस का सूत्रपात हम भरत के शान्त रस के रूप में ही देख सकते हैं । भरत के पश्चात् अनेक आचार्यों ने भक्तिरस का विवेचन किया किन्तु इसका सबसे विशद् और व्यापक विवेचन रूप गोस्वामी ने अपनी पुस्तक हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु में किया । इस अध्याय में काव्यरस और भक्तिरस के शास्त्रीय स्वरूप की व्याख्या के साथ-साथ भक्तिकाव्य में अभिव्यक्त भक्तिरस और काव्यरस दोनों को अलग-अलग भी व्याख्यायित किया गया है ।

भक्तिकाव्य का प्रचार एवं प्रसार समस्त भारत में निरन्तर होता रहा है, समय के परिवर्तन के साथ-साथ यही भक्तिधारा आगे चलकर निर्गुण एवं सगुण दो भागों में विभक्त हो गई । निर्गुण भक्ति में राम को अवतार रूप में नहीं माना गया परन्तु सगुण भक्ति में राम को विष्णु के साक्षात्अवतार के रूप में स्वीकार किया गया । रामभक्ति की विचारधारा ने वैष्णव धर्म का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया, ज्ञान एवं कर्म की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्ता दी । सूर ने कृष्ण का लोकरंजनकारी रूप ही नहीं लोकरक्षक रूप भी अत्यन्त महत्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया तथा कृष्ण के लावण्यमय शरीर की प्रतीति कराते हुए उनकी बाल-लीला तथा यौवन लीलाओं का सुन्दर गान किया । तुलसीदास का रस सिद्धान्त मूलत: भक्तिरस से सम्बद्ध है उन्होंने नव रसों का वर्णन किया है । काव्यशास्त्री परम्परा के नौ रसों के साथ उन्होंने भक्तिरस का भी उल्लेख किया है । भक्तिरस को उन्होंने काव्य के अंगीरस के रूप में व्यक्त किया है । सूरसागर पूर्णत: भक्तिरस का एक भाव प्रबन्ध परिलक्षित होता है । इसमें भाव विकास का एक सुनियोजित क्रम दृष्टिगोचर हुआ है । कृष्ण भक्तिधारा के कवियों ने अपने काव्य में भक्तिरस को तो प्रमुखता दी ही है साथ ही साथ अन्य रसों की भी चर्चा की है परन्तु नन्ददास इसका अपवाद हैं, उन्होंने स्वतन्त्ररूप से रससंख्या का वर्णन करने का प्रयत्न किया है । निर्गुण भक्ति-धारा के कवियों ने यद्यपि रस का वर्णन नहीं किया तथापि उनके काव्य में

के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया और अपने काव्य को प्रतीकों के माध्यम से मार्मिक और प्रभावोत्पादक बनाया है।

मध्यकालीन काव्यभाषा में ब्रजभाषा पर आधारित काव्य-भाषा सबसे अधिक विकसित हुई। मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों ने ब्रजभाषा का प्रचुरता से प्रयोग किया है। मध्यकालीन काव्य-भाषा में बदलते हुए आधारों के बावजूद उसमें कोई विलक्षणता नहीं आई। मानस का आधार अवधी है और सूरसागर का ब्रजभाषा परन्तु काव्य के स्तर पर दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मध्यकालीन काव्यभाषा में विशेषतः कृष्णभक्त कवियों ने भाषा में अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग विशेष रुचि के साथ किया है। इन कवियों ने काव्य में सादृश्य-विधान पर विशेष बल दिया है साथ ही प्रतीक विधान, कल्पना विधान और रूप विधान का भी प्रयोग किया है। जायसी ने अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा जायसी को अपने भावों को उत्कर्षता प्रदान करने में सफलता मिली है। सादृश्य विधान के साथ-साथ उन्होंने कल्पना विधान, रूपक विधान, और प्रतीक-विधान आदि का भी प्रयोग किया है।

प्रतीक और बिम्ब काव्य भाषा की निर्माण प्रक्रिया के विशिष्ट तत्व हैं। प्रतीक और बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी वाचिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं। काव्यभाषा अभिव्यक्ति के नए आयामों की खोज में निरन्तर प्रवृत्त रहती है। काव्य भाषा को सर्जनात्मकता प्रदान करने में बिम्बों का विशेष योगदान है, प्रतीक और बिम्ब ये दो काव्य-भाषा के अति आवश्यक तत्व हैं।

सहायक ग्रन्थ सूची

आधार एवं सहायक ग्रन्थ-सूची

आधार ग्रन्थ

१- कबीर ग्रन्थावली - डा० पारसनाथ तिवारी,
प्रकाशक - हिन्दी परिषद्,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

२- दादूदयाल ग्रन्थावली - परशुराम चतुर्वेदी
प्रकाशक - नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
प्रथम संस्करण

३- सुन्दर ग्रन्थावली - सुन्दरदास जी,
सम्पादक- पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा
प्रकाशक - रघुनाथ प्रसाद सिंहानिया

४- सूरसागर - प्रकाशक- काशी नागरी प्रचारिणी सभा,
मुद्रक - नागरी मुद्रालय, काशी,
प्रथम संस्करण

५- सूरसागर - प्रकाशक - काशी नागरी प्रचारिणी सभा
मुद्रक - नागरी मुद्रालय, काशी,
प्रथम संस्करण

६- नन्ददास ग्रन्थावली - ब्रजरत्नदास,
प्रकाशक - काशी नागरी प्रचारिणी सभा,
प्रथम संस्करण

७- मधुमालती - माता प्रसाद गुप्त,
प्रकाशक- मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद
राजसंस्करण ।

८- जायसी ग्रन्थावली - रामचन्द्र शुक्ल,
प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी,
पंचम संस्करण

९- सुन्दर विलास - बेलवेडिर प्रेस, प्रयाग

१०- रामचरितमानस - तुलसीदास
टीकाकार : हनुमानप्रसाद पोद्दार
मुद्रक तथा प्रकाशक : मोतीलाल जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

११- कवितावली - तुलसीदास
अनुवादक : इन्द्रदेव नारायण
प्रकाशक : मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

१२- गीतावली - तुलसीदास,
अनुवादक : गोविन्द भवन कार्यालय
गीताप्रेस, गोरखपुर

१३- दोहावली - तुलसीदास
प्रकाशक : गोविन्द भवन कार्यालय
गीताप्रेस, गोरखपुर

१४- विनयपत्रिका - तुलसीदास,
प्रकाशक : मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

१५- जानकी मंगल - गोस्वामी तुलसीदास,
प्रकाशक : मोतीलाल जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर
ग्यारहवां संस्करण

१६- पार्वती मंगल - गो० तुलसीदास
प्रकाशक : मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर
तेरहवां संस्करण

१७- बरवै रामायण - गो० तुलसीदास
अनुवादक- सुदर्शन सिंह,
प्रकाशक - मोतीलाल जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

१८- कविप्रिया - केशवदास
श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी - टीकाकार,
प्रकाशक - मातृ-भाषा-मन्दिर,
दारागंज, प्रयाग
प्रथम संस्करण

१९- हिन्दी साहित्य का इतिहास- पं० रामचन्द्र शुक्ल,
प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

ख०- सहायक ग्रन्थ :

२०- सूर की काव्य कला - डा० शम्भूनाथ पाण्डेय,
प्रकाशक - सरस्वती संवाद, मोती कटरा, आगरा
प्रथम संस्करण

२१- सूर की काव्य कला - मनमोहन गौतम
भारतीय साहित्य मन्दिर,
फव्वारा दिल्ली द्वारा प्रकाशित

२२- सूर काव्य की आलोचना - डा० हरवंश लाल शर्मा,
प्रकाशक : भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

२३- सूर की गोपिका - एक मनोवैज्ञानिक विवेचन
प्रकाशक : स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण

२४- सूर साहित्य और सिद्धान्त - यज्ञदत्त
प्रकाशक : रामलालपुरी,
आत्माराम एण्ड सन्स,
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६
मुद्रक : हकूमत लाल,
विश्वभारती प्रेस, दिल्ली

२५- सूरसागर सटीक (भाग-प्रथम) - संपादक तथा अनुवादक
डा० हरदेव बाहरी - डा० राजेन्द्र कुमार

२६- सूरसागर सटीक (भाग-द्वितीय) - संपादक तथा अनुवाद
डा० हरदेव बाहरी - डा० राजेन्द्र कुमार

२७- अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (भाग-प्रथम, द्वितीय) - डा० दीनदयालु गुप्त
प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मुद्रक : भार्गव -प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

२८- ब्रज भाषा के कृष्ण भक्तिकाव्य में अभिव्यंजना शिल्प - सावित्री सिन्हा,
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
प्रथम संस्करण

२९- सूर की भक्तिभावना - वेद प्रकाश शास्त्री,
प्रकाशक : सन्मार्ग प्रकाशन,
१६ यू० बी० बैंग्लो रोड,
दिल्ली-११०००७
मुद्रक : अरुण कम्पोजिंग एजेन्सी,
डी० १०२, दिल्ली - प्रथम संस्करण ।

३०- महाकवि सूरदास - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी,
प्रकाशक : रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स,
कश्मीरी गेट, दिल्ली
मुद्रक : श्याम कुमार गर्ग,
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

३१- काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन - डा० शोभाकान्त मिश्र, प्रथम संस्करण
प्रकाशक : बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
सम्मेलन भवन, कदम कुआं, पटना-३

३२- काव्य में अप्रस्तुत योजना - रामदहिन मिश्र
प्रकाशक : ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना
प्रथम संस्करण

३३- महाकाव्य काव्य का स्वरूप विकास - डा० शम्भुनाथ सिंह,
प्रकाशक - ओमप्रकाश बेरी,
प्रथम संस्करण

३४- नन्ददास - रमेश कुमार खट्टर,
प्रकाशक - जगदीश भारद्वाज,
सामयिक प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण

३५- नन्ददास-विचारक, रसिक, कथाकार- - डा० रूपनारायण
प्रकाशक - ओमप्रकाश, राधाकृष्ण प्रकाशन
प्रथम संस्करण

३६- जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन - गोविन्द त्रिगुणायत,
प्रकाशन - अशोक प्रकाशन, दिल्ली,
प्रथम संस्करण

३७- जायसी एक विवेचन - देशराज भाटी
प्रकाशक - हिन्दी साहित्य संसार,
प्रथम संस्करण

३८- सूफी काव्य-परम्परा - डा० सरला शुक्ल,
प्रकाशक - कलाकार प्रकाशन,
बादशाह नगर, लखनऊ
प्रथम संस्करण

३९- सूफीमत और हिन्दी साहित्य - विमल कुमार जैन
प्रकाशक - आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

४०- जायसी साहित्य और सिद्धान्त - यज्ञदत्त शर्मा,
प्रकाशक : रामलाल पुरी आत्माराम एण्ड सन्स,

४१- तसव्वुफ और सूफीमत - चन्द्रबली पाण्डेय,
प्रकाशक : सरस्वती मन्दिर जतनबर, बनारस

४२- सूफी कवि जायसी का प्रेम निरूपण - निजामुद्दीन अंसारी,
प्रकाशक - पुस्तक संस्थान कानपुर,
प्रथम संस्करण

४३- हिन्दी सूफी कवि और काव्य - डा० सरला शुक्ला,
प्रकाशक - लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

४४- कबीर की विचारधारा - गोविन्द त्रिगुणायत,
प्रकाशक- साहित्य निकेतन, कानपुर
प्रथम संस्करण

४५- कबीर - रामकुमार वर्मा,
प्रकाशक - साहित्य भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद

४६- कबीर और उनका काव्य - भोलानाथ तिवारी,
प्रकाशक- राजकमल प्राइवेट लिमिटेड,
प्रथम संस्करण

४७- कबीर,कृतित्व एवं सिद्धान्त- डा० सरनाम सिंह शर्मा,
प्रकाशक- भारतीय शोध संस्थान
गान्धी शिक्षण-समिति, गुलाबपुरा,प्रथम संस्करण

४८- मध्यकालीन हिन्दी सन्त - विचार और साधना- केशनी प्रसाद चौरसिया
प्रकाशक - हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण

४९- रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन - गणपतिचन्द्र गुप्त
प्रकाशक - नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दरयागंज, दिल्ली,
प्रथम संस्करण

५०- प्रगति और परम्परा - डा० राम विलास
प्रकाशक - किताब महल, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण

५१- कृष्ण काव्य में लीला वर्णन - जगदीश भारद्वाज,
प्रकाशन, निर्मल कीर्ति प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण

५२- प्रकृति और काव्य - डा० रघुवंश,
प्रकाशक - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
द्वितीय संस्करण

५३- हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास - जितेन्द्र नाथ पाठक,
प्रकाशक - विभू प्रकाशन, साहिबाबाद,
प्रथम संस्करण

५४- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
प्रकाशक- नागरी प्रचारिणी सभा,काशी

५५- हिन्दी साहित्य का आदिकाल - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी,
प्रकाशक - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,
सम्मेलन भवन, पटना - ३
प्रथम संस्करण

५६- काव्य में अप्रस्तुत योजना - प० रामदहिन मिश्र
प्रकाशक - ग्रन्थ माला कार्यालय, पटना
प्रथम संस्करण

५७- हिन्दी साहित्य की भूमिका- - हजारीप्रसाद द्विवेदी,
प्रकाशक - हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,
बम्बई, प्रथम संस्करण

५८- रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र - निर्मला जैन,
प्रकाशक- नेशनल पब्लिसिंह हाउस,चन्द्रलोक,
जवाहर नगर, दिल्ली
प्रथम संस्करण ।

५९- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र
प्रकाशक - नेशनल पब्लिसिंग हाउस,
चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली

६०- रस सिद्धान्त का स्वरूप विश्लेषण - आनन्द प्रकाश दीक्षित,
प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

६१- हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य, काव्यादर्श- तथा काव्य सिद्धान्त - डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह
प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन,
प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
प्रथम संस्करण

६२- हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना - डा० प्रेम स्वरूप
प्रकाशक- नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
प्रथम संस्करण

६३- रस संख्या का काव्यशास्त्रीय अध्ययन - सुन्दरलाल कथूरिया
प्रकाशक - हीरालाल द्विवेदी,
पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण

६४- साहित्य समीक्षा - कन्हैयालाल पोद्दार,
प्रकाशक - जगन्नाथप्रसाद शर्मा,
कुंजी वाली गली, मथुरा

६५- १६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि - रत्ना कुमारी,
प्रकाशक - भारती साहित्य मंदिर,
फव्वारा, दिल्ली

६६- रस मीमांसा - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
प्रकाशक - नागरी प्रचारिणी सभा,
काशी, चतुर्थ संस्करण

६७- मध्यकालीन धर्म साधना - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी,
प्रकाशक - साहित्य भवन,
प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण ।

६८- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा० रामकुमार वर्मा,
प्रकाशक- रामनारायणलाल, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण

६९- अष्टछाप परिचय - प्रभुदयाल मीतल,
प्रकाशक- अग्रवाल प्रेस, मथुरा

७०- हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्व - डा० रवीन्द्र भ्रमर,
प्रकाशक- भारतीय साहित्य मंदिर,
दिल्ली, प्रथम संस्करण

७१- मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा - रामस्वरूप चतुर्वेदी,
लोक भारती प्रकाशन,
महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण

७२- सर्जन और भाषिक संरचना - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,
लोकभारती प्रकाशन,
महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण

७३- मध्यकालीन बोध का स्वरूप - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,
प्रकाशक- पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़,
प्रथम संस्करण

७४- हिन्दी साहित्य कोश - डा० धीरेन्द्र वर्मा,
प्रकाशक- ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी, सं० २०२०

७५- मानक हिन्दी कोश - रामचन्द्र वर्मा,
प्रथम भाग,
प्रथम संस्करण

७६- जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त - श्री लक्ष्मी नारायण सुधांशु, प्रकाशक - युगान्तर साहित्य मंदिर, भागलपुर

७७- तुलसी का मानस - डा० मुंशीराम शर्मा, प्रकाशक : ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर मुद्रक : आराधना प्रेस, कानपुर

७८- तुलसी और उनका साहित्य - डा० विमल कुमार जैन, प्रकाशक- साहित्य सदन, देहरादून मुद्रक - हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली

७९- तुलसी-काव्य-दर्शन - डा० रामलाल सिंह, प्रकाशक- लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण

८०- तुलसी की साधना - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्रकाशन - लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद प्रथम संस्करण

८१- रामचरितमानस में अलंकार योजना - डा० वचन देव, प्रकाशक- हिन्दी साहित्य संसार, पटना प्रथम संस्करण

८२- तुलसी और उनका काव्य - पं० रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक - राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली संशोधित व परिवर्धित संस्करण

८३- तुलसी - राममूर्ति त्रिपाठी,
प्रकाशन - लोक भारती प्रकाशन,इलाहाबाद
प्रथम संस्करण

८४- तुलसी और उनका युग - डा० राजपति दीक्षित
प्रकाशक - ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस
प्रथम संस्करण

८५- तुलसी-काव्य-मीमांसा - डा० उदयभानु सिंह,
प्रकाशक - ओम प्रकाश,
राधाकृष्ण प्रकाशन, रूपनगर नई दिल्ली,
छात्र संस्करण

८६- तुलसीदास - चन्द्रबली पाण्डेय,
प्रकाशक - नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी

८७- हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव - डा० शशि अग्रवाल,
प्रकाशक - हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

८८- तुलसी का लोक -मंगलकारी दृष्टिकोण - डा० श्यामकुमारी श्रीवास्तव,
प्रकाशक : कृति केन्द्र प्रकाशन,
प्रथम संस्करण
मुद्रक : पन्नालाल सोनकर,
राष्ट्रीय मुद्रणालय, इलाहाबाद

८९- चिन्तामणि - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भाग द्वितीय,
सरस्वती मंदिर, काशी

९०- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका- डा० नगेन्द्र
प्रकाशक - ओरियंटल बुक डिपो, दिल्ली ।

६१- भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा - डा० नगेन्द्र,
प्रकाशक - नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली

६२- पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा - डा० सावित्री सिन्हा,
प्रकाशक- हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
दूसरा संस्करण
मुद्रक : युनिवर्सिटी प्रेस,
दिल्ली युनिवर्सिटी, दिल्ली

६३- पश्चिमी आलोचना शास्त्र - डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,
हिन्दी समिति, सूचना विभाग,
उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण
मुद्रक : वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद

६४- पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - डा० विजय बहादुर सिंह,
प्रकाशक - कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर
प्रथम संस्करण

६५- रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन - डा० ओम प्रकाश शर्मा,
प्रकाशक : हिन्दी साहित्य संसार,
दिल्ली, प्रथम संस्करण

संस्कृत ग्रन्थ

९६- काव्य मीमांसा - राजशेखर,
पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत
प्रकाशक - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद
सम्मेलन भवन, पटना,
प्रथम संस्करण

९७- कविसमय-मीमांसा - विष्णुस्वरूप
प्रकाशक- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी

९८- काव्य कल्पद्रुम - से० कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा
प्रकाशक - जगन्नाथ प्रसाद शर्मा,
चूड़ी वालों का मकान, मथुरा

९९- हिन्दी नाट्यदर्पण - प्रकाशक : हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रथम संस्करण ।

१००- हिन्दी अभिनव भारती - प्रकाशक : हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रथम संस्करण

१०१- श्रीमद्भगवद्गीता - व्याख्याकार- जयदयाल गोयन्दका
प्रकाशक - मोती लाल जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

१०२- नाट्यशास्त्र - भरतमुनि
व्याख्याकार :
प्रकाशक :ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा

१०३- अग्निपुराण - पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
द्वितीय भाग

१०४- काव्यालंकार सूत्रवृत्ति - वामन
व्याख्याकार : विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि
प्रकाशक - आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

१०५- काव्य प्रकाश - मम्मट,
व्याख्याकार : डा० सत्यव्रतसिंह
प्रकाशक - चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस

१०६- कामसूत्र - वात्स्यायन
महर्षि वात्स्यायन कृत
अनुवादक - कविराज विपिनचन्द्र बन्धु
प्रकाशक - देवराज वर्मा, किरण पब्लिकेशन, नई दिल्ली ।
चतुर्थ संस्करण ।

१०७- काव्यादर्श - दण्डी,
व्याख्याकार : श्रीरामचन्द्र मिश्र
प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी

१०८- काव्यलंकार - भामह,
व्याख्याकार : देवेन्द्रनाथ शर्मा,
प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

१०९- काव्यालंकार - रुद्रट
व्याख्याकार : सत्यदेव चौधरी
प्रकाशक - वासुदेव प्रकाशन,
माडल टाउन, दिल्ली
प्रथम संस्करण

११०- साहित्यदर्पण - विश्वनाथ कविराज,
व्याख्याकार : डा० सत्यव्रत सिंह,
प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन,
चौक, वाराणसी

१११- रसगंगाधर - पण्डितराज श्री जगन्नाथ विरचित
व्याख्याकार : पण्डित बदरीनाथ झा
प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन,
चौक, वाराणसी

११२- ऋग्वेद - महर्षि दयानन्द सरस्वती
ऋग्वेद भाषा भाष्य संपूर्ण, प्रथम भाग
प्रकाशक - पंडिता राकेशरानी, प्रधानमंत्री
दयानन्द संस्थान,
१५६७, हरध्यान सिंह रोड, नई दिल्ली

११३- नारदीय भक्तिदर्शन - देवर्षि नारद-रचित भक्तिसूत्र,
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती,
प्रकाशक - ब्र० प्रेमानन्द `बाबा`
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट `विपुल.`
मालाबार हिल, बम्बई,
प्रथम संस्करण

११४- उज्ज्वलनील मणि - रूप गोस्वामी,
द्वितीय सं० १६३२ ई०
प्रकाशक - निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

११५- भक्तिरसायन - श्री माधवशास्त्रि दातारा:
प्रकाशक - साहित्यप्रकाशन ट्रस्ट,
मालाबार हिल, बम्बई,
प्रथम संस्करण

११६- हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु - प्रधान सम्पादक - डा० नगेन्द्र
सम्पादक - डा० विजयेन्द्र स्नातक
प्रकाशक - हिन्दी विभाग.
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रथम संस्करण

११७- अमरकोष - श्री पं० हरगोविन्द शास्त्रिण
प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत सिरीज,
आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण

११८- दुर्गासप्तशती - अनुवादक - पाण्डेय पं० रामनारायणदत्त
शास्त्री राम
प्रकाशक : मोतीलाल जालान, गीताप्रेस,
गोरखपुर, सत्तावनवां -संस्करण ।

११९- साहित्य दर्पण - विश्वनाथ कविराज,
व्याख्याकार - डा० सत्यव्रत सिंह,
प्रकाशन- चौखम्बा विद्याभवन चौक,
वाराणसी

१२०- वाल्मीकि रामायण - सम्पादक - श्री श्रीपद दामोदर सातवेलकर
प्रकाशक - वसन्त श्रीपद सातवलेकर
स्वाध्याय मंडल- आनन्दाश्रम, पारडी

अंग्रेजी ग्रन्थ एवं शोध प्रबन्ध

१२१- जायसी साहित्य मेंअप्रस्तुत योजना - डा० विद्याधर
शोध-प्रबन्ध

१२२- सूरसागर में अप्रस्तुत योजना - बेनी बहादुर सिंह
शोधप्रबन्ध

१२३- आन दि आर्ट आफ पोयट्री - हौरेस
टी० एस० डोर्स (अनु०)
क्लासिकल लिटररी क्रिटिसिज्म
(पैंग्विन बुक्स, १९६५)

124. What is classic - T.S. Eliot
Faber and Faber limited
24 Russell Square,
London.

125. BHOJ'A SRNGARA PRAKASA - Dr. V. Raghavain
Third Revised Enlarged Edition
'PUNARVASU'
Printed in India-At the vasanta Press
The Theosophical socitey,
Adyar, Madras

126. The Number of Rasas - Dr. V. Raghavan
Printed by -c. Subbarayudu
At the Vasanta Press
ADYAR, MADRAS.